॥ ओ३म् ॥

स्वोपज्ञानन्तवृत्ति-विराजितम्

सत्याग्रह-नीति-काव्यम्

राष्ट्रभाषानूदितञ्च



श्री पं० सत्यदेवो वासिष्ठो भिषक्केसरी
अनेकशास्त्रपारावारीण:

ॐ परब्रह्मणे नमः

सत्याग्रह-नीतिकाव्यम्

स्वोपज्ञानन्ताभिध-वृत्ति-विराजितं राष्ट्रभाषाऽनुवादविभूषितञ्च

प्रणेता—

लवपुर-दिल्ली-भिवानीस्थ-सनातनधर्मायुर्वेद-महाविद्यालयस्य
भूतपूर्व-प्रधानाध्यापकः, गुरुकुलझज्झरस्थायुर्वेदविभागस्य
भूतपूर्वाध्यक्षः, सामस्वरभास्करः, वेद-व्याकरण-निरुक्त-
छन्दः-साहित्य-ज्योतिषायुर्वेदाद्यनेकशास्त्र-पारावारीणः,
'नाडीतत्त्व-दर्शन'-महानिबन्ध-प्रणेता,
(तत्र शंकरदाजीपदे ५०० पञ्चशतरूप्यकाणां लब्धपारितोषकः)
'विष्णुसहस्रनाम'-स्तोत्रस्य वैदिक-दर्शनान्वित-सत्यभाष्य-निबद्धा

श्री १०८ पं० सत्यदेववासिष्ठः, भिषक्केसरी

सम्पादको राष्ट्रभाषानुवादकश्च—

पं० रुद्रदेव त्रिपाठी, साहित्य-साङ्ख्ययोगदर्शनाचार्यः
काव्य-पुराणतीर्थः, संस्कृत-हिन्दी-साहित्यरत्नः साहित्यालङ्कारश्च

प्रकाशकः—

मन्त्री—रामलाल कपूर ट्रस्ट,
बहालगढ़ (सोनीपत–हरयाणा)

द्वितीयावर्तनम्
वि० सं० २०२९
मूल्यम्—५–००

मुद्रकः—
सुरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस,
बहालगढ़ (सोनीपत)

To

The Principals of all colleges
in the State.
Memo. No. 2223-3/10-60-B

Dated, Chandigarh the 23rd March, 1960.

Sub:–Publications brought to the notice of college Libraries in the State.

The Sanskrit publication "Satyagrah Niti-Kavyam" (with Hindi translation) by Pt. Satya Deva Vasishtha Prafessor, Mahavidyalaya Gurukul, Jhajjar, (Rohtak) is hereby brought to your notice and recommended for purchase for college Libraries.

The publications isc ouched in chaste, delightful and easy Sanskrit and written in a variety of metres. In shows that Sanskrit continue to be a living and progressive language. The auther has dwelt upon the philosophy of Satyagrah, self-discipline and moral living very ably. The text has also been rendered into Hindi for those who do not know Sanskrit. The author and the Editor Pt. Rudra Deva Tripati Shastri –have provided a real feast to the discerning. The publication deserves to be widely patronized and placed in every college-library.

The price per copy is Rs 2-50 and the book can be had direct from the Author at Gurukul, Jhajjar District Rohtak.

Sd/-
Deputy Director (Schools),
for Director of Public Instructions, Punjab.

Endt. No. 2223-3/10-60 B,

Copy forwarded to Shri Satya Deva Incharge, Ayurved Mahavidyalaya, Jhajjar, District Rohtak for information with reference to his letter dated 27-2-1960.

Sd/-
Deputy Director (Schools),
for Director of Public Instructions, Punjab.

To

The Inspectors/Inspectresses of Schools in the State.

Memo. N. 2223-3/10-60-B.

Dat ed Chandigarh the 25.8.1960.

Sub:–Publications brought to the notice of college/ school libraries in the State.

The Sanskrit publications "Satyagrah Nitikavyam" (with Hindi translation) by Pt. Satya Deva Vasishtha Professor, Mahavidhyalaya Gurukul, Jhajjar (Rohtak) which is already approved for the college Libraries, is hereby brought to your notice and recommended for purchase for libraries of Higher Secondary Schools in the State.

The publication is couched in chaste, delightful and easy sanskrit and written in a Variety of metres. It shows that Sanskrit continues to be a living and progressive language. The author has dwelt upon the philosophy of Satyagrah, self discipline and moral living very ably. The text has also been rendered into Hindi for those who do not know Sanskrit. The author and the editor Pt. Rudra Deva Tripati Shastri have provided a real feast to the discerning. The publication deserves to be widely patronized and placed in every college/Higher Secondary Library.

The price per copy is Rs. 2.50 and the book can be had direct from the Author at Gurukul, Jhajjar, District Rohtak.

Sd/-
Deputy Director (Schools),
for Director of Public Instructions, Punjab.

Endt. No. 2223-3/10-60-B.

Copy forwarded to Shri Satya Deva Vasishtha, Incharge, Ayurved Mahavidyalaya, Jhajjar, District Rohtak for information with reference to his letter dated 28. 4. 1960.

Sd/-
Deputy Director (School),
for Director of Public Instructions, Punjab.

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्री पं० सत्यदेव जी वासिष्ठ आयुर्वेदाचार्य विरचित **सत्याग्रह-नीति-काव्य** का ग्रन्थकार द्वारा परिष्कृत द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें महती प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। श्री वासिष्ठ जी ने इस संस्करण को प्रकाशित करने के लिये इसका पूरा मुद्रण-व्यय भी रामलाल कपूर ट्रस्ट को देकर विशेष अनुग्रह किया है।

लेखक के महनीय चरित्र के धनी पिता—श्री वासिष्ठ जी का सतीर्थ्य होने के नाते मेरा आप के परिवार के साथ सन् १९२२ से सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता गया। आपके स्व० पिता श्री पं० **अनन्तराम शर्मा** जी का जो महान् चरित्र मैंने प्रत्यक्षत: देखा, उसके अनुसार मैं कह सकता हूं कि **'सम्पत्तौ विपत्तौ च महतामेकरूपता'** का जैसा साक्षात् दर्शन पाया,वैसा मुझे इस जीवन में देखने में अन्यत्र नहीं मिला। आपके जीवन में विविध उतार चढ़ाव आये। वह प्रारम्भिक स्थिति भी देखी थी, जब लक्ष्मी की आप पर कृपा थी। और वह भी स्थिति देखी जब चंचला लक्ष्मी आप से रूठ कर नाता तोड़ गई। इतना ही नहीं, आर्थिक स्थिति के विषम हो जाने के साथ ही आपकी आंखों की ज्योति भी सदा के लिये चली गई। परन्तु आपको मैंने प्रत्येक अवस्था में एक ब्रह्मवेत्ता तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति के समान जीवन-निर्वाह करते हुए देखा। मिथिला के विदेह जनक के शब्दों में **'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किंचन'** के समान आपके चेहरे पर मैंने कभी भी विषाद की अतिक्षीण रेखा भी नहीं देखी।

ऐसे देवदुर्लभ महनीय चरित्र के धनी पिता के गुणों का पुत्र पर आनुवंशिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। श्री वासिष्ठ जी के महनीय पिता जी ने जिस महती आकाङ्क्षा से अपने पुत्र को सच्चरित्र विद्वान् ब्राह्मण बनाने के लिये सन् १९२२ में **वीतराग श्रद्धेय स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज** के द्वारा गण्डासिहवाला अमृतसर में स्थापित विरजानन्द आश्रम में स्व० पूज्य गुरुवर्य श्री पं० **ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु** के चरणों में समर्पित किया, उसी के अनुरूप श्री वासिष्ठ जी ने श्री पूज्य गुरुवर्य की छत्र-छाया में रहकर निरन्तर १२-१३ वर्ष अध्ययन करके अपने को योग्य पिता का योग्य पुत्र कहलाने योग्य बनाया। जिसको अपने आद्य जीवन में ज्ञान का एक बार चस्का लग जाता है, वह जीवन भर के लिये चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, सच्चे रूप में

विद्यार्थी बन जाता है। यही अवस्था हमारे वासिष्ठ जी की है। आप इस सुदीर्घकाल के विद्याध्ययन के पीछे भी विद्यार्थी बने रहे, और अभी भी हैं। उसी का फल यह हुआ कि आपने शिक्षा व्याकरण निरुक्त आदि शास्त्रों का अध्ययन करके वेद ज्योतिष आयुर्वेद संगीत प्रभृति अनेक विषयों में दक्षता प्राप्त की।

विद्यार्थी का जीवन अत्यन्त कष्टसाध्य होता है। शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है—'सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्'। आपने किन विषम परिस्थितियों में आयुर्वेद प्रभृति शास्त्रों का अध्ययन किया, यह या तो वे ही जानते हैं, या प्रत्यक्षद्रष्टा होने से मुझे उसका कुछ आभास है।

संस्कृतभाषा में काव्य रचने की प्रेरणा—आपके पिता किस प्रकार अपने पुत्र की प्रवृत्तियों पर ध्यान रखते थे, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण यह है कि एक बार वासिष्ठ जी ने पञ्जाबी में स्वनिर्मित कविता अपने पिता जी को सुनाई (सम्भवतः यह घटना सन् १९३७ की है)। पितृश्री ने उक्त कविता सुनकर बड़े मार्मिक शब्दों में अपने पुत्र से कहा—'काका तैनूं इन्ने वर्ष संस्कृत इसी वास्ते पढ़ाई, कि तू म्लेच्छ भाखा में कविता करें'। बस इस बात को सुनकर श्री वासिष्ठ जी की सहज कवित्व शक्ति देववाणी की ओर मुखरित हो गई। और उसका प्रथम सुमन 'सत्याग्रह-नीति-काव्य' के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

संघर्षमय जीवन—अध्ययनकाल के पश्चात् भी श्री वासिष्ठ जी को विविध कठिनाइयों से निरन्तर जूझना पड़ा। परन्तु आप अपने पिता के तुल्य ही सभी परिस्थितियों में एकरूप रहकर निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते गये। अध्ययन एवं 'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' आप्त वचनानुसार चिकित्सा-कार्य में व्यापृत रहते हुए अपने महनीय परिश्रम से सुरभारती-संस्कृतभाषा के भण्डार की श्रीवृद्धि करने का आपने जो साहस-पूर्ण कार्य किया है, वह सदा ही स्मरणीय रहेगा। आपने अभी तक निम्न ग्रन्थ लिखे, और विना किसी अन्य व्यक्ति की सहायता के स्वयं छपवा कर प्रकाशित किये हैं—

१—सत्याग्रह-नीति-काव्य—यह महनीय ग्रन्थ आपने हैदराबाद (दक्षिण) के सत्याग्रह के समय कारागार में रहकर लिखा है। इसमें कवि ने जो कुछ भी वृत्त निबद्ध किया है, वह स्वानुभूत होने के कारण अत्यन्त स्वाभाविक है। इसके सम्बन्ध में विशेष ज्ञान इस ग्रन्थ के अध्ययन से स्वयं हो जायेगा।

२–नाड़ी-तत्त्व-दर्शन—आयुर्वेदिक चिकित्सा में रोग-परीक्षार्थ नाड़ी-ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु आजकल जिस भांति आयुर्वेद का पाठन-पठन होता है, उससे छात्रों को नाड़ी-ज्ञान भले प्रकार नहीं होता। श्री वासिष्ठ जी ने अपने आयुर्वेद के गुरु स्व० वैद्यवर श्री नाथूराम जी मौद्गल्य से जहां चिकित्सा-शास्त्र-विषयक गूढ़ तत्वों को प्राप्त किया, वहां नाड़ी-ज्ञान का भी सूक्ष्म तत्व अधिगत किया, और उसे आगे स्वयं विकसित किया। गुरुजनों से उपलब्ध एवं स्वयं विकसित नाड़ी-ज्ञान-विषयक तत्व को दार्शनिक रूप देकर आपने 'नाडीतत्त्व-दर्शनम्' ग्रन्थ संस्कृतभाषा में लिखा और हिन्दी भाषा सहित इसे दो वार प्रकाशित किया। काशी वैद्य-मण्डल के तत्वावधान में नाड़ी विषयक विशिष्ट ज्ञान की प्रत्यक्ष परीक्षा देकर भिषक्केसरी उपाधि एवं ५०० रुपयों का पारितोषिक प्राप्त किया। यह अपने विषय का एकमात्र सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है।

३–विष्णु-सहस्रनाम-स्तोत्र का सत्यभाष्य—महाभारत के अनुशासन-पर्व में निर्दिष्ट 'विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अनेक श्रद्धालु व्यक्ति इसका नित्य पाठ करते हैं। यह महनीय स्तोत्र सांप्रदायिक रंग में रंग दिया जाने के कारण विष्णु के तथाकथित अवतारों के साथ सम्बद्ध हो गया। इससे इसका वास्तविक महत्व नष्ट हो गया। श्री वासिष्ठ जी को इसी स्तोत्र के आरम्भ में पठित ऋषिभिर्बहुधा गीतम् वाक्य में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इस ऋङ्मन्त्र की प्रतिच्छाया देखकर इस स्तोत्र की महनीयता का ज्ञान हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने चिरकाल तक इस स्तोत्र के प्रत्येक पद पर गम्भीर विचार करके २० वर्षों के सतत कठोर परिश्रम से इस स्तोत्र की वेदशास्त्रोपबृंहित अतिविस्तृत आध्यात्मिक एवं आधिदैविक संस्कृतव्याख्या लिखी। इस व्याख्या को राष्ट्रभाषानुवाद-सहित बृहत्काय चार भागों में स्वयं प्रकाशित किया। इसके मुद्रणमात्र में लगभग २५ सहस्र रुपया व्यय हुआ है। अन्य सहस्रों रुपयों का व्यय जो इसके निर्माण में गत २० वर्षों में किया गया, वह इस से पृथक् है।

वासिष्ठ जी की उदारता—आपने इन तीनों पुस्तकों (दो के पुनः प्रकाशन) के मुद्रण पर गत ३-४ वर्षों में लगभग ३५ सहस्र रुपया व्यय किया है। सब पुस्तकों का मुद्रण करके श्री वासिष्ठ जी ने ये सभी पुस्तकें रामलाल कपूर ट्रस्ट को दान कर दीं। आप की इस महनीय उदारता के लिये ट्रस्ट आप का विशेष आभारी है।

—**युधिष्ठिर मीमांसक**

॥ ॐ परब्रह्मणे नमः ॥

स्वोपज्ञं सत्याग्रह-नीतिकाव्यमधिकृत्य

किञ्चिदात्म-निवेदनम्

[1]गङ्गा-तीरमुपाश्रित्य, भ्रान्त्वा देवसरित्तटे ।
सत्त्वोदयाप्त-सत्त्वेन, भूरिधैतत् समीक्षितम् ॥१॥
१—ऋषिकेशे ।

चतुर्दश-समा यावत्, काव्यं विज्ञैरपीक्षितम् ।
वादितं सप्ततारेण, दुःसन्ध्यक्षर-वर्जितम् ॥२॥
अन्तःसंवेद्य-सद्भावैर्दुर्भावैर्मध्यमैश्च वा ।
आबाल-वृद्ध-लोकोऽयं, काव्यं कायति सर्वदा ॥३॥

स्वोपज्ञ सत्याग्रह-नीति-काव्य के सम्बन्ध में कवि का

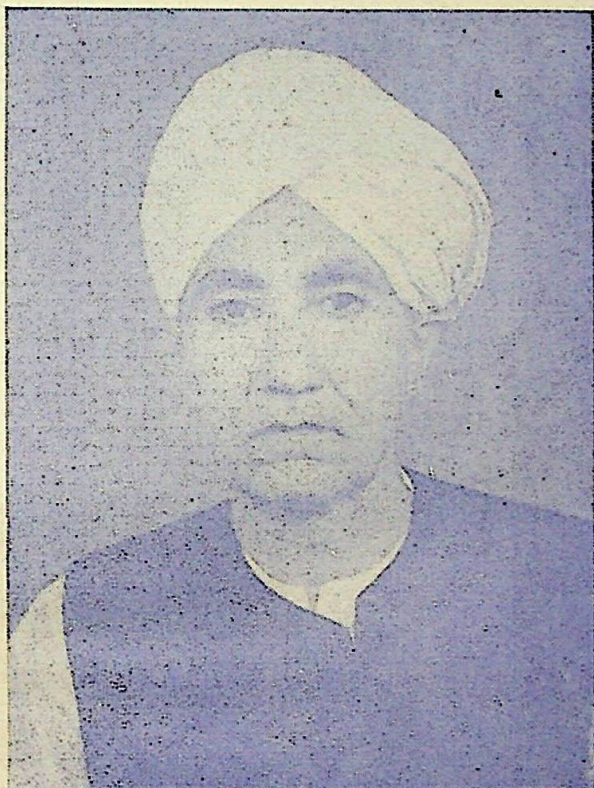
आत्मनिवेदन

गङ्गा के किनारे घूमकर [फिर कुछ काल तक] उसका आश्रय लेकर अर्थात् उसके तटपर ऋषिकेश में निवास करके, उसी के प्रभाव से सत्त्व भाव के उदय से प्राप्त सत्य के द्वारा प्रस्तुत काव्य का अनेकबार समीक्षण किया है ॥१॥

इस काव्य को चौदह वर्ष भिन्न-भिन्न देशों के विद्वानों ने भी पढ़ा है। तथा मैंने दुष्ट-सन्धि और दुष्टाक्षरों से वर्जित इस काव्य को सितार पर बजाया है ॥२॥

कभी अन्तःसंवेदन से उत्पन्न सद्भावों के कारण, कभी दुष्ट विचारों का उभार आ जाने से, एवं कभी समान स्थिति में आबाल वृद्ध यह संसार प्रतिपल कुछ न कुछ काव्य-पंक्तियों को गुनगुनाता रहता है ॥३॥

सत्याग्रह-नीति-काव्यस्य प्रणेता



श्री पं० सत्यदेव-वासिष्ठ आयुर्वेदाचार्यः
देवसदनम्, भिवानी (हरयाणा)

अतस्त्वानन्त्यमापन्नाः, कवीनां वाग्विभूतयः।
एकोऽर्थस्त्वल्प-भेदेन, श्रुतौ गीतं यथाऽसकृत् ॥४॥

क्वचिद् दृश्येत चेत् साम्यं, शब्दे भावे च प्राक्तनैः।
'तत्तथैवानुभूतं नो,' ज्ञेयमत्र मनीषिभिः ॥५॥

न चात्राभिनवं किञ्चिद्,न चैवास्ति पुरातनम्।
उक्ति-वैचित्र्य-सद्योगाद्, नूतनत्वाय कल्पते ॥६॥

तद्यथाऽत्र शतायुष्को, मृत्वा लब्ध्वा नवं वपुः।
अजहन्मानुषं[1] भावं, बालरूपे प्रवर्त्तते ॥७॥

१—अजहत् मानुषमिति सन्धिच्छेदः।

अमुथैवात्र काव्येऽपि, ज्ञेया विज्ञैः प्रयोजना।
कवेः श्रमं कविर्वेत्ति, शेषा दोषगवेषिणः ॥८॥

यही कारण है कि कवियों की वाणीरूप विभूतियां अनन्तता को प्राप्त हो गई हैं। जैसे एक ही अर्थ को वेदों में कहीं छोटे रूप में और कहीं बड़े रूप में वार-वार कहा है। तात्पर्य यह कि जैसे वेदों में एक वात कई वार दोहराई गई है, और उस में किसी को आपत्ति नहीं होती, इसी प्रकार इस काव्य में आये हुए भाव एवं पर कवियों का वचन, वैपरीत्य, पुनरुक्ति पर दोष-दृष्टि न डालें ॥४॥

और कहीं शब्द में अथवा भावों में प्राचीन कवियों का साम्य दृष्टि-गोचर हो, तो उसको 'हमें ऐसा ही अनुभव हुआ है, अर्थात् वेद-संस्कार की दृढ़ता के कारण ही आ गये हैं' ऐसा विद्वज्जनों को समझना चाहिये ॥५॥

इसमें न तो कुछ नवीन ही है. और न कुछ पुरातन ही है। फिर भी उक्ति-वैचित्र्य के कारण नवीन सदृश बन गया है ॥६॥

उदाहरण के लिये जैसे संसार में कोई सौ वर्ष की आयुवाला होकर मृत्यु को प्राप्त होता है, और पुनः जन्म लेकर मानुष-भाव को नहीं छोड़ता हुआ बालस्वरूप को प्राप्त करता है, वैसे ही ये काव्य पंक्तियां पुराने चोले को बदल कर नवीन शरीर को धारण करके विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हो रही हैं। क्यों कि कवि के श्रम को कवि ही जानता है, अन्य तो दोष ढूंढने वाले होते हैं ॥७-८॥

'यथेषोर्विनिपातोऽन्तर्गत्वा मर्माणि विध्यति ।
तथैवाध्येतृ-हृन्मर्म, स्पृशत् स्फूर्जत् प्रबोधयेत् ॥९॥

कवेः काव्यं तदुत्कृष्टं',कवीनां समयो ह्ययम् ।
किंश्रेणीकमिदं काव्यं स्वयं तज्ज्ञैर्विविच्यताम् ॥१०॥

प्रतिसूर्योदयं नीतिर्बिभर्त्यात्म-वपुर्नवम् ।
आकल्पं न विनश्यन्ति, सतां नीतिवचांस्यतः ॥११॥

अव्यये सत्य-सद्रूपे, जगत् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
तस्मान् मनोरमं भूयात्,काव्यं सत्य-नयान्वितम्॥१२॥

कविजनों का यह सिद्धान्त है कि जैसे बाण चलाने के बाद वह हृदय में प्रविष्ट हो मर्मस्थलों को बींध देता है, वैसे ही कविद्वारा रचित जो काव्य पाठकों के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर मर्मस्थल का स्पर्श करता हुआ, और स्फूर्ति प्रदान करता हुआ, अलौकिक आनन्द का सञ्चार करे, वही कवि का उत्कृष्ट काव्य है । इस दृष्टि से मेरा यह काव्य किस कोटि का है, यह स्वयं विद्वज्जन विचार करें ॥९-१०॥

प्रतिदिन सूर्योदय होने के साथ ही नीति अपने नूतन शरीर-स्वरूप को धारण करती है । इसीलिये सत्पुरुषों के नीति-वाक्य कल्पान्त तक नष्ट नहीं होते हैं ॥११॥

कभी नाश को नहीं प्राप्त होनेवाले सत्य के सच्चे स्वरूप में यह सारा जगत् स्थित है । इसलिये यह सत्य की नीति से युक्त, अथवा सत्य और नीति से युक्त मेरा काव्य सब विज्ञजनों के मानस में रमण करनेवाला होवे ॥१२॥

विदुषां वश्यः—

श्री १०८ सत्यदेवो वासिष्ठः



रम्याणि वीक्ष्य मधुराणि निशम्य !!

——:o:——

अनुभूति-पुरस्करणम्—

अस्ति मानवोऽप्येकः सामाजिक एव प्राणी। समाजे स्वकीयस्य जीवनस्य सत्तारक्षायै तेन सङ्घर्षः क्रियते। सङ्घर्षश्चायं कदाचिद् मानवैः सह कदाचिच्च प्रकृत्या सह भवति। तत्फलस्वरूपञ्च स नानाविधानुभवभाग् भवति। नियतेर्नयनमोहनानि निसर्गसमीचीनानि विचित्राणि चित्राणि तदीयं स्वान्तं सन्ततमुल्लासयन्ति। प्रकृत्या भीषणावहा लीलास्तस्मै भयदायिन्यो भवन्ति। तस्या एव रहस्य-सम्मिश्रिता घटनास्तं विस्मयन्ते। हिंस्राणां पशूनां समजं स्वोपरि पर्याक्रामन्तं विलोक्यात्मनो रक्षाया भावनया तदीयं हृदयं शौर्येणोत्साहेन च प्रपूर्यते।

मानवनिकायस्य सम्पर्के समागमनात् परञ्च सुख-दुःख-हर्ष-शोकादीनामनुभूतयो जायन्ते। एवं सर्वेषामनुभवानां साङ्गत्येन मानव-मानस-सरसि विविधा विचार-वीचि-निचया आन्दोल्यन्ते। साधारणतया वीचयस्ता मनस्येव मनस्युद्भूयोद्भूय दरिद्राणां मनोरथवद्विलीयन्ते[1]। परं यदा मानवः स्वीयानामनुभूतीनां भावनानाञ्चोद्वेल्लित तरङ्ग-भङ्गान् स्वात्मनि संरक्षितुमक्षमो भवति, तदाऽनायासेनैवानेकधा तेषामभिव्यक्ति पुरस्करोति। आत्मनोऽनुभूतीनाञ्च पुरस्करणेन समाजस्य समक्षमुपतिष्ठते। तात्कालिक-वचो-वैचित्र्याणामेवाभिधानं 'साहित्यम्' इति सैद्धान्तिकाः।

---

१. अत एवाह महाकवी राजशेखरः—

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यमन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत् कस्यापि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव॥

समाजस्य दर्पणं साहित्यम्—

पुष्पदन्तौ दिवानिशं नियतकालं यावदालोकदानं प्रदाय नियतिनियन्त्रिताविव विश्राम्यतः। कदाचिच्च तौ वारिदानामावरणेनाक्षमाविव मन्दतामनुविन्देते, तदा जगदिदं कथयति—'अस्तमितौ सूर्याचन्द्रमसौ'इति। एवं दिवाकरनिशाकरयोरपि समतायां सुमहदस्तित्वशालि साहित्यं[1]—'यन्न कदाचिदप्यस्तं गच्छति, नक्तन्दिनं प्रकाशते। वारिवारिद-वात्याविप्लवैर्न वेपते'। तद्—अजरामर-निर्मल-निश्छल-निरर्गलतरं सकलस्य जगतः शिरोराजिराजितमस्तीति निश्चप्रचम्। किञ्चात एव जगति प्रसिद्धं यत् 'साहित्यं नाम समग्रायां संसृतौ सामर्थ्यस्य सीमन्तमणिः, स्वातन्त्र्यस्य सरणिः, सामाजिकतायाः सोपानं, सिद्धेः सभ्यतायाश्च सर्वस्वम्'इति।

अथ मानवोऽप्यस्ति समाजस्यैवैकमङ्गम्। साहित्यस्य मूलस्रोतश्च भवति जीवनं मनुजस्य। अतस्ततो दूरीभूय स यत्करोति तदनपेक्षितमेव सिद्ध्यति समाजाय। यैश्च केवलं स्वान्तःसुखायैव हि कविताकान्तोपचरितास्वादो विहितस्तैरपि सामाजिक्या परिस्थित्या तु पराङ्मुखता न प्रपेदे। अनिच्छयाऽपि काव्ये समावेशो जात एव तत्तदनुकूलकालिककलनानाम्। तस्मादेवैवं निगदन्ति साहित्यसौहित्यसमालिङ्गिताङ्गाः कविकुलशेखराः 'समाजस्य दर्पणं साहित्यम्' इति।

विश्वभाषाजननी दिव्या देवी देवगवी—

आत्मन उद्गाराणां मिथ आदान-प्रदानं भाषां विनाऽसमञ्जसम्। का भाषा विश्वस्य हृदयेभ्य उपायनीकर्तुं कामेन समाश्रयणीयेति सत्यमेव सुमहान् वितर्कः? तथैवेदमपि सत्यं यद् वेदगवीं विना का नाम द्वितीया वराकी पुरस्तात् समुपतिष्ठेत? आलम्बनमपि तदीय-

---

१. अत्रेदमवधेयम्—

चन्द्रार्कावनिशं प्रकाश्य भुवनं यातोऽस्तशैलं पुनः,
शान्तिं याति कुपीटयोनिरपि किं नो वारिभारार्दितः।
वात्या-वारि-भवान्तरायतिमिरं नालं परं यत्कृते,
साहित्यं सुमहस्तदेव नितरां विद्योतितं मन्महे॥

—हृदयम्

मेव गृहीतव्यं, यतः परं कस्याप्यन्यस्य करालम्बाकांक्षैव नोदयेत। एवं भारती सुरसरस्वती सर्वासां भाषाणामादिमा जननीति सैवामृतायमाना समाश्रयणीया। किञ्च सत्यमेवैतद्यत्—सति चिन्तामणौ क्षुद्रेषु मुक्ताफलेषु लिप्सा, सति सुधानिधौ महभुवि गर्तखननात्क्रमः, स्थितवति कल्पवृक्षे तिन्तिणीतरौ व्यामोहः, प्रत्युपस्थिते पोतरत्ने चिञ्चासमालम्बन-प्रयासश्च कस्य न हास्याय? यच्च देवी देवभाषेयं गतेषु दिवसेषु कैश्चिद् भारत-भारती-भारतीय-भारतीयता-विरोधिभिमृता घोषिता भृशमपमानिता च, किन्त्वमरवाणीयममरैवेति नास्ति संशयावकाशः'।

अथ च परब्रह्मनिःश्वसिताम्नायनिचिता, विचित्र-स्मृतिसमुदायसङ्गता, आदिकाव्यरामायणरसिता, व्यासोदितभारतभूषिता, अगणितगाथाशाल्युपनिषदां प्रतानसन्तानिता, निगमागमसम्मता, व्याधिनिदानचिकित्सा-द्रव्यपरीक्षण-रसविधान-शस्त्रक्रियादिभिरायुर्वेदविद्योतिता, धनुर्वेद-गान्धर्ववेद-स्थापत्यवेदादिविदिता, ज्योतिषां ज्ञानमाश्रिता, दण्डनीति-राजशास्त्रार्थशास्त्र-भूशास्त्रसङ्कुला, नानाकाव्याख्यान-नाटक-कथा-प्रथिता, बहुलदर्शनरमणीया, शङ्करमण्डनमिश्र-गार्गी-भोज-कालिदास-नारायण-भास-भवभूति-बाण-गोवर्धन-हर्ष-माघ-भारवि-हरि-जगन्नाथादि-कविवरकलरवे कीर-सारसवध्व इव नटन्ती संस्कृतभाषेयं चिरं जयति। ततोऽप्यपरोऽयमप्यस्याः प्रभावो यदन्यासु भाषासु विरचितं साहित्यं तु दशवर्षाण्येव तिष्ठति, तदाऽस्यामारचितं वर्षाणां शतमवश्यं तिष्ठतीति स्पष्टमेवामरत्वममरभारत्याः।

युगप्रवाहस्तत्परिवर्तनञ्च—

आसीत् सोऽपि समयो यदा हि कवयः स्वीयानां मनोभावानां

---

१. तथा चैवं विभावनीयम्—

मौलिर्वेदोऽस्ति यस्या मुखमुपनिषदः कन्धरा धर्मशास्त्रं,
वक्षो वेदान्तविद्या कलय कटितटं दर्शनानीतराणि।
जङ्घेऽन्ये शास्त्रसंघाश्चरणमथ नयो मण्डनं काव्यमेतत्,
प्रत्यक्षं वीक्षसे चेत् कथमहह! मृता सा हि गर्वाणवाणी?॥

—भट्टश्रीमथुरानाथशास्त्रिणाम्

निरूपणेषु पुरस्करणेषु च प्रामुख्येन कालगतिवलमलमङ्गीकृत्य शौर्यकाले शूरताशिञ्जितानि, विपन्नकाले कारुण्यपरिपूर्णानि, विलासवेलायां रीतिकाले वा नारीनिरूपणपराणि सौन्दर्यसर्जकानि कल्पनाप्रौढिमाढौकनयुतानि विविधविलक्षणलक्षणलक्षकानि काव्यान्याकलय्य साहित्य-साहित्यिकयोरितिकर्तव्यता-कोटिमाटीकमानाः समयं यापयन्ति स्म। केचन च सामन्तानां छत्रच्छायासु वैभवस्य चाकचक्येषु च संस्थितानां हास-रास-विलास-विकासानुरागशालिनां कियताञ्चिद् भूपालानां कुटिलकटाक्षनिरीक्षणमात्रेणैव धन्यम्मन्यमाना वेपथुमत्कुरङ्ग इव सकलमपि कर्तव्यपदं विस्मृत्य तेषां वासनापरिपूर्तय एव स्वाः स्वा रचना अङ्कयन्ति स्म। तदीयमेवेदं फलं यत् संस्कृतसाहित्ये सीमान्तमालेखनं सञ्चितमस्ति शृङ्गारसाहित्यस्य।

परिवर्तितं पार्श्वं युगेन। युगधर्मोऽपि संसारस्य परिवर्तितां दशामक्षिलक्ष्यीकृत्य यथाकालं परिवर्तित एव। युगप्रवाहोऽपि स्वातन्त्र्यसूर्योदयाभिकांक्षया दासता-पाश-निगडितैर्भारतीयैः स्वानुकूलं प्रवाहितः। कतिधा न रचिता ग्रन्थाः? येषु स्वदेशमहिम्नो गीतानि प्रस्फुरितानि। कति वा कविताः कर्णपथं नोपयाताः? यासु ज्वलनज्वालामालाक्रमणानुकारिशौर्यसन्दायिनो विलसिता भावाः कवीनां प्रसुप्तैर्मानसैर्दीर्घकालानन्तरं पुनः 'हल्दीघाटी, राणाप्रतापः, राष्ट्रालोकः, गान्धिचरितं, शिवाचरितं, शिवराजविजयः, मीरालहरीप्रभृतीनि खण्डकाव्यानि; भारतपारिजात-पारिजातपुष्प-पारिजातापहारादिमहाकाव्यत्रयी; साहित्यवैभव-जयपुरवैभव-सत्याग्रहगीतादीनि सुबहूनि महाकाव्यानि; भारतविजयादीनि स्वातन्त्र्यपोषकानि नाटकानि; कानिचन स्फुट-प्रकीर्णकाव्यानि मधुरमधुराणि भाषाभावविभूषितानि पुरः स्थापितानि। व्यतीतेषु स्वातन्त्र्योत्तरसंवत्सरेषु तु प्रतिग्रामं प्रतिप्रतोलि प्रतिसंस्कृतज्ञं स्वतन्त्रतादेव्याः सुमहान् समादरः समभूत्। भगवत्याः सुरभारत्याः सुतरां सम्मानमपि भारतीयस्यैव सम्मानं तदिति मत्वा विदेशीयैरपि भूयांसोऽनुष्ठीयन्ते प्रयासाः।

इदमपि गौरवायैव यद् भारते प्रायो विंशतिपरिमितानि साप्ताहिक-मासिक-पत्राणि सञ्चलन्ति। आधुनिकश्चायं कालः सत्यमेव केवलां कामिनीकेलिविलसितां शार्ङ्गारिकीं, समययापिनीमेकान्तमनोहारिणीं, विनोदमयीं वा कवितां नाभिलषति। साम्प्रतं तु कालोऽ-

यमाह्वयति यूनः स्वदेशस्य स्वधर्मस्य स्वजातेः समुद्धाराय प्रोद्बोधनाय च, नवनवोन्मेषशालिनीरभिनव-सन्देशदायिनीः काव्यकलनाः कलयितुम् । याभिः सुप्तसुप्तासु धमनीषु चेतना जागृयाद्, गुप्तगुप्तासु भावनासु शौर्यप्रकटनसामर्थ्यं समुदयेत, शिथिलप्रायेषु शरीरेषु भवेत् प्रतप्तलोहित-सञ्चारः, शेमुषीषु जडप्रायासु समुद्भवेत् प्रतिभाभानूदयः !!!

आवश्यकता-निरूपणम्—

अयमस्ति प्रवादो यत् 'संस्कृतज्ञाः किल कालवलं नावगच्छन्ति, न वा सामयिकतां सामाजिकतां च विदन्ति, तस्मादेव भवन्ति प्रहसनीयाः सामाजिकैः।' अस्यां विंशतितमशताब्द्यां प्राचीनपरम्पराऽऽवाहनं तदीयपटहवादनं वा भवतु नाम हास्याय । परं यावद् वैदिकानां राष्ट्रसूक्त-पृथ्वीसूक्त-शान्तिसूक्तादीनि गर्जन्ति, पौराणिकानां प्रामाणिक्यो दधीचि-शिबि-मयूरध्वज-रन्तिदेवादीनां दानशैल्यः, राम-कृष्ण-युधिष्ठिरादीनां शासनप्रणाल्यः, भरत-पृथुप्रभृतीनां कर्तव्यपरायणता च जाग्रति, तावद् राष्ट्रियता चिरं विद्योतत एवेति न तत्र संशयावकाशः ।

अथ च संस्कृतज्ञा लौकिकदृष्ट्याऽपि राष्ट्रियताकर्मणि न प्रातिष्ठन् मौनमुद्रा इति सत्यङ्कारायोपदीक्रियन्ते द्वित्राण्युदाहरणानि—महात्मनो गान्धिनो युगे संस्कृतरचनास्वपि तदीयया प्रेरणया मार्गपरिवर्तनं सम्पन्नम् । यथाऽह्मदाबाद (राजनगर) स्थ-अपररामानन्दावतार-श्रीभगवदाचार्यमहाभागैरस्मिन् युगे गान्धिन आत्मकथासूचिका 'भारतपारिजातादि'नामिका बृहती महाकाव्यत्रयी पुरस्कृता । श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यवर्यैर्जगदुपकाराय राष्ट्रवादस्य वास्तविक्याः स्थितेः सम्यग् ज्ञानाय 'राष्ट्रालोक' नामकग्रन्थस्य प्रणयनं (सोलन-शिमला नगरे) कृतम्[1] । एकतश्च मोहमयीतः श्रीमत्या क्षमाराव-

---

१. यस्मिन् 'व्यक्तिशासनसङ्घशासनराष्ट्रशासनकर्तव्यदर्शनादि' सुबहुगहनो विषयः केवलास्वष्टोत्तरशतसङ्ख्यावतीषु कारिकासु तथा रमणीयतया निरूपितो, यासु समग्रस्य विश्वस्य राष्ट्रवादसम्बन्धदर्शको विषयः खचितः । अस्य च 'राष्ट्रसञ्जीवन' भाष्यख्यातौ तु विद्वांस एव ख्यापयन्ति यद् दशसहस्रश्लोकपरिमित-प्रमाणशालिन्यस्मिन् भाष्ये पाणिनीयसूत्रेषु पातञ्जलमहाभाष्यवद् ब्रह्मसूत्रेषु शाङ्करभाष्यवत् प्रशस्तं शास्त्रतर्कादिसम्मतं निरूपणं विद्यत इति ।

महोदयया भारतीयकवयित्र्या 'सत्याग्रह-गीता' विरचिता[1]। वेदान्तरत्नश्रीओड्ड्मने पाण्डुरङ्गशास्त्रिणः 'सत्याग्रहकथा',[2] श्रीप्रभुदत्तशास्त्रिणः 'संस्कृतवाग्वैभवम्', वर्णेकरमहोदयस्य 'राजेन्द्रजवाहरतरङ्गिण्यौ', कानिचिद् दूतकाव्यानि च प्रकाशपथमुपेतानि। अपरतश्च प्रकाशनसौविध्याभावेनापि बहूनां रचनाः कुटीष्वेव शेरते। तदिदं सकलमपि किं नो विस्मयाय परमानन्दाय वा ?

सत्याग्रह-नीतिकाव्यम्

सत्य-माहात्म्यम्—

शास्त्रेषु सत्यस्य माहात्म्यं प्रभूतं वर्णितं दृश्यते। तथा हि वेदेषु 'ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत'; 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य'; 'सत्यञ्च मे श्रद्धा च मे' इत्यादिना च सत्यख्यातिरुद्भूतैव। महाभारतेऽनुशासनपर्वणि च भगवता बादरायणेन सत्यस्य विचिकित्सायां कथितं यत्—

यथा श्रुतं यथा दृष्टमात्मना यद् यथा कृतम्।
तथा तस्याविकारेण, वचनं सत्यलक्षणम्।।२३२।१७।।

अथच—यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम।।३३७ १३।।

एवं प्रकटीकृत्य सत्यस्य त्रयोदश रूपाणि निर्दिष्टानि। तथा च—

सत्यं च समता चैव, दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव, ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता।
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं, धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र ! सत्याकारास्त्रयोदश।।

शा० प० १६०।६।।

अत्र हि क्रमशः समता=इष्टानिष्टयोरेकभावः। दमः=आसक्तिमत्या स्पृहयोत्पन्न-काम-क्रोधादीनां दमनम्। अमात्सर्यं=ईर्ष्याया अभावः। क्षमा=सहिष्णुता। ह्रीः=अनुचितकर्मभ्यो लज्जा। तितिक्षा=तपस्या। अनसूयता=वैराभावः। त्यागः=दानं। ध्यानं=

१. अस्या अध्यापनं विश्वविद्यालयीय बी. ए. परीक्षायामद्यापि प्रचलति।

२. मधुरवाण्या १८७४ शकस्य ६ सञ्चिकायां क्रमशः प्रकाशिता।

एकाग्रता । आर्यत्वं=कथनानुसारमाचरणम् । धैर्यं, दयाऽहिंसा चेति। एवं निखिल-लोकोपकार-परायणस्य सत्यस्य कृते आग्रहः कस्मै न हितावहः स्यात् ? कविनाऽनेनापि सत्यस्य माहात्म्यं वर्णयता सदाग्रहाय संप्रेरयता च करवाल-धाराचलनसरूपेऽस्मिन् वर्त्मनि चलतां जनानां कृते सामयिकमुपदिश्यानुभूतिदर्शनं पुरस्कृतम् ।

कविः श्रीसत्यदेवो वासिष्ठस्तत् काव्यञ्च—

एवं राष्ट्रियकाव्यग्रैवेयके मध्यमणिरिव विभासमानस्य सत्याग्रहनीतिकाव्यस्य प्रणेता सामस्वर-भा-भास्करीकृतमतिको, व्याकरण-निरुक्त-छन्दः-काव्य-कोष-ज्योतिषायुर्वेदाद्यनेकशास्त्रविद्याविद्योतितान्तःकरणः, स्वप्रतिभा-प्रतिमा-विमलीकारपारगामी, श्रीमद् 'अनन्तराम सहजपाल'तनुजन्मा,द्रौपदीदेवीगर्भसमुत्पन्नो जालन्धरमण्डलान्तर्गत-माह्लगहिलाग्रामवास्तव्यः साम्प्रतं च भिवान्यां हिसार-मण्डले हरियाणाप्रान्त-वास्तव्यः १०८ श्रीसत्यदेवो वासिष्ठः कविर्हठादावर्जयति चेतांसि रसिकजनानाम् । काव्यञ्चेदं सत्याग्रह-ग्रहिलेन स्वधर्मरक्षणदक्षेण बद्धकक्षेणानेन कविना (हैदराबाद) भाग्यनगरीय-कारागारे संवसता भगवतो भर्तृहरेर्नीतिशतकं भूयो-भूयो हृदयङ्गमं विदधता 'कारागारीय-विधानानुसारं कर्गदखण्डमेकमपि सत्रा रक्षितुमक्षमेण तत्तद्वेदायुर्वेदपुस्तकानामवशिष्टप्रतिपृष्टपरिसरभुवि विलिखितवता यथाकथञ्चित् तस्यैवोपजीव्यतया जीवनं यापयता प्रणीतम् ।

अत्र काव्ये यत्र-तत्र जीवनेऽभिनवसन्देशदायिन्यः सूक्तयः संलसन्ति । कविनाऽर्वागेव स्वीये निवेदनेऽभिहितम्—क्वचिद् दृश्येत चेत् साम्यमित्याद्युक्त्या कविः स्पष्टेन चेतसा पुर उपतिष्ठते । वेत्ति च सः संस्कृत संसारे न काव्यानां न्यूनत्वं न वा कवीनाम् । परं विरलाश्च ते कवयो ये हि विनाऽन्यसाहित्यसाहाय्यं स्वकाव्यप्रणयनं विदध्युः । अस्ति चायमेव नियमः प्रकृत्या अपि । यथा कूपे जलागमनं यद् भवति तन्निकटस्थतटिनीनां नैकट्येनैव ।

नैतावतैवालं, वस्तुतः कविस्तु ततोऽप्यग्रे पदं धत्ते सूचयति च स्थाने स्थाने स्वोपज्ञटीकायां (१ अ०, २ पा०, १२ श्लोके) 'राज्ञः सम्बोधनाभावे पाठकैर्मान्य-सभ्य-विप्र-पूज्य-प्रभृतयः शब्दा भूपस्थाने परिवर्त्यं यथायथं प्रयोगः पद्यनिर्माणपुरस्सरं कार्यः । एवमेव सर्वत्रात्र

काव्ये पाठकेनोहाः कल्पनीया भवन्ति वाच्यस्यातिबहुत्वात् ।' इत्येवं निवेदनपरः सन् कविर्विदुषः स्वस्वमतपरिपुष्टघै शब्दसंयोजनायामन्त्रयति स्वीकरोति च पूर्वकवीनां रचनानुसरणं स्वस्येति ।

अभिनवः पन्थाः—

किञ्च नवीन एवायं पन्थाः । संस्कृतस्य संस्कृतज्ञानाञ्चास्मिन् शैथिल्यकाले क्व ते कालिदासादयो महाकवयः प्रादुर्भवन्ति ? क्व च ते श्रीहर्षसदृशाः समस्त-शास्त्राम्बुधिविहितावगाहना वा समुपलभ्यन्ते कविमूर्धन्याः ? परे तु परे, इदानीन्तनाश्छात्रास्तु यथासमयं संस्कृते सम्भाषणं कर्तुमप्यक्षमा भवन्ति । अतोऽस्मादपि हेतोः सारल्येन छात्रबान्धवा यथावकाशं पन्थानमिममङ्गीकृत्यापि कविनामकरन्दास्वाद-विमुखतामपाकुर्युस्तर्हि सम्भाव्येताग्रे रुचिराणां कवितानां सम्भूतिः । नो चेत् काव्य-वारिवर्षाविहीनायां संस्कृतकान्तारस्य शुष्कप्रायायां भुवि निक्षिप्तं बीजं धूलिसादेव सम्पत्स्यत इति कस्तत्र विवादावसरः ? इति कृत्वैवात्र कालेऽयं कविवरस्य सरलतमार्गपुरस्करणप्रयासः केन वा सचेतसा नाभिनन्दनीयः ?

काव्याङ्ग-सौष्ठवम्—

विना सङ्घटनं शरीरस्य स्थितिः संशयावहा भवति । न तिष्ठति भवनं सैकतिलमूलभित्तिसाहाय्येन । काव्यमेतत् तु सर्वांशेन पूर्णतां बिभर्ति । सन्ति चात्र वैशिष्ट्यभाञ्जि सुबहूनि कारणानि । यथाऽऽधुनिककाव्य-कानने विचरतां विदुषां काव्य-विरचनप्रयासः प्रायः श्लथतामेवाश्रितः । यतो हि विनैवात्मनोऽनुभूतिं ते कवीभवितुं वाञ्छन्ति । यो हि कविर्विधात्रा साम्यं धारयति तस्य वैधात्र-पात्रतायां स्वल्पीयस्यपि नेदीयस्ता न भवेत्तदा को दोषः पर्यालोचकानाम् ? कल्पना जल्पनेऽनल्पां कान्तिं किरतीति सत्यं; परं तां सत्यापयितुं सात्त्विकी प्रतिभैवावश्यिका । एवं बहूनां कृतिषु कल्पनानां पुस्तकानाञ्चैवानुभूतिर्बलीयसी तिष्ठति, सा च न हितावहा ।

परमस्य कवेस्त्वनुभवः स्वयं साक्षात्कृतो बहुधा च सुपरीक्षितः । अत एवास्ति काव्यमेतस्य प्राणवत् । सत्याग्रहे कास्का विपत्तय आगच्छन्ति ? समागतवत्यापन्नकाले कथङ्कारं धीरता-धोरणी धारणीयेति स्वानुभव-निकषोपल-कषणानुभूतजन्यां सर्वाङ्गपरिशुद्धकनकायितामुपदेश-वाचमाचामयितुं भूयान् प्रयत्न आचरितः । यद्यपि

प्राचीनप्रवादरूपतां गतस्य सत्याग्रहस्यास्यार्यसमाज-संस्थाप्रचालितस्य परम्परा नाक्षुण्णतया प्रौढा, परं नाम्नः संरक्षणं तु श्रीमन्महात्म-गान्धिना तदग्रचैश्च राष्ट्रिय-कार्यकर्तृभिः समाजवादि-साम्यवादि-बुद्धिवादि-तदितरवादिभिश्चाद्याप्यनवद्यतयाऽवलम्बनपुरस्सरं क्रियत एव ।

अद्य तु काल ईदृश आगतोऽस्ति, यस्मिन्—

कुत्रापि कस्यापि महत्त्वपूर्ण-कार्यस्य सिद्धयै नितरां प्रयत्नात् ।
आदीनगेहाद् धनिकस्य गेहं, सत्याग्रहस्यैव समाश्रयोऽस्ति ।।

किन्तु कवेरस्य त्वत्रास्ति सूचनीयं यद् ये ये सत्याग्रहस्य नाम्ना हठाग्रहमाचरन्ति, तद्व्याजेन च यत्र तत्र मारण-दारण-प्रतारण-लुण्ठनादिकं कुर्वन्ति, ते सत्यमेव नामैतस्य कलङ्कयन्ति दूषयन्ति च । तेभ्यः सविनयोऽयमञ्जलिर्यत् तेऽवश्यमेकवारं सौहार्देन स्थिरेण मनसा काव्यमेतत् पठेयुः । पश्चात्तेषां मनःस्थितिः कीदृशी सम्पद्यते तदपि जानीयुरात्मनश्च कृत्यं निन्द्यं नन्द्यं वेति स्वयमेवानुभवेयुः ।

तत्र काव्ये सरसया सरलया भाषया विषयाणामुपस्थापनमपि विद्वज्जनमनोमोहेन प्रेरणाप्रदायकमेव विहितम् । प्राचीनार्वाचीन-सन्धिस्थलीव काव्यस्यास्य निबन्धनं पञ्चभिरध्यायैर्विंशतिपादैश्च विधाय कुम्भेऽम्भोनिधिपूरणाय प्रयस्तम् । यान्त्रिके युगेऽस्मिन् नीति-मुल्लंघ्य वागाडम्बरेणैव ये जिजीविषन्ति, अज्ञानतयाऽसमर्थतया चासाफल्यं लभन्ते, निन्दनीयाश्च जना नेतारो भवन्ति तैरस्याश्रयो-ऽवश्यं साक्षात्करणीयः । तथा च स्वकीयं दीर्घायुष्ट्वं कामयमानैरपि 'परमायुषीयः' पादः समालम्बनीयः । यत्र सर्वा अप्यावश्यिकाः क्रिया वैद्यविद्यासारभूताः संसूचिताः । एवमेवान्यत्रापि विविधविषयसंवेशनेन काव्यस्यास्य परमं वैशिष्ट्यमस्तीति स्वयमेव विभावयन्तु सुधियः ।

'नहि कस्तूरिकाऽऽमोदः शपथेन विभाव्यते" इति नियमेनासां पंक्तीनां लेखनादेव न तोषः करणीयः, परं स्वयमनुभवितव्यम् । अस्य राष्ट्रभाषानुवाद-प्रकाशनस्याप्येतदेव स्वारस्यम् । स्वकीयया 'अनन्त' वृत्त्या कविना बहुत्र परमोपकारः कृतः पाठकानां कृते । एवमेकत्र राष्ट्रनीति-काव्यकला-सत्यख्याति-कर्तव्योपदेशमिषेण चात्र संस्कृत-साहित्यस्य महतीं सेवां सम्पादयन्नयं कविः सत्यं धन्यवादपात्रम् ।

अयं हि 'नाडीतत्त्वदर्शनम्' नामकमहानिबन्धस्य प्रणयनेन प्रागेवायुर्वेदसेवां व्यदधात् । ज्योतिषशास्त्रस्य 'चाष्टोत्तरशताङ्कविद्यां' ग्रन्थरूपे प्रकटय्य सेवाऽभिलाषां च प्रतिजानाति । ईश्वरो दीर्घायुष्यं प्रदायास्य संस्कृत-साहित्यसेवया जगदुपकारं गुरुतरं कारयेदिति धिया भृशं निटिलतटघटितकरपुटाः प्रार्थयामः ।

इदमात्मनीनम्—

पञ्चाम्बुप्रान्ते हिसारमण्डलान्तर्गत-भिवानीनगरस्थ'श्रीहरियाणा-शेखावाटी-ब्रह्मचर्याश्रमे' गतेषु वत्सरेषु श्रीकेदारनाथसारस्वतमहाभागप्रेरणयाऽध्यापनायाहं गतवान् । तत्राश्रम एवैकत्र कुट्यां स्थितस्यास्य वैद्यवरस्य दर्शनानि जातानि । प्रथमपरिचयानन्तरं मम मानसे भूयान् समादरः समजनि । केषुचिदेव दिवसेषु काव्यमस्यास्य पारायणं मया कविमुखादेवाकर्णितम् । तदाप्रभृत्येवात्मनीनतया'सत्याग्रहनीति-काव्य'स्य प्रकाशन-सम्पादनालङ्काराङ्कन-राष्ट्रभानुवादकरण-मुद्रण-विषयेऽहं नियोजितः कविना । आत्मनः स्वल्पज्ञान-स्वल्पसाधनसत्त्वेऽपि कवेरलौकिकीमुदारतामतिशयप्रियतां विलोक्योररीकृतं मयाऽपि ।

तदद्य विघ्नबाहुल्येन सीसकाक्षरयोजकानाञ्च संस्कृतज्ञताभावेन प्रायः सकलमप्यक्षरयोजन-(कम्पोज) मुद्रणा-(प्रिंटिंग) दिकार्यं स्वहस्तेनाथवा कनिष्ठसहोदर-जयदेवत्रिपाठिवेदान्ताचार्यभवानीशंकरत्रिपाठिएम ए.पदमण्डिताभ्यां हस्तैश्च साधितम् । परं वासिष्ठमहोदय.-नामपूर्वधीरतोदारताभ्यां हिरुक् काव्यस्यास्य प्रकाशनं स्वल्पसाधनैरसम्भवमेवासीत्तदिति स्मारं स्मारमत्र जातानां दोषाणां कृतेऽहमेवापराध्यामि ।

अयमत्र प्रसन्नताया विषयः,यद् गुरुकुल-झज्झरद्वारा प्रचालित-परीक्षा-पाठ्यक्रमे तदीय-व्यवस्थापकमहोदयैः सत्याग्रह-नीतिकाव्यस्यापि सन्निवेशः कृत इति ते सत्यमेव धन्यवादार्हाः । दत्तेऽपि मनोयोगे—

'नेत्रयन्त्रपरिचारकदोषात् पुस्तकेषु बहवो लिपिदोषाः ।
सम्भवन्ति हृदयालव एतान्, मार्जयन्ति विषयग्रहणेहाः' ॥

इति न्यायेन क्षन्त्वा सफलयन्तु श्रमजातम् ।

प्रान्ते च—'विद्वांसो वसुधातले परगुणश्लाघासु वाचंयमाः' इति पण्डितराजस्येमां मार्मिकोक्तिं कर्णकुहरेषु चीत्कुर्वतीमाकर्ण्य

नाद्यावधि परिपाटिरियं विपाटनतां गतास्तीति विचिन्त्य विपश्चितो निवेद्यन्ते, यद् युगानुकूलीरचनां चिराय सभाजयन्तु, विभासतां चेयं भूतिकरी कृतिः कविवरस्य श्रीसत्यदेववासिष्ठस्येति ॥

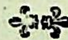
दीपावली २०१५
साहित्य-संवर्धन-संस्थानम्
दशपुरम्, (मन्दसौर)

विदुषामनुचरः—
रुद्रदेवः त्रिपाठी,
साहित्याध्यापकः
राजकीय संस्कृत-विद्यालयः
उज्जयिनी

द्वितीय-संस्करणम्

यथाप्रयत्नं यथामति च संशोध्य द्वितीयमिदं संस्करणं क्वचिच्छब्दपरिवर्तनेन भावमखण्डयित्वा कविना अध्येतॄणामाग्रहमुररीकुर्वता प्रकाशनाय प्रयतितम्।

—युधिष्ठिरो मीमांसकः



हिन्दी अनुवाद

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य को समाज में अपनी जीवन-सत्ता की रक्षा के लिये संघर्ष भी करने पड़ जाते हैं। संघर्ष कभी मनुष्यों तथा कभी प्रकृति से भी करना पड़ जाता है। इस प्रकार संघर्षमय जीवन में नाना प्रकार की अनुभूतियां स्वतः उत्पन्न होने लगती हैं। जोकि अनुकूल तथा प्रिय दृश्यों और घटनाओं से मन-बुद्धि-चित्त की प्रसादक, हर्षोत्साह-समन्वित, तथा विपरीत मनः-क्षोभक दृश्यों और घटनाओं से दुःख-शोक-बहुल अनुभूतियां होती हैं। कभी-कभी और कहीं-कहीं तो मनुष्य विस्मयान्वित होकर विविध भावनाओं में अपने आपको उत्पथिक सा अनुभव करता है। रक्षात्मक निजसत्ता-स्थापनार्थ संघर्ष पशुपक्षियों में भी देखा जाता हैं, परन्तु वे मनुष्येतर पशु-पक्षी, सरीसृप उन भावों को मनुष्यवत् व्यक्त करने में असमर्थ रहते हैं।

इस प्रकार मनुष्यों में धीरे-धीरे संयोग-वियोग, हर्ष-शोक, सुख दुःख, मान-अपमान, क्षुत्-तृषा, जन्म-मरण की एकीभूत अनुभूतियां अन्तःकरण से स्फुटित होने लगती है। कुछ मनुष्यों को भावनायें=तरङ्गें उनमें ही रह जाती हैं, जब कि कुछ मनुष्य उनको व्यक्त करते हैं। इस प्रकार मधुर छन्दोमयी अभिव्यक्तीकरण पद्धति का नाम 'साहित्य' उद्घोषित किया है। वह साहित्य गद्य-पद्यमय दो प्रकार का हो जाता है। ऐसा ही अनुक्रम सब भाषाओं में दृष्टिगोचर हो रहा हैं।

साहित्य समाज का दर्पण है—

मनुष्य जिन परिस्थितियों में से अपने आपको लिये जाता है उस युग का, उस काल का, उस वातावरण का प्रभाव उस पर होता है। जैसे तीव्र ग्रीष्म में गरमी का वर्णन, वर्षा ऋतु में वर्षा का वर्णन, एवं वसन्त ऋतु में वसन्त का वर्णन करना सरल है। क्योंकि

वातावरण कवि या भावव्यक्तकर्ता को प्रभावित करता है। परन्तु कभी कभी मनुष्य अपने भाव को अतिरञ्जित भी कर देता है। जैसे मध्याह्न में भी पृथु-कृष्ण-अभ्र-आच्छादित सूर्य को 'अस्तमितः सूर्यः' कह देता है, जब कि सूर्य अस्त नहीं हुआ होता। ऐसा ही चन्द्रमा के प्रति भी रात में कहा जाता है। युग-प्रभाव से सर्वत्र झूठ और भ्रष्टाचार का बोल-बाला है, यद्यपि सत्य तथा सत्याचार का अत्यन्ताभाव नहीं हुआ होता।

बस, इस प्रकार रामायण तथा महाभारतादि के पढ़ने से उस समय का आज भी ज्ञापन मिलता है। इसलिये साहित्य को युग का दर्पण भी कहा जाता है। क्यों कि मनुष्य की निजान्तःकरण की छाया का ही निबन्धन मधुर अथवा कटु शब्दावली में होकर वह काव्य दर्पणवत् तात्कालिक सामाजिक स्थिति का परिचायक हो जाता है।

विश्वभाषाओं की जननी संस्कृतभाषा ही है—

भाषा भावव्यक्ति का माध्यम है। भाषा का प्रयोग पण्डित तथा मूर्ख दोनों ही करते हैं। इन विविध भाषाओं में प्रकृति=धातु, आगम=प्रत्यय के सहयोग से सम्पुष्ट भाषा को 'संस्कृत' (=संस्कार की हुई) भाषा कहते हैं। यह संस्कार गुण इस समय प्रचलित अन्य भाषाओं में नहीं मिलता। अतः इन सब भाषाओं को प्राकृत भाषा या म्लेच्छभाषा कहा जाता है। चूंकि असंस्कृत भाषा मनुष्यों के निजी=स्वाभाविक दोष से दूषित हो जाती है। परन्तु संस्कृत भाषा में विकार नही होता, अतः इस भाषा का प्रयोग प्रयोक्ता के भाव को अक्षुण्ण=अव्यभिचारी बनाये रखता है।

सस्कृत से बने कुछ अपभ्रंश—

संस्कृत	विकारी	संस्कृत	विकारो
वाप	बाप, बापू	जनाभ	ज़नाब
नेदीयः	नेड़े, निकट	अक्षिदन्त	एक्सीडेण्ट (अंग्रेजी)
त्रिदन्त	ट्राई डेण्ट	पेशल	स्पैशल

अपभ्रंश वाक् दोष से भी होता हैं। यथा—'हेऽरय' के स्थान में 'हेऽलयः अपभ्रंश बन गया। यह दिग्दर्शनमात्र जानें। अत एव लेखक को सशक्त अव्यभिचारी भाषा का ही आश्रयण करना चाहिये।

जब संस्कृतभाषा समर्थ सन्मुख है ही, तो कौन बुद्धिमान् होगा जो संस्कृतरूप कल्पद्रुम को छोड़ कर क्षुद्रभाषारूपी इमली आदि वृक्षों की उपासना करेगा ? तथा सुमधुर अमृत-निधि को छोड़कर मरु-भूमि में खारी जल का कूआ खोदेगा ? इतने पर भी कुछ मनुष्य संस्कृत तथा भारतीय संस्कृति से स्वभाव से ही द्वेष करते हैं। क्योंकि जो जिसके गुण को जानता नहीं, वह उसकी निन्दा करता ही है।

परन्तु जबतक वेद, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष्, उपनिषत्, ब्राह्मण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, दर्शन, रामायण, महाभारत के रूप में साहित्य वर्तमान रहेगा, तथा संस्कृत में प्रतिपादित दण्डनीति, राजनीति, अर्थशास्त्र, भूशास्त्र, स्थापत्यकला, एवं कथा सरित्सागर, नाना काव्य नाटक, शंकर मण्डनमिश्र गार्गी भोज कालिदास नारायण भास भवभूति वाण गोवर्धन हर्ष माघ भारवी भर्तृहरि जगन्नाथ आदि कवियों की कृतियां, तथा मण्डनमिश्र के घर पर तोता मैना का संस्कृत में वाद-विवाद साहित्य में वर्तमान रहेगा, तब तक संस्कृत भाषा को मृतभाषा कहना केवल वक्ता का प्रमत्त-भाषण (=पागलपन)ही कहा जायगा। अतः प्रौढ लेखकों ने अब भी संस्कृतभाषा का ही आश्रयण लिया है। जैसे—'शिवराज-विजय' इत्यादि ग्रन्थों की रचनाओं में। संस्कृतभाषा स्वयं अविकारी होने से इस का साहित्य भी अविकारी रहता है। अतः सब ही प्रौढ लेखकों को संस्कृत का ही आश्रय लेना चाहिये।

युग-प्रवाह और उसमें परिवर्तन—

एक समय था, जब कवि शूर वीर योद्धाओं के शौर्य तथा युद्धकौशल का वर्णन करते हुए अपना समय बिताते थे। तथा राजाओं के आश्रय में रहनेवाले कविजन राजाओं के रास-हास-विलास, धन-ऐश्वर्य का ही प्रकाशन करने में समय बिताते रहे। अतः संस्कृत-साहित्य में शृंगार रस की प्रचुरता दृष्टिगोचर हो रही है।

यतः साहित्य अपने वातावरण से प्रभावित लेखकों से संबृद्ध किया जाता है, इसलिये जैसे-जैसे युग बदल जाता है, वैसे-वैसे ही लेखक अपने भावों को व्यक्त करने के लिये शैली भी बदल लेते हैं। इसीके फलस्वरूप—हल्दीघाटी, राणाप्रताप, राष्ट्रालोक, गान्धि-

चरित, शिवाचरित, शिवराज-विजय मोरालहरी आदि खण्डकाव्य रचे गये। भारत की स्वतन्त्रता को माध्यम बनाके भारत-पारिजात, पारिजात-पुष्प, पारिजातापहार आदि काव्य रचे गये। साहित्यवैभव, जयपुर-वैभव, सत्याग्रहगीता आदि बहुत से महाकाव्य भी रचे गये। इसी प्रकार भारतविजय नाटक आदि लिखे गये। छटपुट और भी काव्य प्रकाशित किये गये। स्वतन्त्रता के पश्चात् तो घर-घर ग्राम-ग्राम गली-गली में बुद्धिमानों ने स्वतन्त्रता का विविध रचनाओं में आदर किया। सत्य तो यह है कि संस्कृत और भारत अपने में छाया-छायी के समान हैं। एक का सम्मान दूसरे के सम्मान को स्वयं ही पल्लवित करता है।

यह भी बड़े हर्ष का विषय है कि इस समय भी लगभग बीस के साप्ताहिक मासिक संस्कृत में प्रकाशित होते हैं। इस समय श्रृंगार रस में समय न बिताकर स्वदेश स्वधर्म स्वजाति के रक्षार्थ जन-गण-मन को उद्वेल्लित करने के लिये कवि काव्य करते हुये अपना समय बिताते हैं। यह इस समय की आवश्यकता कवियों तथा लेखकों को प्रेरित करती है।

आवश्यकता-निरूपण—

साधारणतया यह प्रवाद सुनने में आता है कि —'संस्कृतज्ञ समय तथा सामाजिक परिस्थितियों को पहचानते नहीं। तथा इस बीसवों शती में पुराने हा राग अलापते हैं, अतः वे उपहास के पात्र बनते हैं'। परन्तु वे उपहासकर्ता महाशयगण अपने ही अज्ञान को प्रकट करते है। क्योंकि जब तक अथर्ववेद का राष्ट्रसूक्त पृथिवीसूक्त शान्तिसूक्तादि हैं, पुराणों में वर्णित प्रामाणिक दधीची शिवि मयूर-ध्वज शान्तिदेव आदि की दानशैली, रामकृष्ण युधिष्ठिर की शासन-प्रणाली, भरत पृथु आदि की कर्त्तव्य-परायणता जीवित है, तब तक पुरातन राष्ट्रियता संस्कृत-वाङ्मय में विद्योतित होगी ही, इस में संशय का अवकाश ही नहीं।

संस्कृतज्ञों ने लौकिक दृष्टि से भी राष्ट्रिय कर्मों में मौनता नहीं रक्खी। जैसे इस गान्धी युग में—रामानन्दावतार आचार्य ने गान्धि-आत्मकथा-सूत्रिका, भारतपारिजातादि तीन महाकाव्य लिखे। श्री भवाचाय ने राष्ट्रवाद की वास्तविकता बताने के लिये 'राष्ट्रा-

लोक' नामक ग्रन्थ शिमला में लिखा। बम्बई की भारतीय कवयित्री श्रीमती क्षमाराव ने 'सत्याग्रह-गीता' लिखी। वेदरत्न पाण्डुरंग शास्त्री ने 'सत्याग्रहकथा' लिखी। श्रीप्रभुदत्त शास्त्री ने 'संस्कृत वाग्वैभवम्' लिखा। वर्णेकर महादेव ने 'राजेन्द्र-जवाहर-तरङ्गिणी' लिखी। इस समय भी कुछ कवियों की संस्कृत रचनायें-सुविधा के अभाव से विना छपे उन्हींके आवासों में पड़ी हैं, क्या यह कम आश्चर्य की बात है?

सत्याग्रह-नीति-काव्यम्—

सत्य की महिमा शास्त्रों में बहुत गाई गई है। 'ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत'; 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य०'; 'सत्यञ्च मे श्रद्धा च मे' इत्यादि वेदवाक्यों में भी सत्य का महिमामय उद्घोष है। महाभारत में व्यास जी ने सत्य पर विचारणा करते समय सत्य का लक्षण इस प्रकार किया है—'जैसा सुना, जैसा देखा, जैसा किया, उसको वैसा ही कहना 'सत्य' है। तथा 'जो प्राणियों के लिये अत्यन्त हितकर है, वह सत्य है'। इस प्रकार वर्णन करते हुए पुनः सत्य के १३ रूप वर्णन किये हैं जो कि इस प्रकार हैं—

१. समता=इष्ट अनिष्ट में एकभावना। २. दम=आसक्ति से उत्पन्न काम क्रोध का दमन। ३. अमात्सर्य=ईर्ष्या न करना। ४. क्षमा=सहनशीलता। ५. ह्री=अनुचित कर्मों में लज्जा। ६. तितिक्षा=नम्रता। ७. अनसूया=वैरभाव का त्याग। ८. त्याग=दान। ९. ध्यान=एकाग्रता। १०. आर्यत्वम्=कथनी करनी में एकता। ११. धृति=धीरता। १२. दया और १३. अहिंसा।

सत्य का यह स्वरूप किसको हितकर नहीं? कौन मनुष्य है, जो इस सर्वोपकारी सत्य के प्रति आग्रह करने में सुखानुभव न करेगा?

इस कवि ने भी सत्य का माहात्म्य वर्णन करते हुए, खड्ग (=तलवार) की धार के समान इस मार्ग पर चलते हुए मनुष्यों के लिये समयानुकूल निर्देश करके अपने अनुभव का प्रदर्शन किया है।

कवि सत्यदेव वासिष्ठ और उनका काव्य—

राष्ट्रिय काव्यों में कण्ठस्थमणि के समान प्रकाशमान 'सत्याग्रह-नीतिकाव्य' के प्रणेता सामस्वरज्ञ, व्याकरण निरुक्त छन्दः काव्य

कोष ज्योतिष आयुर्वेद आदि अनेक शास्त्रों से प्रकाशतान्तर्ज्ञान-चक्षुष्क दूरदर्शी विमलमति, पं० 'अनन्तराम सहजपाल' के पुत्र, माता द्रौपदी के कुक्षिरत्न, जालन्धर मण्डलान्तर्गत माहलगहिला ग्राम वास्तव्य सम्प्रति भिवानी जि० हिसार (हरियाणा प्रान्त) निवासी, श्री १०८ कवि सत्यदेव वासिष्ठ रसिक जनों के चित्त को इस काव्य के अध्ययन के प्रति बलपूर्वक आकर्षित करते हैं। यह काव्य आर्यसमाज द्वारा चलाये गये हैदराबाद दक्खन में स्वयं भाग लेकर हैदराबाद के केन्द्रिय कारागृह में स्वयं रहकर भर्तृहरि के 'नीतिशतक' की पद्धति के अनुसार आयुर्वेद की चरकसंहिता, जो कारागार में उनके पास थी, के प्रान्तभागों पर लिखा था।

इस काव्य में जहां-तहां जीवन में नये संदेशों को देनेवाली सूक्तियां भी हैं। कवि ने आरम्भ में ही लिखा है कि—'यदि कहीं पूर्वकवियों के कथन के समान यहां कथन हो, तो मैं उसे ठीक ही समझता हूं। केवल कथन-वैचित्र्य ही पृथक् जानना चाहिये'। क्योंकि वह जानता है कि इस संसार में कवियों तथा काव्यों की कमी नहीं है। कुछ विरले पुरुष ही विना दूसरे का साहाय्य लिये अपना काव्य बनाने में समर्थ होते हैं। प्रकृति का भी यही नियम है—जैसे कूएं में भी जल निकट स्रोतों से ही रिस-रिसकर कूएं में पानी का भण्डार बनता है।

कवि इस से भी बढ़कर अपने आपको पदे-पदे प्रस्तुत करता है—"अ० १, पा० २, श्लोक १२ में 'राजन्' शब्द के सम्बोधन के स्थान पर पाठकगण! मान्य! सभ्य! विप्र ! पूज्य ! आदि यथाप्रयोजन शब्द रख कर काव्य या श्लोक को पढ़ें"। इसी प्रकार इस सारे काव्य में पाठकों को ऊहा करनी चाहिये। क्योंकि वाच्य बहुत अधिक कवि के मन में हैं। इस इस प्रकार कवि अपने इस काव्य में पूर्व कवियों के अनुसरण को स्वीकार करता है।

अभिनव-मार्ग—

परन्तु यह एक नवीन मार्ग है। संस्कृत तथा संस्कृतज्ञों के इस ह्रास-समय में कालिदासादि कवि तो कहां उत्पन्न होते हैं ? अब कहां श्रीहर्ष जैसे सर्वशास्त्रज्ञ कविमूर्धन्य कवि मिलते हैं ? पहले की बात तो दूर रही, अब के छात्र तो संस्कृत में सम्भाषण करने में भी अशक्त हैं। अतः यदि इस सत्यलताम काव्य के रसास्वा-

दंन से काव्य-विमुखता को छोड़ दें, तो भी यह सम्भव हो सकता है कि आगे रुचिर काव्य भी बन सकेंगें। यदि नहीं तो काव्यवर्षा-विहीन संस्कृतरूप इस शुष्क वन में बोजा गया बीज व्यर्थं ही जायगा, इस में क्या संशय है ? इसलिये इस समय यह कवि सत्यदेव का सरलतम-काव्य-प्रणयनप्रयास किसके लिये अभिनन्दनीय नहीं ? अर्थात् सब ही इस मार्ग का समादर करेंगे।

काव्याङ्ग-सौष्ठव—

विना स्थिर बन्धनों के शरीर नहीं रहता, रेत की दीवार पर मकान नहीं ठहरता। यह काव्य सर्वांश में पूर्ण है, इस में बहुत से विशिष्ट कारण हैं। जैसा कि इस समय में आधुनिक काव्य-प्रणेता कवियों की रचनाओं में शिथिलता का अनुभव होता है, क्यों कि वे विना अनुभव किये कवि बनना चाहते हैं। जो कवि विधाता की समता रखता हो, और उस विधाता-सम्बन्धी गुणों का कुछ भी समावेश उस कवि में न हो,तो आलोचकों का क्या दोष है ? यह ठीक है कि कल्पना बहुत बड़ी की जा सकती है, परन्तु उस कल्पना को सत्य करनेवाली सात्त्विकी प्रतिभा भी तो परम आवश्यक है। इस प्रकार की बहुत सो रचनाओं में कल्पना की प्रचुरता है, जो कि काव्य-मानदण्ड में ठीक नहीं बैठती।

परन्तु इस कवि का तो अनुभव स्वयं साक्षात् किया हुआ, तथा बहुधा परीक्षित है। इसलिये यह काव्य कवि के प्राण के समान है। सत्याग्रह में क्या-क्या विपत्तियां आती हैं, विपत्ति में किस प्रकार धीरता धारण की की जाती है, स्वयं अनुभव की कसौटी पर घिसकर कनकरूप काव्यमय वाणी को लिखने का कवि ने बड़ा प्रयास किया है। यद्यपि आर्यसमाज द्वारा चालित इस पुराने सत्याग्रह की परम्परा प्रौढ़ नहीं है, फिर भी इस सत्याग्रह के नाम का संरक्षण महात्मा गान्धी और उनसे भी पूर्ववर्ती राष्ट्रिय कार्यकर्ता—जैसे समाजवादी, साम्यवादी, बुद्धिवादी—इसी प्रकार अन्यजन आज भी इस का अवलम्बन करके करते हैं।

आज तो ऐसा समय आगया है कि—'किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य की सिद्धि के लिये निर्धन से धनी तक, दुर्बल से सबल तक सत्याग्रह का ही आश्रयण करते हैं'। परन्तु कवि सावधान करता है कि जो कोई

सत्याग्रह को ग्रहण करके जहां-तहां मारना तोड़ना फाड़ना लूटना आदि करते हैं, वे सत्याग्रह के नाम को कलंकित करते हैं, दूषित करते हैं। उन से करबद्ध सविनय प्रार्थना है कि वे इस काव्य को एक बार अवश्य पढ़ें। इस काव्य को पढ़ने के पश्चात् उनके मन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, और उनकी अच्छी या बुरी कैसी मनोवृत्ति बनती है, इस को उनका ही आत्मा जान सकता है।

इस काव्य में सरल सरस भाषा में विषयों का प्रस्तुतीकरण भी विद्वज्जनमनोग्राही तथा प्रेरणादायक है। प्राचीन एवं अर्वाचीन की संयोगस्थली की भांति इस काव्य का निवन्धन पांच अध्यायों तथा बीस पादों में करके गागर में सागर भरने जैसा प्रयास किया गया है। इस कलाप्रधान यन्त्र-युग में जो नीति को छोड़कर केवल वागाडम्बर से ही जीना चाहते हैं, अज्ञान तथा असमर्थता से असफलता प्राप्त करते हैं, और निकम्मे पुरुष नेता बन जाते हैं, उनको इस काव्य का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। और जो मनुष्य दीर्घायु चाहते हैं, उनको 'परमायुषीय' पाद का आश्रयण करना चाहिये। जिस में सब आवश्यक क्रिया वैद्यकशास्त्र की सारभूत संकलित की है। इसी प्रकार नाना विषयों का समावेश करने से इस काव्य की विशेषता को स्वयं बुद्धिमान् विज्ञजन समझ सकते हैं।

'कस्तूरी को शपथों से प्रमाणित नहीं किया जा सकता'। इस लिये इन पंक्तियों को लिखने या पढ़ने से ही सन्तोष न करके इस काव्य को स्वयं अनुभव में लाना चाहिये। इस काव्य के हिन्दी अनुवाद करने का भी यही प्रयोजन है कि यह सब ही के लिये सुगम और सुपठ हो जाये। कवि ने अपनी 'अनन्त-वृत्ति' लिखकर पाठकों के लिये बहुत सरलता करदी है। इस प्रकार एक ही स्थान पर राष्ट्रनीति, काव्यकला, सत्यख्याति, कर्तव्योपदेश के व्याज से संस्कृत-साहित्य की महती सेवा करने के लिये कवि वास्तव में धन्यवाद का पात्र हैं।

कवि ने 'नाडी-तत्व-दर्शनम्' नामक ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद साहित्य की पहले ही पर्याप्त श्रीवृद्धि करदी है। ज्योतिषशास्त्र का वैदिक-मन्त्र-मूलक ग्रन्थ लिखने का इन का विचार है। ईश्वर इनको दीर्घायु देकर जगदुपकारक महत्तमकार्य करने की सामर्थ्य दें ऐसी नम्रभाव से हमारी जगदीश के प्रति प्रार्थना है॥

कुछ अपने सम्बन्ध में—

श्री पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत जी की प्रेरणा से मैं अविभक्त हरियाणा-पंजाब के समय हिसार जिले की भिवानी नगरी में 'हरियाणा शेखावाटो ब्रह्मचर्याश्रम' में पढ़ाने के निमित्त नियुक्त किया गया था। एक कुटी में वहीं आश्रम में रहते हुए इन वैद्यवर (जो इस काव्य के रचयिता हैं) के दर्शन हुए। प्रथम दर्शनानन्तर मेरे मन में बहुत आदर भाव जागा। कुछ दिनों में इस काव्य को कविमुख से ही मैंने सम्पूर्ण सुना। तब से कवि ने अपने प्रीतिभाव से इस काव्य के प्रकाशन, सम्पादन, हिन्दी अनुवाद, अलंकार-समावेश आदि कार्यों में मुझे नियुक्त कर दिया। अपनी कम शक्ति तथा कम साधनों के होते हुए भी कवि की अलौकिक प्रतिभा तथा उदारता और प्रेम को देखकर मैंने इस कार्य-भार को स्वीकार कर लिया।

प्रथम संस्करण

संस्कृतज्ञ कम्पोजीटरों के अभाव के कारण मैंने स्वयं तथा मेरे ही दो लघु भ्राताओं ने सारा काम अपने ही प्रेस में किया। परन्तु वासिष्ठ महोदय के अपूर्व धैर्य तथा उदारता से कुछ विलम्बोत्तर ही कार्य पूर्ण होना सम्भव था। यह सब कुछ स्मरण करके जो कमियां इस काव्य में रह गयी हैं, उनके लिये मैं ही दोषी हूं। कहा भी है—

'नेत्र यन्त्र और परिचारक के दोष से, तथा लेखक के लिपिदोष से बहुत से दोष रह जाते हैं। दयालुजन उनको नगण्य करके गुण-ग्रहण करेंगे, और इस विभूतिमय रचना का समादर करेंगे। यह युगानुकूल कविवर 'सत्यदेव' की रचना सदा ही मानव-हृदयों में अमर रहे' ॥:

दीपावली २०१५ }
मन्दसौर }

विदुषामनुचरः
डा० रुद्रदेव त्रिपाठी

—: सत्याग्रह-नीति-काव्यस्य :—

पर्यालोचकान् प्रति

अये सम्मान्य-महोदयाः !

संशोध्य संशोध्य विशुद्धशब्दैः,
संवर्द्ध्य संवर्द्ध्य मनोज्ञभावैः ।
सन्दाय सन्दाय महार्घकालं,
संयोजितं काव्यमिदं गुणाढ्यम् ॥१॥

कर्ता कृतौ पश्यति नैव दोषान्,
लोकः कृतौ पश्यति दोषमेव ।
लेखे च भावे स्खलनं भवन्तः,
पश्यन्तु सूक्ष्मेक्षिकया सुविज्ञाः ! ॥२॥

आलोचक विद्वानों के प्रति कवि का निवेदन

हे माननीय सज्जनो !

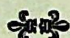
मैंने इस 'सत्याग्रह-नीतिकाव्य' के शब्दों को (व्याकरण के नियमों से) पुनः पुनः संशोधित कर, अपने मानस से उठे हुए सुन्दर विचारों से परिवर्द्धित कर, तथा अपने जीवन का बहुत-सा समय दे-देकर सर्व-गुण-सम्पन्न काव्य का प्रणयन किया है ॥१॥

काव्यकर्त्ता अपनी कृति में दोषों को नहीं देख पाता है, किन्तु लोकविद्वज्जन उसकी कृति में दोषों को देखते हैं। अतः हे विज्ञजनो! आप सूक्ष्मदृष्टि से मेरे इस लेख और भावों में दोषों को देखें। २॥

किं वच्मि विज्ञाः ! किमु नाऽत्र वच्मि ?
कृपाप्रसृत्याऽस्ति तितीर्षणं मे ।
तस्माद् विशुद्धेन हृदा विलोक्य,
संसूचनीयं लघु सूचनीयम् ॥३॥

नानाविधा विघ्न-समुद्रवीचीः,
प्रातीर्य मान्याः ! भवतां पुरस्तात्,
काव्यं मदीयं परिवीक्षणाय,
स्वान्तेन शान्तेन पुरस्करोमि ॥४॥

काव्यं महत्तरं चैतदन्तरायाश्च सर्वतः ।
तस्मात् प्रयत्नमास्थाय, वीक्षणाय समीरये ॥५॥



हे विज्ञो ! मैं प्रस्तुत काव्य के बारे में क्या कहूं ? और क्या न कहूं ? (आप स्वयं सुज्ञ हैं।) अतः आप निर्मल चित्त से इस काव्य में दोषों को देखकर मुझे शीघ्र सूचित करिये (जिससे मैं उन त्रुटियों को परिमार्जित कर सकूं)। क्योंकि आपही विद्वानों की कृपा-दृष्टि से मैं इस समुद्र को पार करने की अभिलाषा कर रहा हूं ॥३॥

विविध विघ्न-बाधाओं की तूफानी तरङ्गों से किसी प्रकार अपने को बचाकर हे मान्य सज्जनो ! आपके समक्ष इस काव्य को शुद्ध हृदय और शांत भाव से पर्यालोचन के लिए रख रहा हूं ॥४॥

यह काव्य महत्त्वपूर्ण है—यह कवि-कर्म अत्यन्त विस्तृत है, और विघ्न चारों ओर छाए हुए हैं ही। इसलिये प्रयत्नपूर्वक इस काव्य के निरीक्षणार्थ प्रेरणा देता हूं ॥५॥

निवेदकः—

कविः सत्यदेवो वासिष्ठः

* समर्पणम् *

—:o:—

अव्यक्ते सर्वभावानां,

यतो भावः स्वभावतः ।

तस्मादध्येतृमात्राय

ससम्मानं

समर्प्यते ॥ कि॰मि॰लि॰ लेखः।

अध्येताऽत्रात्मनो रूपं,

पश्येत् काव्यामृतं पिबन् ।

समर्पकः—

सत्यदेवो वासिष्ठः

प्रणेता—

स्वोपज्ञस्य सत्याग्रहनीतिकाव्यस्य

—: स्वोपज्ञ-सत्याग्रह-नीतिकाव्यस्य विषयानुक्रमणिका :—

प्रथमाध्यायस्य 'दुर्जनगर्हात्मकः' प्रथमः पादः

प्रथमाध्यायस्य 'सुजनप्रशंसात्मकः' द्वितीयः पादः

प्रथमाध्यायस्य 'क्षुत्क्षामीयात्मकः' तृतीयः पादः

प्रथमाध्यायस्य 'अहिंसाव्रतमाहात्म्यीयः' चतुर्थः पादः

द्वितीयाध्यायस्य 'राष्ट्र-पतनोत्थानीयः' प्रथमः पादः

द्वितीयाध्यायस्य 'त्रिविध-राजभेदीयः' द्वितीयः पादः

द्वितीयाध्यायस्य 'स्वराज्य-महिम-वर्णनीयः' तृतीयः पादः

द्वितीयाध्यायस्य 'सदैवमृद्वीयः' चतुर्थः पादः

तृतीयाध्यायस्य 'वारिपटुतीयः' प्रथमः पादः

तृतीयाध्यायस्य 'आदर्श-कर्म-वर्णनीयः' द्वितीयः पादः

तृतीयाध्यायस्य 'उद्बोधनीयात्मकः' तृतीयः पादः

तृतीयाध्यायस्य 'षड्तुवर्णनीयः' चतुर्थः पादः

चतुर्थाध्यायस्य 'नानावर्षगणीयः' प्रथमः पादः

चतुर्थाध्यायस्य 'सन्मित्रमाश्रयीयः' द्वितीयः पादः

चतुर्थाध्यायस्य 'आप्तविद्यीयः' तृतीयः पादः

चतुर्थाध्यायस्य 'धर्माभिधः' चतुर्थः पादः

पञ्चमाध्यायस्य 'सत्यविभूतिनामा' प्रथमः पादः

पञ्चमाध्यायस्य 'परमायुषीयः' द्वितीयः पादः

पञ्चमाध्यायस्य 'ऋतुचर्याभिधः' तृतीयः पादः

पञ्चमाध्यायस्य 'स्वातन्त्र्यीयः' चतुर्थः पादः

स्वोपज्ञानन्तवृत्ति-विराजितम्

सत्याग्रह-नीति-काव्यम्

राष्ट्रभाषानूदितञ्च

साहित्य-संगीत-कलाविहीनः,
साक्षात्पशुः पुच्छ-विषाणहीनः ।
तृणन्न खादन्नपि जीवमानः,
तद् भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

—: ओ३म् :—

[अथ स्वोपज्ञयाऽनन्ताभिधवृत्त्या विराजितम्]

सत्याग्रह-नीतिकाव्यम्

मङ्गलाचरणम्

तत्र निर्विघ्नतया समाप्तिमीहमानः कविस्त्रयोदशभिः पद्यैर्मङ्गलमाचरति—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्त' इति महाभाष्यवचनात् ।

काल-दिग्भिरमेयाय, सत्यधृन्मात्रमूर्त्तये ।
सत्तपस्त्यागयुक्ताय, नमः सत्याग्रहाय[1] ते ।।१।।

१. सत्यमेव आ=समन्ताद् ग्रहः शरीरं यस्य तस्मै भगवते, सत्याग्रहरूपयुद्धाय चेति श्लेषालङ्कारः ।

अहिंसा सत्यमस्तेयो, ब्रह्मचर्योऽपरिग्रहः ।
यं श्रितस्तमहं वन्दे, सदा सत्याग्रहं शुभम् ।।२।।

—सत्याग्रह-नीतिकाव्य का राष्ट्रभाषानुवाद—

सत्यं सत्ये समासीनाः, संसृतौ सत्पदं श्रिताः ।
सर्वेश्वर-स्वरूपं तं, सत्यमेव समाश्रये ।।

प्रस्तुत काव्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये तेरह पद्यों से कवि 'मङ्गलाचरण' करता है—

जो काल और दिशा के माप-दण्ड से नापा नहीं जा सकता, जो सत्यरूपी शरीर को धारण करता है, और जो उत्कृष्ट तप एवं त्याग से युक्त है, उस सत्याग्रह [सत्यरूप आग्रह=सर्वतोभावेन शरीर धारण करने वाले भगवान्] के लिये नमस्कार हो ।।१।।

इस पद्य में श्लेषालङ्कार है ।

अहिंसा—सर्व प्राणियों की हिंसा=प्राणवियोग न करना; **सत्य**—मन वचन और काया से जो देखा-सुना गया हो उसे यथार्थ कहना; **अस्तेय**—

जञ्जमीति[१] च मां मृत्युर्जरीर्हर्ति च काञ्चनम् ।
दरीदर्शिम च सत्य ! त्वां, दिक्षु सर्वासु रक्षकम् ॥३॥

१. 'जमु-अदने' भ्वादिको धातुस्तस्य यङ्लुकि प्रयोगः ।

किं करोमि क्व गच्छामि, कं भोः ! शरणमाश्रये ।
सत्यदृष्टचा विना सर्वं, जगन्निष्प्रभमस्ति मे ॥४॥

त्वं पापनाशकं सत्य ! भववारिधि-तारकम् ।
पाहि मां भव-भीष्माब्धेस्तवैवाग्रहमागतम् ॥५॥

तपस्विनो दानपरा मनीषिणो, यशस्विनो वेदविदो महर्षयः ।
न मुक्तिमायान्ति विना सदाग्रहं[१], सदाग्रहायैव नमोऽस्तु मे सदा ॥६॥

१. सत् सत्यं, प्रशस्तमभ्यर्चितम् । तथाह चामरे—'सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्चिते च सद्' इति (का० ३ नानार्थवर्गे) । तस्य आग्रहस्तं सदाग्रहं=सत्याग्रहमिति यावत् । तथैव सदाग्रहायेति च ।

परद्रव्य आदि की चोरी न करना; ब्रह्मचर्य—इन्द्रियों का संयम रखना; तथा अपरिग्रह—भोग-साधनादि सामग्री का संग्रह नहीं करना [ये पांच यम] जिस का सुचारु रूप से अवलम्बन लिये हुये हैं । उस शुभ सत्याग्रह को मैं वन्दन करता हूं ॥२॥

हे सत्य ! मुझे मृत्यु बार-बार अपना भोज्य बना रहा है, और मेरे पास जो भी काञ्चन=सुवर्ण अथवा आत्मज्ञान-सम्बन्धी पूंजी है, उस का अपहरण कर रहा है । किन्तु फिर भी सर्व दिशाओं में एकमात्र तुझे ही मैं अपना रक्षक देख पा रहा हूं ॥३॥

क्या करूं ? कहां जाऊं ? और किस की शरण का सहारा लूं ? मुझे तो सत्य-दृष्टि के बिना सारा जगत् हतप्रभ प्रतीत हो रहा है ॥४॥

हे सत्य ! तू पाप-नाशक है, और तू ही भव-सागर से पार करने वाला है । संसाररूपी इस घोर समुद्र में गिरा हुआ मैं तेरे ही आग्रह=शरण में आया हूं, तू मेरी रक्षा कर ॥५॥

(विविध शास्त्र-रीति से) तपस्या करने वाले, दान देनेवाले, बुद्धिमान्, यशस्वी, वेद को जानने वाले और महामुनिगण भी सत्य के आग्रह से रहित होकर मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं। इसीलिये हे सत्याग्रह ! तुम को हीं मेरा सदा नमस्कार हो ॥६॥

किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुक्कसा, आभीर-कङ्का यवनाः खसादयः ।
अन्ये च पापा ऋतधारणाश्रयाद्विशुद्धिमाप्ता ऋतपाय ते नमः[१] ॥७

१. अत्र 'कुवलयानन्द'कारदृष्टया किरातादीनां सत्यधारणाद्विशुद्धि-प्राप्ति गाथास्मरणाद् 'ऐतिह्यालङ्कारः' ।

चिन्त्यां सदा सुचरिताचरणैरुपेतां,
दृप्तस्य दर्प-दलनीं दुरितैरगम्याम् ।
नित्यात्म-सयमतया परिपातुमर्हीं,
सत्याग्रहिन्! तव नमामि सदात्मशक्तिम् ।।८॥

त्यक्त्वा सुदुस्त्यज-जनेप्सित-कीर्त्ति-तृष्णां,
सन्निष्ठ ! सत्यवचसा शुचि सत्यनाम ।
सत्याग्रहाय हृदये लषितं यतस्तत्,
सत्याग्रहिन्नभिनमामि तवात्मशक्तिम् ।।९॥

तेजःपते ! दुरित-तापज-भीतिहारिन् !
वाञ्छा न मे हृदि वदामि रजस्तमोजा ।

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर=अहीर, कङ्क, यवन और खस आदि विविध धर्म और जाति के ये व्यक्ति, एवं अन्य जातियों के पामर प्राणी सत्य-धारण के सहारे से ही पूर्ण शुद्धि को प्राप्त हो गये हैं। अतः सत्य-धारण करने वालों के रक्षक तुझ सत्याग्रह के लिये मेरा नमस्कार हो ।।७॥

निरन्तर चिन्तनीय, सच्चरित के आचरणों से युक्त, अभिमानियों के गर्व का खण्डन करने वाली, निष्कलङ्क, नित्य आत्म-संयम के कारण (सब का) पालन करने में समर्थ, ऐसी तेरी आत्म-शक्ति को हे सत्याग्रही ! मैं सदा नमन करता हूं ।।८॥

बड़ी कठिनाई से छूटने वाली, एवं प्रत्येक प्राणी के द्वारा ईप्सित कीर्ति की तृष्णा को छोड़कर सत्य-पालन करने वाले हे सत्याग्रही ! सत्य-वचन से पवित्र और सच्चा नाम है जिस का ऐसे सत्याग्रह के लिये जिसने अपने मन में वह अभिलाषा की, ऐसे तेरी आत्म-शक्ति को मैं नमन करता हूं ।।९॥

हे तेजो-निधान ! हे पापरूपी ताप से उत्पन्न भय का वारण करने वाले ! मैं कहता हूं कि—मेरे मन में रजस् अथवा तमस् से प्रादुर्भूत कोई

सत्याग्रहे प्ररमतां चपलं मनो मे,
सत्याग्रहाद् हृदयमस्तु यतो विपापम् ॥१०॥

सत्य ! त्वमेषि तपसां सुहृदां मनांसि,
दर्पं व्यपेतुमनसश्च भजन्ति ये त्वाम् ।
भूयोऽनृते व्यवहरन्नपि दोषयुक्त—
स्त्वामाह्वये हृदयमेहि मनः पुनीहि ॥११॥

जानन्तु देव[1] ! तव दिव्य-यशोविभूतिं,
विज्ञा ! विशेषतपसा हृतकिल्विषा ये ।
अज्ञान-दोष-वितते हृदये मदीये,
रूपं प्रकाशय निजं तमसः परस्तात् ॥१२॥

१. गुणातिशयस्याधारकत्वादत्र 'देव'शब्दस्य प्रयोगः । सत्यस्य गुणातिशयो व्यक्त एव ।

सत्याग्रहात्मकसरस्त्वतिगाढनीर—
मीर्ष्यादि[1]-जन्यमकरादिक-विघ्न-पूर्णम् ।
जीर्णं वपुः शिथिलमानसता तथाऽपि,
पारं तवाश्रयबलादयि ! यान्ति धन्याः[2] ॥१३॥

इच्छा नहीं है । (यदि है तो यही कि) मेरा चञ्चल मन सत्याग्रह में रमण करे, और उस सत्य के ग्रहण से मेरा हृदय निष्पाप बन जाय ॥१०॥

हे सत्य ! तुम तपस्वी, अच्छे हृदय वाले, और अपने असत्य से उद्भूत अभिमान को दूर हटाने की इच्छा वाले, तथा जो तुम्हारी आराधना करते हैं—उनके मन में निवास करते हो । फिर भी मैं (यदा कदा) असत्य व्यवहार के कारण दोष-युक्त बना हुआ तुम्हारा आह्वान करता हूं । तुम मेरे हृदय में आओ, और मेरे मन को पवित्र करो ॥११॥

हे सत्यरूपी देव ! विशिष्ट तप के द्वारा जिन्होंने अपने पापों का नाश कर दिया है, वे विज्ञ तुम्हारे दिव्य यश की शक्ति को पहिचानें । एतदर्थ तुम मेरे अज्ञानरूपी दोष से युक्त हृदय में अन्धकार से परे रहने वाले अपने रूप-तेज का प्रकाश करो ॥१२॥

सत्याग्रहरूपी सरोवर अत्यन्त गहरे जलवाला है, और उसे पार करने में ईर्ष्या (मानसिक द्वेष, परद्रोह, परनिन्दा, परिताप एवं स्वार्थ) आदि मानसिक दोषरूपी मकरादि जल-जन्तुओं का विघ्न पूर्णरूपेण विद्यमान है ।

१. आदिशब्दाद् 'अभिध्या-परद्रोह-परनिन्दा-परिताप-स्वार्थादयो मनसो दोषा ग्राह्या' । २. अत्रोपमालङ्कार ।

हेतु-निरूपणम्

तत्रास्य सत्याग्रह-नीतिकाव्यस्य निबन्धने हेतुमाचष्टे, 'हेतुमद् ब्रूयाद्' इत्याप्तवचः प्रामाण्यात्—

सत्यस्य गीतिर्निगमेषु[1] गीता,
सत्यस्वरूपेण विभु[2]र्विशिष्टः ।
सत्यस्य कीर्तिः कविभि[3]र्निबद्धा,
गायामि सत्यं स्वतमो ऽपहर्त्तुम् ॥१॥

१. वेदेषु । २. प्रभुः स्वयम्भूरीश्वरः । ३. वेदानुकूलार्षाम्नायकर्तृभिः क्रान्तदर्शिभिः । ४. स्वकीयमज्ञानान्धकारम् । पद्येऽस्मिन् प्रकृतार्थानां प्रसिद्धक्रमानुसारिन्यसनाद् रत्नावलिरलङ्कारः ।

इधर (कारावास के कारण) शरीर भी क्षीण हो जाता है, तथा मन में भी उत्साह नही रहता । फिर भी हे सत्य ! केवल तुम्हारे आश्रयरूपी बल से (जो सत्याग्रही) उस के पार पहुंच जाते हैं, वे (सत्यमेव) धन्य हैं ॥१३॥

हेतु-निरूपणम्

प्रस्तुत 'सत्याग्रह-नीतिकाव्य' के निर्माण का हेतु बतलाते हुये कवि सत्य की वास्तविकता की ओर लक्ष्य करके कहता है—

सत्य (जिस के निमित्त प्रस्तुत काव्य का प्रणयन हुआ है, उस) की महिमा वेदों में गाई गई है। ईश्वर भी सत्य-स्वरूप होने के कारण विशिष्ट माना जाता है । वेद के अनुकूल ऋषिभाषित आम्नायों के प्रणेता क्रान्तदर्शी कवियों ने सत्य की कीर्ति का (अपने काव्यों में) सङ्कलन किया है । इसलिये मैं (काव्यकर्त्ता) अपने (अज्ञानरूपी) अन्धकार को दूर करने के लिये सत्य का गुण-वर्णन करता हूं ॥१॥

सत्येन लोके पिशुना विमृष्टाः,
सत्येन भूमौ यश आप्तमग्र्यम् ।
सत्यं दुराप कुरुते सुखाप्यं,
गायामि सत्यं सुरवर्गगेयम् ॥२॥

सत्यं प्रकाशोऽनृतमेव मोहः[1],
सत्यानृताभ्यां पुरुषोऽत्र लोके ।
सत्यं वचः सत्यमयं च कर्म,
देवस्य तस्मात् कवयामि सत्यम् ॥३॥

१. 'मोहात्मकं तम' इति प्रामाण्यात् ।

सत्यस्य गीतिः सकलेश[1]-गीति—
स्तयाऽत्र सर्वो वशमेति लोके ।
धाता स्तुतो मे वशमेतु नूनं,
तस्मात् प्रयत्नात् कवयामि सत्यम् ॥४॥

१. कलया सहितं सकलं, सकलस्य जगत ईशः=सकलेशः,तस्य गीतिर्गानम् ।

संसार में (इसी) सत्य से दुर्जन विनाश को प्राप्त हो गये । सत्य के माध्यम से ही पृथिवी पर (सज्जनों ने) सर्व-मूर्धन्य यश को प्राप्त किया । सत्य अप्राप्य वस्तु को सरलता से प्राप्त होने योग्य बना देता है । अतएव देवताओं द्वारा गाये जाने वाले इस सत्य का मैं गुणगान करता हूं ॥२॥

सत्य प्रकाश-स्वरूप है, और झूठ मोहरूपी अन्धकार का द्योतक है । सत्य और झूठ (इन दोनों का संयोग होने से ही) इस लोक में (प्राणी) पुरुष कहलाता है । (क्योंकि) उस परमात्मा के तो वचन भी सत्य हैं, और कर्म भी सत्यमय हैं (इसलिये वह देव कहलाता है), अतः मैं सत्य से सम्बन्ध जोड़ने वाले इस काव्य का निर्माण करता हूं ॥३॥

जो सत्य की महिमा का वर्णन है, वही जगदीश्वर की स्तुति है । उस गीति-स्तुति से संसार में सभी वशीभूत=प्रसन्न होते हैं । यही कारण है कि मैं भी सत्य की स्तुति करने में प्रयत्नशील बना हूं । इस स्तुति (रूपः काव्य) से वह परब्रह्म विधाता मेरे वश में हो, अर्थात् मुझ पर प्रसन्न होवे (यही एकमात्र कामना है) ॥४॥

श्रुतिं विभुः काव्यमयीं[1] चकार,
श्रुतिः श्रुतौ प्रीतिमुपैति काव्यात्[2] ।
मयाऽल्पसत्त्वेन कृतं हि काव्यं,
सत्याश्रयात् प्रीतिपदं प्रयातु ।।५।।

१. 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' इति श्रुतिः। तथा च—'न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्' इति च श्रुतिः। अत्र श्रुतिरभिमतार्थे प्रमाणत्वेनोपन्यस्ता। तस्मात् 'स्मृत्यलङ्कारः'। २. कवित्वभावात् श्रुतिः श्रवणयोः प्रियतरा भवतीति भावः।

ऋतं न लोके व्ययते[1] कदाचित्,
कालोऽव्ययः सन् व्ययतेऽथ लोकान् ।
कालाश्वमारुह्य यदत्र गीतं,
कालेन भुक्तं[2] प्रणमामि कालम् ।।६।।

१. अन्तर्भूतण्यर्थोऽय धातुः। २. कालेन समयेन भुक्तं कवलीकृतमर्थात् वास्तविकं वृत्तमाश्रित्य लिखितम्।

जन्मान्तरीयं दुरितं चितं यत्,
तन्मार्जनायैव मया प्रयस्तम् ।
सत्येन गीतेन लयं तदेयाद्,
गायाम्यत. सत्यवचः प्रकामम् ।।७।।

ईश्वर ने वेदों को काव्यमय बनाया है, तथा काव्यादि के श्रवण से कर्णेन्द्रिय को प्रसन्नता होती है। मैं तो अल्प-प्राण=अकिञ्चन हूं—मेरे द्वारा प्रणीत यह काव्य यथार्थतः सत्य के सहारे ससार का प्रीतिपात्र बने ।।५।।

जगत् में सत्य कभी क्षीण नहीं होता, किन्तु काल अक्षय बनकर प्राणियों को मिटाता रहता है। मैं उस काल को प्रणाम करता हूं—जिस के अश्व पर चढ़कर ही अपने जीवन-काल में उपभोग=अनुभव की गई घटनाओं का वर्णन यहां किया गया है ।।६।।

मेरा यह (काव्य-रचना का) प्रयास जन्मान्तर के सञ्चित पापों के विनाश के लिये ही है। और निरन्तर मैं (अपनी वाणी द्वारा) सत्य का गान भी इसीलिए करता हूं—कि इस सत्यगीत के माहात्म्य से मेरे वे पाप विलीन हो जांय ।।७।।

'काव्यं कवीनां सरसं हि कर्म.'
किं वच्मि[१] ? तत् तैः कुपथे प्रणुन्नम् ।
व्यामोह्य तल्लाञ्छनमत्र काव्ये,
काव्यं करोम्याप्तजनानुशिष्टम् ॥८॥

१. किं कुत्सितं वच्मीत्यप्यत्राकूतम् ।

प्राज्ञा ! मदुक्तं यदि रोचते वः,
काव्यं कुरुध्वं दुरितापहारि ।
नीचैः प्रपित्सुः स्वत एव मर्त्यो
यूयं च नीचैर्नु कुतः प्रयाथ ? ॥९॥

उच्चैः कवेः कर्म किमस्ति ? काव्य—
मूर्ध्वो विवस्वानथ सत्यमुच्चैः ।
उच्चैः पदे ब्रह्मणि मे सुषुप्सा,
तां सत्यकाव्यं विदधातु सत्याम् ॥१०॥

'काव्य कवियों का सरस (रसादि-युक्त एवं उत्तम) कर्म है'। यदि उन का यह कर्म बुरे मार्ग पर प्रवृत्त हो जाए, तो उस के सम्बन्ध में मैं क्या कह सकता हूं ? (केवल किं=कुत्सित ही कह सकता हूं) । अतः इस काव्य में मैं उस (व्यर्थ के शृङ्गार-हास्यादि दोष-जनित) कलङ्क को दूर रखकर पूर्वाचार्यों के आदेशानुकूल (सत्य का) वर्णन करता हूं ॥८॥

हे विद्वज्जनो ! यदि आपको मेरी उपर्युक्त बात अच्छी लगती हो, तो जो काव्य (अपने, पराए, समस्त जाति, समाज और देश के) पाप एवं कुत्सित विचारों को दूर करे, ऐसे काव्य का निर्माण करो । क्यों कि मनुष्य तो वैसे ही अधःपतनशील है, फिर उसके साथ तुम क्यों नीचे जा रहे हो ? ॥९

कवि का सब से ऊंचा कर्म क्या है ? काव्य । सूर्यनारायण भी सर्वोच्च स्थान (सूर्यलोक) में निवास करते हैं, तथा सर्वोत्तम वस्तु=पद भी सत्य (लोक) ही है । अतः उसी सत्य ब्रह्म के उच्च पद में मेरी लीन होने की अभिरुचि है । उस को यह 'सत्याग्रह-नीतिकाव्य' सत्य बनावे=सफल करे ॥१०॥

उपसंहरति—

सत्यदेव[1]-पदं प्राप्तुं, सत्यां नीतिं समाश्रये।
स्वानुभूत्यागमेनात्र[2], गीतं सत्यं प्रसीदतु[3] ॥११॥

१. कवेर्नामापि 'सत्यदेव' इति प्रसिद्धम। २. आगमस्तावद् वेदः, तदनुकूलमाप्तवाक्यञ्च। ३. अत्र सूच्यार्थसूचनेन 'मुद्रालङ्कारः श्लेषश्च'।

सत्याग्रहस्यादिस्रोतः

सत्याग्रहस्यादिमं स्रोतः प्रकृतिरेव, सा च सनातनात् कालात् सत्याग्रहमुपदिशन्ती प्रत्यक्षतश्च परिणमन्त्यास्ते, इति ज्ञापनाय पद्येन विस्पष्टयति—

लोकान् सर्वविधान् विचार्य पुरतः को[1] व्याकरोत् पूर्ववत्,
मर्त्यं वाऽथ पशुं वियच्चरमथाब्जं स्वेदजं भूरुहम्।
नैवाऽद्याप्यजहात् स्वसत्यनिभृतां[2] सन्धां कविः[3] सद्ग्रही,
जातो नो क्षमते परं प्रसवितुं योनी[4] पृथक् चेत् पृथक् ॥१॥

१. कः=ब्रह्मा। २. सन्धां=प्रतिज्ञाम्। ३. कविः=स्वयम्भूरीश्वरः। ४. प्रथमाद्विवचनम्। चतुर्थचरणं व्याचष्टे—अथ

उपसंहार—

मैं सत्यदेव के पद की प्राप्ति के लिए सत्यनीति का आश्रय ग्रहण करता हूं। इस श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित स्वानुभूति-जन्य रस से परिपुष्ट सत्य के महिमा-वर्णन से वह सत्यरूप पूर्णब्रह्म प्रसन्न होवे ॥११॥

इस में कवि ने 'सत्यदेव' पद से अपने नाम का भी निर्देश कर दिया है, अतः यहां श्लेष-पुष्ट 'मुद्रा' अलङ्कार है।

सत्याग्रह का आदिस्रोत

ब्रह्मा ने लोक-लोकान्तरों को बनाने से पहले बहुत अच्छी प्रकार सोच विचार करके उन्हें बनाया था। आज तक भी उस में कोई परिवर्तन नहीं किया है। जैसे पहले मनुष्य को बनाया था, वैसे ही आज भी उत्पन्न हो रहा है। इसी प्रकार जिस पशु को जिस प्रकार के नियम से उत्पन्न प्रथमतः किया था, उसी प्रकार से आज भी

यदि पृथक् पृथक् योनी मिथुनीभावाय गच्छतश्चेत् तयोर्जातं यदपत्यं तत् परं अन्यं विकृतयोनिमिथुनीभावजं प्रसवितुं समर्थं न भवति। तद्यथा—गर्दभवडवयोश्च संयोगाज्जातमपत्यं पुनः तौ अश्वतरोऽश्वतरी च संतानसंतानाय न समर्थौ भवतः,कुतः मिथ्याग्रहवत्वात् तयोः। अतो ज्ञायते न भगवतो विश्वेश्वरस्य दुराग्रहे प्रीतिरस्तीति। अथ चेत् तौ पुनरपि मिथुनीभावं गच्छतस्तदा न योनितस्तस्य प्रसवो भवतीति नित्यं जगति दृश्यते,अपि तु मातुरुदरं विदार्य तस्य प्रादुर्भावः क्रियते। अतो ज्ञायते—फलत्येवैकदा कदाचिद् दुराग्रहोऽपि, परन्तु न चिराय कल्पत इति प्रकृतिर्द्रढयति॥

उत्पन्न कर रहा है। इसी प्रकार जलचर सृष्टि तथा स्वेदज लीख जूं पतङ्गादि, तथा च नानाविध वृक्ष, क्षुप, लताएं, घासादिक को उत्पन्न कर रहा है। इस से ब्रह्मा की सत्याग्रहवती प्रवृत्ति व्यक्त हो रही है, तथा च वह सब प्रकार से सत्याग्रह का ही मनुष्य को उपदेश दे रहा है। यदि कोई अहम्मन्य सत्याग्रह को छोड़कर दुराग्रह का अनुशीलन करता है, तो भगवान् शङ्कर उस का साथ नहीं देते। जैसे यदि दो भिन्न भिन्न योनियां परस्पर मैथुन करके संतान उत्पन्न करें, तो वह दो भिन्न-भिन्न योनिज पुनः परस्पर संयोग को प्राप्त करके संतान की परम्परा को चलाने में समर्थ नहीं होते। इतने पर भी यदि कोई हठ करे ही, तो उन दोनों की संतान को माता का पेट फाड कर निकालना पड़ता है। जिस का फल होता है संतान-क्रम का रुक जाना। हां, दुराग्रह एक बार तो अपना अच्छा या बुरा फल सङ्ग लाता ही है, परन्तु उस के पांव नहीं होते। अतः सत्याग्रह का आदि-स्रोत स्वयं यह प्रकृति ही है, जो दिन रात सत्याग्रह करने का उपदेश अपने व्यवहार से दे रही है॥१॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

तत्र 'दुर्जनगर्हात्मकः' प्रथमः पादः

अथेदानीं भवति सत्याग्रहकाले कार्यसंलग्नतां प्रदर्शयति—

करिष्यामि निजं कार्यं, त्वं तु सत्याग्रहं भजेः ।
अन्योऽन्यं प्रेरयन्नेवं, जनः स्वेष्टं प्रधावति ॥१॥

प्रतिस्पर्धां च चित्रयति—

असौ सत्याग्रहं कुर्यात्, तदा कुर्यामहं मुदा ।
नो चेन्नाहं स्पर्धमानौ, च्युतौ कालहयादुभौ ॥२॥

अन्योऽन्यं प्रेरयतः स्पर्धमानान् वा जनान् समवलोक्य सत्याग्रहा-योच्चिक्रमिषुः कश्चन स्वात्मानमवबोधयति—

यतते कश्चिदेवात्र, वीरः सत्याग्रहाय वै ।
धिक्कृत्य मनुजानन्यान्, स्वार्थसक्तान् सतोद्रुहः ॥३॥

स्वान्त ! कान्तं स्वगन्तव्यं, मा जहीहि जनोक्तिभिः ।
सत्याग्रहं भजस्वालं, देशत्राणाय निश्चितम् ॥४॥

[प्रथम अध्याय का प्रथम पाद]

आरम्भ में सत्याग्रह के समय मनुष्यों की कार्य-तत्परता का दिग्दर्शन कराते हैं कि—

भाई ! मैं तो अपना काम करूंगा, तुम सत्याग्रह करो । इस प्रकार एक दूसरे को प्रेरित करके मनुष्य अपने इष्ट की ओर प्रवृत्त होता है ॥१॥

कोई कहता है कि—यदि यह सत्याग्रह करे, तो मैं भी प्रसन्न होकर सत्याग्रह करूं । और यह नहीं करता, तो मुझे क्या आवश्यकता है कि मैं सत्या-ग्रह करूं ? इस प्रकार परस्पर होड़ लगाते हुए दोनों ही समय के घोड़े से गिर गए—अर्थात् समय निकल चुका, और वे उस में भाग न ले सके ॥२॥

यहां कोई विरला ही वीर, स्वार्थी और सत्य के प्रति द्वेष रखने वाले अन्य मनुष्यों का तिरस्कार करके सत्याग्रह के लिए प्रयत्न करता है ॥३॥

अतः हे हृदय ! अपने प्रिय मार्ग को लोगों के कहने से मत छोड़, तथा देश की रक्षा के लिए निश्चयपूर्वक सत्याग्रह कर ॥४॥

देशसेवाकर्मणि सत्यकर्मणि वा कुलीनो विद्यावांश्च प्रेरितो यतते, कुटिलस्तु सत्यप्रेरणां न मनुते—

अजिह्मो राष्ट्रसेवायै, सुखं प्रेर्यः सदा भवेत् ।
कुटिल-स्वार्थ-दग्धानां, नोदनेऽजोऽपि न क्षमः ।।५।।

प्रसङ्गप्राप्तं कुटिलं लक्षणतो विवृणोति—

परार्थं चिन्तयामीति, हेलया स्वार्थसाधकः ।
वैडालव्रतिको लोके, कुटिलः स निगद्यते ।।६।।

व्याजान् नानाविधान् कृत्वा, समयाभावसूचकान् ।
यतते स्वार्थसंसिद्ध्यै[1], कुटिलः सोऽपि कथ्यते ।।७।।

१. स्वात्माभिप्रेतोऽर्थः ।

व्यादायास्यं तु सिंहस्य, दन्तान् सङ्कुलयेत् क्वचित् ।
शक्नोति सत्पथं नेतुं, कुटिलं नेह कश्चन ।।८।।

कदाचिद् यत्नतो मथ्नन्, तोयात्स्नेहमवाप्नुयात् ।
जिह्मं सत्पथि चानेतुं, कृतो यत्नस्तु नश्यति ।।९।।

क्योंकि सरल-हृदय, कुलीन और विद्यावान् मनुष्य राष्ट्र की सेवा के लिए सुखपूर्वक हर समय प्रेरित किया जा सकता है। किन्तु कुटिल और स्वार्थी मनुष्यों को ब्रह्मा भी प्रेरित करने में असमर्थ है ।।५।।

मैं तो परोपकार के लिए चिन्तन करता हूं, ऐसा कह कर जो प्रसङ्ग आते ही स्वार्थ-साधन करने वाला तथा विलाव-व्रतधारी हो; वह लोक में कुटिल कहाता है ।।६।।

और जो अनेक प्रकार के बहाने बनाकर, 'समय नहीं है' (मैं तो दिन-रात काम में लगा रहता हूं) इत्यादि वाक्य कहकर स्वार्थ की सिद्धि में तत्पर रहे, वह भी कुटिल कहलाता है ।।७।।

सिंह के मुंह को चौड़ा करके उसके दांतों की गिनती भी प्रयत्न करने पर हो सकती है। परन्तु (उपर्युक्त दुर्गुणोंवाले) कुटिल को यहां सच्चे मार्ग पर लाने में कोई समर्थ नहीं है ।।८।।

यत्नपूर्वक जल के मन्थन से भी सम्भव है कि तैल निकल आए। किन्तु कुटिल को सन्मार्ग पर लाने के लिये तो जो भी प्रयत्न किए जाएं, वे नष्ट ही होते हैं, अर्थात् उस के निमित्त किए जाने वाले सभी प्रयत्न व्यर्थ होते हैं ।।९।।

निरभ्रे नभसि स्नातुं, वृष्टयद्भिरभिवाञ्छति ।
नीत्वा सत्याग्रहे जिह्मान्, विजेतुं यततेऽत्र यः ॥१०॥

विनीय नयवार्ताभिर्दुर्वृत्तं व्यसनान्वितम् ।
सत्याग्रहीय-संग्रामे जिगीषा किं न मुग्धता[1] ॥११॥

१. अत्रार्थापत्तिरलङ्कारः ।

सहसैवोपदिश्य खलान् निनीषुं प्रति—

निनीषति खलान् यस्तु, संयमालङ्कृते पथि ।
जिघ्रासति खपुष्पं स, निष्फले मन्दधीर्नरः ॥१२॥

तत्र हेतुमाचष्टे—

असाधुः साधुवेषेण, विचरन् मानमीहते ।
अनासाद्य तु सम्मानं, कौटिल्यं कुरुते ध्रुवम् ॥१३॥

नश्वरं मल-मूत्राढ्यं, मांस-शोणित-सञ्चितम् ।
राष्ट्रसेवाकृते देहं, हातुं शक्तो न दुर्जनः ॥१४॥

इतना ही नहीं, किन्तु जो ऐसे कुटिल व्यक्ति को इस सत्याग्रह में लेकर जीतने का प्रयत्न करता है, वह विना वादलों के आकाश से वृष्टि के जल से स्नान की कामना करता है ॥१०॥

दुष्ट वृत्ति वाले और व्यसनों से भरे हुए मनुष्य को न्याय की वात कह कर अपनी ओर प्रवृत्त करके सत्याग्रह-संग्राम में जीतने की इच्छा करना क्या पागलपन नहीं? अपितु है ॥११॥

इस पद्य में अर्थापत्ति अलङ्कार है।

(यही क्यों ?)—जो मनुष्य संयम से अलंकृत (इस सत्याग्रह के) मार्ग में खल व्यक्ति को लाने की इच्छा करता है, वह मन्दबुद्धि व्यर्थ ही आकाश-कुसुम को सूंघने की इच्छा करता है ॥१२॥

असज्जन पुरुष वाह्याडम्वर से अच्छे चरित्र प्रकट करके भ्रमण करता हुआ सम्मान की कामना करता है। किन्तु जब वह सम्मान को प्राप्त नहीं होता तव निश्चय ही कुटिलता करता है ॥१३॥

दुर्जन पुरुष इस नश्वर, मल-मूत्र से दूषित, मांस और रक्त से बने हुए शरीर को भी राष्ट्र की सेवा के लिए त्याग करने में समर्थ नहीं होता ॥१४॥

प्रवृद्धो हुतभुक् कामं, तोयेन प्रशमं भजेत् ।
त्यक्तधैर्यं तु पुरुषं, नाऽलं ब्रह्माऽपि रक्षितुम् ॥१५॥

पुरुषपशुं विवृणोति—

विकलः पुच्छ-शृङ्गाभ्यां, ज्ञान-विज्ञान-वर्जितः ।
अन्नादः पशुवज्ज्ञेयो, यो न धर्माय कल्पते ॥१६॥

रतिर्धर्मे न राष्ट्रस्य, सेवायां नो रतं मनः ।
येषां ते वपुषो भारं, वहन्तोऽटन्ति भूतले ॥१७॥

दुर्जनसङ्गतिं वारयति—

दुर्गमारण्य-गिरिषु, पशुभिः पक्षिभिः सह ।
संवासः सुचिरं श्रेयान्, न पुनर्दुष्ट-सङ्गमः ॥१८॥

समुद्रस्य तलं प्राप्य, जीवितुं प्रभवेन्नरः ।
परं खल-दले लीनमजोऽप्यवितुमक्षमः ॥१९॥

प्रसङ्गप्राप्तं खलं लक्षणतो वर्णयति—

आग यदि अधिक बढ़ जाए, तो वह पानी से जैसे-तैसे बुझाई जा सकती है। किन्तु जो धैर्य से रहित पुरुष होता है, उस को तो ढाढस बंधाने में ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हो सकता ॥१५॥

जो धर्म की रक्षा के लिए तैयार नहीं रहता, उस पूंछ और सींग से रहित, ज्ञान एवं विज्ञान से शून्य और (केवल) भोजन-परायण मनुष्य को पशु के समान जानना चाहिये ॥१६॥

जिन मनुष्यों की न तो धर्म में रति है, न राष्ट्र की सेवा करते हैं, न शास्त्रों का चिन्तन करते हैं, (न तपस्या में लीन रहते हैं और न दान में प्रवृत्ति रखते हैं) वे पुरुष शरीर को धारण करते हुए भी इन्द्रियों के दास बने हुए पृथिवी पर भाररूप होकर विचरण करते हैं ॥१७॥

दुर्गम अरण्यों में व गहन पर्वतों पर पशु और पक्षियों के साथ चिर-काल तक रहना अच्छा तथा कल्याणकर है। किन्तु दुर्जन मनुष्य के साथ (क्षण भर का भी) सहवास उचित नहीं है ॥१८॥

मनुष्य समुद्र के तल में पहुंच कर भी (भाग्यवश) जी सकता है। पर कुटिलों के समुदाय में फंसे हुए की तो ब्रह्माजी भी रक्षा नहीं कर सकते ॥१९॥

स्खलन्तो धर्म-कार्येषु, स्वार्थसन्धान-तत्परा.।
दूरगा राष्ट्रकृत्येषु, खलाः स्युर्लोक-गर्हिताः ॥२०॥

मूर्खस्य मोहं दर्शयति—

मृगतृष्णा-जलं वीक्ष्य, कविभिः किञ्चिदूह्यते।
परन्त्वज्ञानमोहान्धैस्त्यज्यतेऽर्थः करस्थितः ॥२१॥

अत्रोदाहरति—

वाताद[1]-स्नेह-जिघृक्षुः-क्षिप्तं तोयं प्रपीय[2] वै।
त्यज्यते वायुसंहर्त्रा[3], मोहात् स्नेहः स्वको यथा ॥२२॥

१. बादाम इति प्राकृताः। २. पीङ् पाने। ३. वायु-संहर्त्रा=वातादेनेति।

सम्यङ् नुन्नोऽपि कुटिलो, गतिं वामां जहाति नो।
किं गव्यं मधुरं पीत्वा, सर्पो नोद्गिरते विषम् ॥२३॥ आत्मनेपदं दुष्यति

अद्रेः शृङ्गं कथमपि नरः पर्यटन् वाऽधिरोहेत्,
सर्पं कालानलसमविषं धारितुं वा क्षमः स्यात्।

धर्म कार्यों में शिथिल-मनोवृत्ति वाले, स्वार्थ-साधन में तत्पर, और राष्ट्रीय कार्यों में पीछे रहने वाले, लोक से निन्दित 'खल' होते हैं ॥२०॥

मृगतृष्णा के जल को देख कर कवि=बुद्धिमान् व्यक्ति तो कुछ सार निकाल भी लेते हैं (जैसे—यह संसार मृगमरीचिका के समान व्यर्थ है। इस का त्याग करना चाहिए, आदि), पर ज्ञानरूपी प्रकाश के अभाव से अन्धा तो अपने हाथ में स्थित वस्तु को भी मोह-वश छोड़ देता है ॥२१॥

जैसे कि बादाम का तेल निकालने वाला जल का पुट देकर जब उसे कूटता है, तब वह वात को नष्ट करने वाला बादाम मोहवश पानी को ग्रहण करके तेल (जो उसका सर्वस्व है, उस) को छोड़ देता है ॥२२॥

अच्छी तरह शिक्षा देने पर भी कुटिल अपनी वाम गति को नहीं छोड़ता। जैसे सर्प मधुर दूध पीकर क्या जहर नहीं उगलता? ॥२३॥

मनुष्य घूमता-फिरता किसी तरह पहाड़ की चोटी पर भी चढ़ सकता है। कालाग्नि के समान विषवाले सर्प को भी वह धारण कर सकता है। भीषण जल-जन्तुओं (के प्रहार आदि) का भी निवारण करने में

रोध शक्तोऽप्यथ भुवि भवेद् यादसां भीषणानां,
जिह्मस्याहो परमिह मनाग् भेषजं नास्ति लोके ।।२४।।

आत्रेय-धन्वन्तरि-मार्ग-यायिनौ, विषापहाराय सदा प्रभू स्तः ।
मूर्खस्य दोषापगमाय हा पुनर्न, मान्त्रिको नैव च भैषजः प्रभुः।।२५

साम्प्रतं कारागृहे दैन्यदर्शिनः सत्याग्रहिणो लोकप्राप्तां दशां दर्शयति—

सत्याग्रही प्रीतिमुपैति पूर्वं, तमाद्रियन्ते पुरुषाः समस्ताः ।
धनेन धान्येन च पुष्पमाल्यैः, प्रोत्साह्य चैनं वचसोन्नयन्ति ।।२६।।

एवं प्रतिष्ठा-शिखरं सुखेन, लब्ध्वा ततो भ्रश्यति दैन्यदर्शी ।
धैर्याच्च्युतानां पतनं तथा स्याद्, यथा द्रुमाणामवनौ निपातः ।२७।

उक्तं द्रढयति—

विधाय दुष्कृतिं मूढः, स्वयं कीर्तिं व्यपोहति ।
क्षिप्त्वा भाण्डं यथा काकस्तद्ध्वनेश्चोत्पतत्यसौ ।।२८।।

समर्थ हो सकता है । किन्तु इस भूलोक में कुटिल प्राणी की कुटिलता को दूर करने के लिए कोई औषध नहीं है ।।२४।।

चरक-प्रणेता ब्रह्मसम्प्रदायाचार्य महर्षि 'आत्रेय' और क्षात्रसम्प्रदायाचार्य भगवान् 'धन्वन्तरि' इन दोनों के मार्ग पर चलने वाले मन्त्र और भेषज दोनों ही प्रकारों से विष को दूर करने में समर्थ हैं । किन्तु खेद है कि मूर्ख के दोषरूपी विष को उतारने में न मान्त्रिक समर्थ है, और न भैषज=वैद्य ।।२५

सत्याग्रह के प्रारम्भ में सत्याग्रही प्रसन्नता को प्राप्त होता है, तथा समस्त पुरुष=समाज उस का आदर करते हैं । कोई धन देकर और कोई धान्य देकर तथा अन्य पुष्प-हार आदि देकर उस के उत्साह को बढ़ाते हुए वाणी के द्वारा साधुवाद देते हैं ।।२६।।

इस प्रकार प्रतिष्ठा के शिखर को सुख से प्राप्त करके (कारागार के कष्टों से घबरा कर) दीनता दिखाने वाला (उस शिखर से) गिर जाता है । फिर जैसे वृक्षों से गिरे हुए फूल धूल में गिरकर मिट्टी में मिल जाते हैं, वैसे ही उन धैर्य से च्युत होने वालों का भी पतन होता है, और वे भी मिट्टी में मिल जाते हैं ।।२७।।

मूढ़ पुरुष अपनी कीर्ति को दुष्कर्म करके स्वयं मिटा देता है । जैसे—कौआ मूढतावश किसी पात्र (भांडे) को स्वयं गिरा कर फिर उससे उठी हुई प्रतिध्वनि से भयभीत होकर उड़ जाता है ।।२८।।

प्रथमाध्यायस्य 'सुजनप्रशंसात्मकः' द्वितीयः पादः

तत्र तावत् सुजन-प्रशंसने हेतुं युग्मेनाह—

जातोऽस्य[1] सत्त्वाद् विधुरिन्द्रियेशो[2],
लोके प्रसिद्धः स जलाधिराजः।
आपो हि निम्नेऽभिसरन्त्यजस्रं,
मनस्तथैवेति तमः प्रभावात् ॥१॥

नीचैस्तमः सत्त्वमिहोक्तमुच्चैः,
शीतांशुसत्त्वे[3] रवितश्चकास्तः।
पिस्पर्धिषुर्ना सुपथं समेयात्,
स्तुत्योऽस्त्यतोऽसौ कविना सुवर्त्मा ॥२॥

१. अस्य प्रजापतेर्मनसश्चन्द्रमा जातः, 'चन्द्रमा मनसो जातः' इति यजुषि (अ० ३१, मं० १२) उक्तत्वात्। स चन्द्रमा प्राणिनां मनसो देवता, स लोके जलाधिराजोऽपि प्रसिद्धः। तस्माद्यथा जलं नीचैर्वहति, तथैव जलदेवतात्वान्मनसः मनोऽपि मोहादीनासाद्य नीचैस्सरणशीलम्। मनसो नीचैस्त्वं किम्? तमोगुणः। उच्चैस्त्वं किम्? सत्त्वगुणः। शीतांशुश्चन्द्रो रविकिरणैः प्रकाशते। उक्तञ्च श्रुतौ 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुष श्च' (यजु० अ० ७, मं० ४२)। एतेन सिद्धं यदस्माकमन्तरात्माऽपि सूर्य एव। अत एवोक्तं 'शीतांशुसत्त्वे रवितश्चकास्तः' इति।

२. इन्द्रियस्य=मनसो देवता, षष्ठमिन्द्रियं मन इति विवक्षितम्। तस्य मनस ईश इति फलितोऽर्थः।

३. सत्त्वं=मनः। तथा चात्र श्रुतिप्रसिद्धवचसां प्रदर्शनेन स्वाभीष्टं समर्थितम्, अतः 'श्रुत्यलङ्कारः'।

प्रजापति के सत्त्व से मन के अधिपति चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है, और वह लोक में जल के अधिदेवता के रूप में भी प्रसिद्ध है। तथा जल का यह स्वभाव है कि वह नीचे की ओर जाता है, उसी प्रकार तमोगुण के प्रभाव से मन भी नीचे की ओर जाता है। यहां तमोगुण को नीच और सत्त्वगुण को उच्च कहा गया है। चन्द्र और मन ये दोनों सूर्य=आत्मा से प्रकाशित हैं। सत्याग्रही मनुष्य सच्चे मार्ग का अनुसरण करता है, इसलिये सत्यपथगामी वह कवि के द्वारा वन्दनीय है ॥१-२॥

तत्र भाग्यनगरीयकारागृहेषु कीदृशः पुरुषाः सत्याग्रहमारभमाणा आसन्निति तान् पद्येनैकेन निर्दिशति—

वेदज्ञानकृते प्रयासबहुला धीराः प्रशान्ताश्च ये,
विख्याताः खलमर्दनेऽथ यमिनः[1] कायेन वज्रोपमाः[2] ।
स्वातन्त्र्यं निजजन्मसिद्धमखिलं लब्धुं हि सत्याग्रहं,
कृत्वा सन्त्यथ बन्धनालयगता भूपस्य तद् दुर्मतम्[3] ।।३।।

१. संन्यासिनो ब्रह्मचारिणश्च । २. सुदृढशरीरा मल्ला इति । ३. भूपो हि यदा दुर्मन्त्रणामुपेत्यान्याय्यान् नियमान् निर्मिमीते, तदा तान् नियमानुल्लंघयन्ति प्रजाजनाः, राजा च तान् कारावासे वासयति । वस्तुतत्त्वचिन्तनेन ज्ञायते यन्मौर्ख्यं तु राज्ञ एव, परन्तु दण्डयति प्रजाजनान् । तस्माद् वक्तुमर्हते—'भूपस्य तद् दुर्मतम्' इति ।

येषां नियमानां विरोधाय सत्याग्रह आस्थितस्तानष्टनियमान्निर्दिशति—

निषिद्ध आसीत् किल तत्र यज्ञः,
सम्भूय[1] सन्ध्याऽपि निवारिताऽभूत् ।
सस्कार-कृत्यानि निराकृतानि,
देवालयानां रचना निषिद्धा ।।४।।

१. सम्भूय=एकीभूयेति ।

हैदराबाद राज्य में प्रयुक्त सत्याग्रह के कारण कारागार में कैसे-कैसे व्यक्ति थे । उनका वर्णन करते हुये कवि कहता है कि—जिन्होंने वेद-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु बहुत परिश्रम किया है, जो धीर हैं, जो शान्त हैं, जो दुष्टों के दलन में प्रसिद्ध हैं, जो इन्द्रियों का दमन करने वाले संन्यासी और ब्रह्मचारी हैं, और जो वज्र के समान सुदृढ शरीरधारी पहलवान हैं । वे सब राजा की दुर्बुद्धि के कारण हैदराबाद राज्य के कारागार में अपने जन्मसिद्ध स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिये सत्याग्रह करके बन्धन को प्राप्त हुये हैं ।।३।।

क्यों कि उस राज्य में निम्नलिखित कार्य निषिद्ध थे—

वहां यज्ञ करने का निषेध था । एक साथ सामूहिक रूप में सन्ध्या करने की भी आज्ञा नहीं थी, (जो षोडश संस्कार हिन्दुओं में किए जाते हैं उन) संस्कारों के करने पर रोक लगा दी गई थी, और देवमन्दिरों के निर्माण पर भी प्रतिबन्ध था ।।४।।

जराकृशस्यामरमन्दिरस्य, जीर्णोद्धृतिश्चापि निवारिताऽभूत् ।
सुरालयेष्वात्मगृहेषु किं वा, ध्वजोच्छृतश्चापि नृपेण रुद्धः ॥५॥

तद्राज्यबाह्यस्य च धर्मदेष्टु—
धर्मोपदेशोऽपि निषिद्ध आसीत् ।
तद्देशसम्भूतजनोऽपि तद्वत्,
सद्धर्मकार्याय निवारितोऽभूत् ॥६॥ कार्यात्

यदाप्तुमाज्ञां नृभिरर्थ्यते स्म, न्यायालये तेऽधिकृता निमित्तैः ।
सन्दूष्य तान् नेति वचोऽभिभाष्य, पौरान्कुर्वन् सततं निराशान् ॥७

धर्माच्च तर्कादथ राजनीतेः, पराङ्मुखं वीक्ष्य नृपं समन्तात् ।
सर्वे निरुद्धात्म-मनोविकारा, सत्याग्रहार्थैकधियो बभूवुः ॥८

सत्याग्रहारम्भकालं निर्दिशति—

भूत[५]नन्दा[९]ङ्क[९]चन्द्रा[१]ब्दे, पौषे विक्रमवर्षतः ।
सत्याग्रहः समारब्धः, पूर्वं तत्पुरवासिभिः[१] ॥९॥

१. अङ्कानां वामतो गतिरित्यनुशासनादत्र १९९५ तमोऽब्द-स्तदनुसारं यीशोः १९३८ तमवर्षस्य दिसम्बरमासो ग्राह्यः ।

किसी पुराने ध्वस्त मन्दिर का जीर्णोद्धार नहीं करने दिया जाता था। देव-मन्दिरों पर अथवा अपने घरों पर ध्वज लगाना भी राजाज्ञा से दण्डनीय था ॥५॥

हैदराबाद राज्य से बाहर के किसी धर्मोपदेशक का राज्य में आकर धर्मोपदेश करना निषिद्ध था। इसी तरह इस राज्य के निवासी द्वारा भी राज्य में किसी प्रकार की धर्म-प्रवृत्ति निवारित थी ॥६॥

यदि वहां की जनता के द्वारा किसी धार्मिक कार्य के करने की आज्ञा मांगी जाती थी, तो न्यायालय के अधिकारी मनमाने कारण अथवा दूषण बतलाकर नकारात्मक सूचना के द्वारा पौरजनों को सदा निराश कर देते थे ॥७॥

धर्म तर्क और राजनीति से सर्वथा पराङ्मुख वहां के राजा को देखकर, वहां के धार्मिक प्रजाजनों ने अपने मन के सभी दुष्ट विचारों को रोकते हुए सत्याग्रह करने के लिए निर्णय किया ॥८॥

वि० सं० १९९५ के पौष मास में अर्थात् सन् १९३८ के दिसम्बर मास में हैदराबाद के निवासियों ने पहले सत्याग्रह आरम्भ किया ॥९॥

ततस्तं चिर-सञ्चारं, कर्त्तुमाङ्गलराज्यतः।
प्राज्ञास्तत्र समायाता, आदिष्टा रण-संसदा[१]॥१०॥

१. सत्याग्रह-संचालिका समितिः।

नीतः सोऽर्थाप्तिसयुक्तः, सन्धिपूर्वं समाप्तिताम्।
अङ्ग[६]नन्दा[९]ङ्क[९]चन्द्रा[१]ब्दे, श्रावणस्य जिनां[२४]शके॥११॥

१. द्वितीयश्रावणकृष्णाष्टमी २४ वि० सं० १९९६, तदनुसारं ८ अगस्तः १९३९ तम ईशवीयाब्दः।

सत्याग्रहस्य तपसो माहात्म्यं वर्णयति—

शत्रोर्दृष्टिपथं न याति हि तपस्तेजः परं यच्छति,
दिष्टया तद्धि निपीडयमानमनिशं वृद्धिं मुदा गच्छति।
कल्पान्तेष्वपि नालमस्ति सबलो रोद्धुं सुतप्तं तपः,
सम्मानाय यतस्व भूप[१]! तपसां[२] कीर्तिं यतः प्राप्स्यसि॥१२॥

१. राज्ञः सम्बोधनाभावे पाठकैः—'मान्य-सभ्य-विप्र-पूज्य-प्रभृतयः' शब्दा भूपशब्दस्थाने परिवर्त्त्य यथायथं प्रयोगः पद्यनिर्माण-पुरस्सरं कार्यः। एवमेव सर्वत्रात्र काव्ये पाठकेनोहाः कल्पनीया भवन्ति, वाच्यस्यातिबहुत्वात्। २. तपः शब्दोऽत्र तद्वति।

तदनन्तर उस सत्याग्रह संग्राम को चिरकाल तक चलनेवाला बनाने के लिए, अंग्रेजी राज्य एवं अन्य राज्यों से 'सत्याग्रह सञ्चालक समिति' का आदेश पाकर अनेक विज्ञजन वहां आए॥१०॥

इस के पश्चात् यह सत्याग्रह-युद्ध वि० सं० १९९६ के दूसरे श्रावण की कृष्णा अष्टमी को (तदनुसार सन् १९३९ की आठवीं अगस्त को), परस्पर समझौता होने से तथा उचित मांग के स्वीकार हो जाने से, समाप्त किया गया॥११॥

[अधोलिखित पद्यों से राजा=प्रचलित समय के शासक को उद्-बोधन दिया गया है—]

हे राजन्! इस सत्याग्रह के तप का माहात्म्य बहुत बड़ा है—यह सत्याग्रहरूपी तप शत्रु की दृष्टि में नहीं आता है, किन्तु तेजस्वी बनाता है। और यदि इस का दमन किया जाता है, तो यह और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है। अधिक क्या कहें! कल्पान्त में भी कोई भी बलवान् अच्छे प्रकार से आराधित इस तप को रोकने में समर्थ नहीं है। अतः

कुत एवम् ?—

शमप्रधानैस्तपसाऽतिदीप्तैः, सञ्चीयते वह्निसमं हि तेजः ।
प्रदाहशील हि तपोऽस्ति यस्माद्भस्मत्वमायाति नरोऽवमन्ता ।। १३

प्रलोभनैर्विविधयन्त्रणाभिश्च सत्याग्रही च्यावयितुं न शक्यते—

सत्याग्रहज्ञानजुषो नरा ये, तच्च्यावने नालमिहास्ति लक्ष्मीः ।
नूनं दवाग्नेः शमने समर्थो, वायुः कदाचिन्न समृद्धवेगः ।।१४।।

इत्थं प्रभूतैः परियन्त्रणैश्च, प्रपीड्यमानाः प्रततिं प्रयान्ति ।
दृष्ट्वा मनःक्षोभफलानुबन्धं[१], निरुन्त्स्व यत्नं विफलं महीप ।।१५।।

१. मनःक्षोभात्मकं फलमनुबध्नाति तम् ।

सत्याग्रहिणः स्वभावदार्ढ्यं वर्णयति—

[१]आतङ्कयाग्रहिणं राजा, शक्तः स्यात् तदसुक्षये ।
किन्त्वजो[२]ऽप्यस्य नालं स्याद्, गतिं रोद्धुं शुभावहाम् ।।१६।।

१ 'तकि कृच्छ्रजीवने' भ्वादिर्णिजधिकः । २. अजः=स्वयम्भूः।

इन सत्याग्रही तपस्वियों के सम्मान का प्रयत्न करो । इससे तुम्हारा यश बढ़ेगा ।।१२।।

क्यों कि शान्ति-प्रधान और तपस्या से दीप्त ऐसा अग्नि-तुल्य तेज सत्याग्रहियों के द्वारा सञ्चित किया जाता है । और इस तप का स्वभाव ही जलाने का है । अतः जो इस का अपमान करता है, वह भस्म हो जाता है ।।१३

जिन्होंने सत्याग्रह का व्रत लिया है, उन मनुष्यों को अपने मार्ग से डिगाने में धन का लोभ समर्थ नहीं है । जैसे दावानल को बुझाने का सामर्थ्य वायु के प्रचण्ड वेग में नहीं होता ।।१४।।

इस प्रकार अनेक यन्त्रणाओं से पीडित किये गये सत्याग्रही दिनोंदिन वृद्धि को प्राप्त होते हैं । अतः हे राजन् ! परिणाम में मन को दुःखित करने वाले इस विफल प्रयास को रोक दो ।।१५।।

राजा सत्याग्रही को पीडित करके उस के प्राण हरण कर सकता है । पर उस की कल्याणमयी गति को रोकने में तो ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हो सकता ।।१६।।

आग्रहस्य माहात्म्यं वर्णयति—

मर्त्येनाग्रह एव कार्य उचितः सत्येन चेत् संयुतो,
दुष्प्रापान् सुलभान् करोति भुवने धन्योऽस्ति सत्याग्रहः ।
धैर्येणाग्रहमेत्य संयतमना कीर्ति परां विन्दते,
निष्पापाग्रहतः प्रमथ्य पिशुनान् स्वर्गे परे राजते ॥१७॥

कल्याणस्यैकभूमिर्विविध-मलहरः पावनः पावनानां,
पाथेयं यन्महार्घं सपदि निजपद-प्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रान्ति-स्थानमेकं कविवर-वचसां जीवनं सज्जनानां,
दिव्यः सत्याग्रहोऽयं प्रभवति विदुषां भूतये सर्वदैव ॥१८॥

सुकृतिभिरेव सत्याग्रहः कर्त्तुं शक्यते—

सुकृतीह नरः कश्चिल्लोके सत्याग्रहे क्षमः ।
विचलन्ति परे पापाः, शिश्नोदरपरायणाः ॥१९॥

सत्याग्रहस्य शक्त्यतिशयं वर्णयति—

दुर्वासनां मलिन-सत्त्वजनस्य भिन्दन्,
निन्दन्त्सदा दुरितदर्प-भवान् विकारान् ।

यदि कोई सच्ची मांग है, तो उसके लिये मनुष्य के द्वारा सत्याग्रह किया जाना ही उचित है । क्योंकि यह सत्याग्रह बड़ा धन्य है, कि जो अलभ्य को सुलभ बना देता है । धैर्य्यपूर्वक सत्याग्रह का सहारा लेकर संयमी सत्याग्रही परम यश को प्राप्त करता है । और सत्याग्रह से ही दुष्टों का नाश करके स्वर्ग का भागी बनता है ॥१७॥

यह सत्याग्रह कल्याण की एकमात्र भूमि है । अनेक मल पापों को दूर करने वाला है, पवित्रों में पवित्र है । अपने लक्ष्य की सिद्धि के हेतु निकले हुए मनुष्य के लिए बड़ा ही कीमती राह का 'कलेवा' है । कविवरों की वाणी का एकमात्र विराम-स्थान है । सज्जनों का जीवन है, और दिव्य=अलौकिक है । यह विद्वानों के कल्याण के लिये सदा समर्थ है ॥१८॥

इस संसार में कोई विरला ही सुकृति सत्याग्रह करने में समर्थ होता है । और अन्य जो इन्द्रियभोग और उदरपूर्ति के निमित्त विचलित हो जाते हैं, वे पामर हैं ॥१९॥

यह सत्याग्रह मनुष्य के द्वारा सेवित होने पर मलिन भाववाले मनुष्य की दुर्वासना को भेदता हुआ, पाप और अभिमान से उत्पन्न विकारों की

नित्यं विरञ्चि-सदृशैर्लषितां सुशक्तिं,
सत्याग्रहो वितनुते मनुजेन जुष्टः ॥२०॥

सत्यं नरा वच्मि न पक्षपातात्, सर्वेषु लोकेषु सुखैकहेतोः।
सत्याग्रहाच्छ्रेष्ठतमोऽस्ति नान्यद्, मिथ्याग्रहान्निम्नतरो न किञ्चित्॥२१

निरुद्ध्य दुर्दान्त-मनोविकारान्[1], प्राज्ञाः! ससंक्षेपमुदाहरन्तु[2]।
सत्याग्रहः स्याद्यदि भूपचित्ते[3], कुतः प्रजानां दुरिताग्रहः स्यात् ॥२२

१. ईर्ष्या-शोक-भय-क्रोध—मान-द्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः,सर्वे प्रज्ञापराधजाः॥
चरकसू० स्था० ८।५२॥

प्रज्ञाऽपराधोऽपि मत्कृते 'नाडीतत्त्वदर्शने' एककोटिरष्टत्रिंशल्लक्षाणि चतुर्विंशतिसहस्राणि नवशतं पञ्चनवति च—१३८२४९९५ संख्यात्मको भेदप्रभेदैः संख्यातो वर्त्तते। प्रज्ञापराधस्य बहुत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च वेदेषु वेदानुसार्यार्ष-ग्रन्थेषु च प्रज्ञापरिष्काराय पुनः पुनर्विधानमाधीयमानं सयुक्तिकं सङ्गच्छत एव॥ नाड़ीतत्त्व०अ० ७।

२. प्रज्ञापराधोत्थं वृथा हठादिदोषप्रयुक्तं वाग्जालं परित्यज्य संसारं वदन्त्विति।

३. अस्मिन्नपि पदे 'शत्रोर्दृष्टिपथं न याति हि तपः' इत्यादिके श्लोके कृतमूहाविधानमूहीकृत्य सर्वत्रोहाः कल्पनीयाः कविकर्मदक्षैः।

यावदेव नृपचेतसि स्फुरत्येष सत्यज-विवेक-दीपकः[1]।
तावदेव भवति श्रदाग्रह[2]-प्रीतिमाननृत-मोचनेच्छुकः ॥२३॥

सदा निन्दा करता हुआ, ब्रह्मा आदि के द्वारा वाञ्छनीय उत्तम शक्ति को नित्य वितरित करता है ॥२०॥

हे मनुष्यो! मैं सत्य कहता हूं पक्षपात से नहीं, कि तीनों लोक में सुख-प्राप्ति का एकमात्र हेतु सत्याग्रह से श्रेष्ठतम दूसरा नहीं है। तथा मिथ्याग्रह=झूठ के प्रति आग्रह से बढ़कर अन्य नीचतम नहीं है ॥२१॥

दुःख से दमन करने योग्य मन के ईर्ष्यादि विकारों को रोककर हे प्राज्ञजनो! बिना हठाग्रह के साररूप में कहिए कि—'यदि राजा के चित्त में सत्य के प्रति आग्रह हो, तो फिर प्रजा का दुराग्रह क्यों होवे'? ॥२२॥

यह सत्य से उत्पन्न ज्ञानरूपी दीपक जब तक राजा के चित्त में प्रकाशमान होता है, तब तक ही वह सत्याग्रह से प्रीति करने वाला और झूठ

१. 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्युपनिषत्सूक्तत्वात्, तज्जो विवेको वेदस्तस्य दीपको ज्योतिरिति। अर्थात् यावत् सत्यज्ञानाप्तये यतते तावत् सत्याग्रहमत् चितं भवति। २. अत्र केचिद् ब्रुवते—श्रदव्ययस्य दधातिनैव सम्बन्धो भवति नान्येन, तन्नेति सत्यदेवो वासिष्ठः। कुतः ? 'श्रद्धातौ' भोजव्याकरणे ६-१-१२९ इति सूत्रं दधातिना योग उपसर्गसंज्ञा-नियामकं, न तु श्रदव्ययस्य दधातेरन्यत्र प्रयोगाभावं कथयति। श्रदाग्रहः=सत्याग्रह इति। अत्र रूपकालङ्कारः।

सत्येनोत्तम्भिता भूमिः, सत्येनोत्तम्भितं वियत्।
सत्येन वाति वायुश्च, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२४॥

सीदन्ति ये विविधदोषकुलीरयुक्ते[1],
मोहाद्विचल्य[2] मनुजा भवसिन्धुमध्ये।
हा हेति पान्त्विति गिरा करुणार्द्रसत्त्वा-
स्तानुद्दिधीर्षुरिव तारयतीह सद्यः ॥२५॥

१. कुलीरो मकरः। २. स्खलनं प्राप्य।

पुत्रं स्त्रियं धनमथो[1] विपुलं च राज्यं,
संयाच्यमानमिह राति यथा तदीप्सम्।
व्यक्तं हि भक्ति-पटुकं मनुते च नैजं,
सत्यं हि सत्यमनसा मनुजेन जुष्टम्[2] ॥२६॥

छोड़ने की अभिलाषा वाला होता है ॥२३॥

सत्य से ही पृथिवी टिकी हुई है, सत्य से ही आकाश ऊपर टिका हुआ है। सत्य से ही वायु बह रहा है, और सत्य में ही सब स्थित है ॥२४॥

जो मनुष्य अनेक प्रकार के मकरादि जल-जन्तुओं से युक्त संसाररूपी समुद्र के बीच में मोह से विचलित होकर दुःख पाते हैं। उन की 'हाय ! हाय ! रक्षा करो ! रक्षा करो' ! इस प्रकार की वाणी के द्वारा दया से आर्द्र होकर सत्य स्वयं उनके उद्धार करने की इच्छा वाले की तरह शीघ्र ही उन्हें पार कर देता है ॥२५॥

सच्चे हृदय से मनुष्य के द्वारा सेवित यह सत्य=सत्याग्रह निश्चय ही पुत्र, स्त्री, धन, विशाल राज्य और अपनी इच्छानुसार जो भी मांगा जाय उसे प्रदान करता है। स्पष्ट ही जो इस की भक्ति में तत्पर हो, उस को अपना ही मानता है अर्थात् आत्मसात् कर लेता है ॥२६॥

१. अथ उ=अथो, उनिश्चयार्थे। २. तद्यथा 'राजा हरिश्चन्द्रः सती सावित्रीत्यादयः' इतिहासप्रसिद्धाः। ऐतिह्योऽलङ्कारः।

सत्याग्रहिलक्षणं द्वाभ्यां पद्याभ्यामाह—

सत्यत्यागतपोदयागुणयुतः शौचक्षमाभूषितः,
पापाचाररतस्य दर्पदलनो धीरः सदैवापदि।
हिंसा-त्याग-रतः सुकर्मणि यतः सेवायुतः सात्त्विको,
यस्त्वेतैर्भुवि भासतेऽतिविमलः सत्यः स सत्याग्रही॥२७॥

विड्विट्पञ्चक[1]मङ्गभङ्गजभयो[2] दारिद्र्य-लोकेषणे,
शीतोष्णं धनधान्यबन्धुवनिता वाचश्च मौर्ख्यस्पृशः[3]।
हृद्ये वस्तुनि सक्तिरात्म—विमतिर्दर्पः कुलस्यात्मनः,
शक्ताश्च्यावयितुं न यं श्रुतिधरं[4] सत्यः स सत्याग्रही॥२८॥

१. पञ्चज्ञानेन्द्रियविषयाः। उक्तञ्च—कुरङ्गमातंगेत्यादि। २. शरीराङ्गभंगोत्थो भयः। ३. मूर्खाणां वचांसि, तदात्वपश्यतां वा वचांसि। ४. स्मृतलब्धोपदेशम्।

सत्त्वे सुमार्गिणः क्रोधो, विद्यते शत्रुभिश्च[1] किम्?
क्षमा चेद्विद्यते स्वान्ते, वर्मणा[2] किं प्रयोजनम्[3]॥२९॥

१. चकारोऽत्र चेदर्थे। २. कवचेनेति। ३. तथा चाह विदुरः-
एकः क्षमावतां दोषो, द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः॥

[सत्याग्रही के लक्षण—] सत्य, त्याग, तप और दया के गुणों से युक्त, पवित्रता और क्षमा से विभूषित, पापाचरण करने वालों के गर्व का खण्डन-कर्त्ता, आपत्ति में धैर्यवान्, अहिंसा में तत्पर, सत्कर्म में लीन, सेवाभावी और सात्विक भाव से भरा हुआ, इन गुणों से युक्त होकर जो पृथिवी पर शोभायमान हो रहा है, वही पवित्र और सच्चा सत्याग्रही है॥२७॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांच ज्ञानेन्द्रिय के विषय, हाथ-पैर टूट जाने का डर, दरिद्रता, लोकेषणा, सर्दी-गर्मी, धन-धान्य, बन्धु, स्त्री, मूर्खतापूर्ण वचन, प्रिय वस्तु के प्रति आसक्ति, [प्रसङ्गवश] अपने मन में उपजी हुई कुबुद्धि, अपना और अपने कुल का अभिमान, ये जिस शास्त्रज्ञ को अपने मार्ग से विचलित करने में समर्थ नहीं होते, वही सच्चा सत्याग्रही है॥२८

यदि सत्यमार्गानुयायी के शरीर में क्रोध विद्यमान है, तो शत्रुओं से क्या प्रयोजन है? अर्थात् वह क्रोध ही शत्रु का कार्य करता है। और यदि

यदि सत्याग्रही बन्धुस्तत्रौषधमनर्थकम्[१] ।
दुर्जनाः सन्ति चेत् साकं, रोगैः[२] किन्नु प्रयोजनम् ॥३०॥

१. वक्ष्यति चाग्रे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थे पादे—'आत्मीयवर्गोऽपि रुजा न रुज्यते' इत्यादि । २. दुर्जनो हि बुद्धिं विकारीकृत्य प्रज्ञामपराधयति । प्रज्ञापराधमूला हि रोगाः शारीरमानसा भवन्ति । तस्मादिदमुच्यते—'दुर्जनाः सन्ति चेत्' इति । अत्र कैमर्थ्येनौषधादीनां निरर्थकत्वप्रदर्शनेन प्रतीपालङ्कारः ।

जात्यादौ त्यागवृत्तिश्चेद्, धावते पुरतो धनम् ।
सञ्चितेनाऽपि किं तेन, कोषेषु निहितं यदि ॥३१॥

साधुस्तु पापतो व्रीडां, व्रजत्येवान्तरा[१] कुलः ।
रममाणस्तु कौटिल्ये, कुटिलो नैव लज्जते ॥३२॥

१. अन्तःकरण आकुल इति यावत् । तथा च विदुरः—

य आत्मनाऽपत्रपते भृशं नरः, स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनन्ततेजाः सुमनः समाहितः, स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥

चन्द्रः कलङ्कयुक्तोऽपि, द्युतिं शुभ्रां प्रयच्छति ।
तथाऽल्पार्थं[१] वचः साधो, परं शुभ्रायते मनः ॥३३॥

१. अर्थशब्दोऽत्र व्यापकमर्थमधिकृत्य प्रयुक्तः । अर्थ्यते प्राप्यत इत्यर्थः । अर्थयन्ति प्राप्नुवन्ति यं वेति सोऽर्थः । ते च गुणाः सिद्धयो

उसके हृदय में क्षमा विराजमान है, तो कवच से भी क्या प्रयोजन है ? अर्थात् क्षमा ही कवच है ॥२९॥

यदि सत्याग्रही बन्धु=हितचिन्तक हैं, तो औषध से क्या प्रयोजन है ? हितचिन्तक ही औषध का कार्य देते हैं । और यदि दुर्जन साथ में हैं, तो रोगों से भी क्या प्रयोजन है ? अर्थात् दुर्जन ही एक प्रकार के रोग हैं, जिनसे सज्जन सदा दुःखी रहता है ॥३०॥

जाति, धर्म, समाज और देश के निमित्त यदि त्याग की भावना होती है, तो धन स्वयं सम्मुख उपस्थित होता है । अन्यथा उस धन के सञ्चय से क्या लाभ, जो केवल सञ्चय करके खजाने में या तिजोरियों में रख दियाजाय ? [अतः अपने धन को जाति, धर्म आदि के उपयोग में लगाना चाहिये] ॥३१॥

जो सज्जन होता है, वह तो लेशमात्र पाप हो जाने से भी मन में दुःखित होता हुआ लज्जित होता है । किन्तु जो कुटिलता में निरन्तर लीन रहता है, वह कुटिल [कभी] लज्जित नहीं होता है ॥३२॥

चन्द्रमा कलङ्क से युक्त होकर भी निष्कलङ्क श्वेत कान्ति का प्रसार

वा, एकमनेकं शास्त्रविज्ञानं वा।

काव्यनिर्माण-चातुर्यं, कवीनां धर्म उच्यते।
किं तत् काव्य-निर्माणं यत्, देशं जातिं च नोद्धरेत् ॥३४॥

राष्ट्रोन्निनीषया काव्यं, कुर्वन् विज्ञानवर्धनम्।
तृणाय मन्यते राज्यं, कविः सत्याप्तिलिप्सया ॥३५॥ प्राप्तिरित्यधिक

तत्र काव्यस्य काव्यत्वं, यत्र तज्ज्ञाः समासते।
वकारो[1] लुप्यते तत्र, यत्र मूर्खाः समासते ॥३६॥

१. वकारलोपात् काव्यं कायमिति शब्दमात्रमवशिष्यतेऽनर्थकम्।

सत्याग्रहस्याधारान् वक्ति—

नैपुण्यं स्वजने दयां परिजने शाठ्यं शठे चान्वहं,
प्रीतिं साधुजने नयं क्षितिपतौ विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमां लघुजने नारीजने संयमं,
कुर्वन्तो विचरन्ति ये बुधवरास्तेष्वेव सत्यस्थितिः ॥३७॥

करता है। इसी प्रकार थोड़े अर्थ से युक्त भी साधु के वचन मन को परम निर्मल बना देते हैं ॥३३॥

[कवियों को लक्ष्य करके कवि कहता है कि—] काव्यनिर्माण में प्रवीणता प्रकट करना ही कवियों का धर्म कहा जाता है। उस काव्य के निर्माण से क्या लाभ, जो कि देश और जाति का उद्धार न करे। अर्थात् देश, जाति आदि के उद्धार की ओर प्रवृत्त करने वाला काव्य ही सर्वोत्तम होता है ॥३४॥

राष्ट्र के समुत्थान की अभिलाषा से विज्ञान की वृद्धि करने वाले काव्य का निर्माण करता हुआ कवि सत्य की प्राप्ति के लिये राज्य को भी तृण के समान मानता है ॥३५॥

जिस काव्य से विद्वज्जन अनुराग करते हैं, वह काव्य सुकाव्यता को प्राप्त करता है। और जिस काव्य से मूर्खजन [स्वसम्मत विषय होने से] अनुराग करते हैं, उस काव्य शब्द के मध्य से 'व' का लोप हो जाता है, अर्थात् वह केवल काय-शब्द और प्राणहीन शरीर का ढ़ांचा रह जाता है ॥३६॥

जो विज्ञजन अपने बान्धवों पर आत्मीयता, सेवकों पर दया, धूर्त्तों पर सदा धूर्त्तता, सज्जनों पर प्रीति, राजा पर न्यायनिष्ठा, विद्वज्जनों के समक्ष नम्रता, शत्रुओं पर शूरता, छोटों पर क्षमा, स्त्रियों में संयम का [व्यवहार] करते हुए विचरण करते हैं, उनमें ही सत्य की स्थिति होती है॥३७

परोपकार-संलग्ना, जयन्ति सुधियो जनाः ।
परापकार-निरता, नश्यन्ति कुधियो जनाः ॥३८॥

निश्छलमाचरितं सत्यं सत्यमेतान् गुणान् करोति—

'सत्यं' जाड्यं सुधां मानं, पापं चेतो यशो रतिम् ।
हरेत् सिञ्चेद् दिशेद् हन्याद्, हर्षयेत् तनुयात् क्रियात्[1] । ३९॥

१. यथाक्रमं क्रियया योगस्तद्यथा—सत्यं जाड्यं हरेत्, सत्यं सुधां सिञ्चेदित्यादि । सत्यं शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ।

अथ विशेषकेनाह—

सूनु[1]: प्रियतमा[2] स्वामी[3], मित्रं[4] परिजनो[5] मनः[6] ।
आकारो[7] विभवो[8] वक्त्रं[9], यस्यादेशकरः[1] सती[2] ॥४०॥
सकृपः[3] स्नेहवद्[4] वश्यः[5], क्लेशलेश-विवर्जितम्[6] ।
रुचिरो[7] निभृतश्चैव[8], विद्याभूषितमेव[9] च ॥४१॥
सम्पद्भूच आभ्यः संयुक्तो, नरो नो चेत् परोपकृत् ।
श्वसन्नपि स धिक्कार्यः, पांसुराशेरुपासकः[1] ॥४२॥

१. यथांकक्रमं सम्बन्धस्तद्यथा—सूनुरादेशकरः, प्रियतमा सती, स्वामी सकृप इत्यादि ।

उपर्युक्तासु सम्पत्सु यथालाभसन्तुष्टेन सत्कर्मसु प्रयतनीयमिति द्रढयति—

परोपकार में निरत बुद्धिमान् मनुष्य जय को प्राप्त होते हैं । तथा दूसरों का अपकार करने वाले दुर्बुद्धि मनुष्य नष्ट होते हैं ॥३८॥

[सच्ची लग्न से सत्य की आराधना की जाय तो सचमुच ही] यह सत्य मूर्खता को दूर करदे, अमृत का सिञ्चन करदे, मान का दान करदे, पाप का नाश करदे, चित्त को प्रसन्न करदे, यश को विस्तृत करदे, और [सर्व जीवों के प्रति] प्रीति उत्पन्न कर देवे ॥३९॥

आज्ञापालन करनेवाला पुत्र, धर्म-पालिका स्त्री, कृपालु स्वामी, स्नेही मित्र, अनुकूल सेवक, प्रफुल्ल मन, सुन्दर स्वरूप, पूर्ण वैभव और विद्या से शोभित मुख, इन सम्पत्तियों से जो युक्त होता है, वह मानव वस्तुतः मानव है । इसके अतिरिक्त जो नर केवल जन्म लेकर [इन सम्पत्तियों की साधना को छोड़] अन्य तुच्छ धूलिसम पदार्थों की प्राप्ति के लिये लालायित रहता है, वह जीवित होते हुये भी धिक्कार के योग्य है, अर्थात् वह मृतक के समान है ॥४०-४२॥ [यह तीन श्लोकों का विशेषक है]

एकां द्वयीं वाऽऽसु सुलभ्य बह्वी:, कुर्यान्नरो विश्वहिताय कार्यम् ।
सर्वानुकूल्यं लभते नरो नो, श्रीकृष्णपौत्रस्य[1] मतं त्वदोऽस्ति ।।४३।।

१. कर्ताऽस्य काव्यस्य श्रीकृष्णपौत्र: ।

श्रेयश्चिकीर्षुर्गतभीर्दयालु—र्यमान्[1] निषेवेत निरस्तदम्भ: ।
शास्त्राण्यधीयीत तदर्थविद्भ्यस्त्यक्त्वाऽरिवर्गं विचरेदनंह:[2] ।।४४।।

१. अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा: । २. अनंहो निष्पाप: ।

आर्यपुरुषा दु:खातिशयात् स्वं प्राप्तव्यं न जहति—

नो यान्ति सत्य-निभृते पथि दण्डभीता,
गत्वाऽपि विघ्नविहता: प्रतियन्ति[1] मध्या: ।
दण्डैरनेकविधकै: प्रतिहन्यमाना,
गन्तव्यमार्यपुरुषा न परित्यजन्ति ।।४५।।

१. इण् गतावित्यस्य प्रथमपुरुषबहुवचनरूपम् ।

दुराराध्ये मार्गे प्रेरयितुमनर्हान् कीर्त्तयति –

अशान्त-दुर्दान्त-मनोविकारा, रुजार्त्तदेहा हतसत्यनिष्ठा: ।
ये ते न योज्या नृभिराप्तविद्यै:, सत्याग्रहे सत्यजनैरुपास्ये[1] ।।४६।

एक दो अथवा इन उपर्युक्त सम्पदाओं में से बहुतों को प्राप्त करके मनुष्य विश्वहित के लिये कार्य करे । क्योंकि मनुष्य सब तरह की सुविधायें एक स्थान पर नहीं पा सकता । यह श्रीकृष्णजी वाशिष्ठ के पौत्र=प्रस्तुत काव्यकर्त्ता सत्यदेव वाशिष्ठ का अभिप्राय है ।।४३।।

जो लोक-कल्याण की कामना करने वाला है, वह निडर दयालु और निरभिमान बनकर अहिंसा, सत्य, अस्तेयादि यमों का पालन करे । शास्त्रज्ञ आचार्यों से शास्त्रों का अध्ययन करे,तथा [छहों प्रकार के] अरिवर्ग का त्याग करता हुआ निष्पाप=निर्लिप्त बनकर विचरण करे ।।४४।।

कुछ तो साधारण कोटि के पुरुष राजदण्ड के भय से सत्य=सत्याग्रह के मार्ग का अनुसरण ही नहीं करते । कुछ मध्यम स्थिति के लोग सत्याग्रह करके जेल में जाकर भी विघ्न आ जाने से डर जाते हैं और वापस लौट आते हैं । किन्तु अन्य आर्य पुरुष तो अनेक प्रकार के राजदण्डों से प्रतिहत होकर भी अपने लक्ष्यपथ का परित्याग नहीं करते ।।४५।।

जो अशान्त हों, मनोविकारों के दास हों, रोगी हों, और सत्य के प्रति

१. अर्हार्थेऽत्र 'यत्' ।

कुम्भीधान्यार्हविप्रस्य, लोप्तुं धान्यं तु शक्यते ।
सन्तोषः शक्यते नैव, राज्ञा हर्तुं तपस्विनः ।।४७।।

सन्ति मे विषये[1] सुज्ञा, इति मत्वा च दुर्मतिः ।
पाण्डित्यं लभते नेशो[2], गर्ह्यते सुज्ञ-संसदि ।।४८।।

१. विषये=देशे । २. ईशो राजा, न ईशः=नेशः ।

विद्वान् धान्यार्थहीनो[1]ऽपि, राजते भूभृतोऽधिकम् ।
अर्च्यतेऽवनिपैर्भूयो, विद्या राज्याद् गरीयसी ।४९।।

१. धान्यायार्थो धान्यार्थः,अथवा धान्यं भोज्यवस्तु धान्येनार्थेन हीनाः ।

सद्वित्ता वाऽल्पवित्ता वा, मानं नेच्छन्ति भूपतेः ।
तानर्च बहुशो राजन् ! त्यज स्पर्धां तु तैः सह ।५०।।

पण्डितास्तु प्रसीदन्ति, फलमूलाशनेन वै ।
न जातु क्रेतुकामस्य, प्रियान्नं भुञ्जते द्वि ते ।।५१।।

अनुराग वाले न हों, ऐसे व्यक्ति सच्चे कर्मठ-पुरुषों से उपासनीय सत्याग्रह में विद्वानों के द्वारा न भेजे जायें ।।४६।।

कुम्भी-धान्यवाले ब्राह्मण के धान्य का अपहरण किया जा सकता है । किन्तु तपस्वी का सन्तोष राजा के द्वारा अपहृत नहीं किया जा सकता ।।४७।।

मेरे देश (राज्य) में बड़े-बड़े पण्डित हैं, ऐसा समझकर कोई मूर्ख राजा पण्डित नहीं बन जाता, अपितु वह [अपने देश की] पण्डित-सभा में निन्दित ही होता है ।।४८।।

धन-धान्य से हीन होने पर भी विद्वान्, राजा से अधिक आदरणीय होता है, और अनेक राजाओं से वार-वार उसकी पूजा होती है। क्योंकि विद्या राज्य से बड़ी है ।।४९।।

विद्वान् धनी हों अथवा निर्धन हों, पर वे राजा से सम्मान नहीं चाहते हैं । अतः हे राजन् ! उनके साथ स्पर्धा न करो, और उनका सम्मान करो ।।५०।।

पण्डितजन केवल कन्द [मूल] व फल आदि खाकर ही प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु उन्हें यदि कोई मिष्टान्नादि खिला-पिला कर खरीदना चाहता है, वा दास बनाना चाहता है, तो वे उसे कभी नहीं खाते हैं ।।५१।।

दत्त्वा तृणानि शक्यन्ते, दोग्धुं गावोऽल्पयत्नतः ।
आदृत्य [1]पण्डितास्तद्वत्, प्रष्टुं शक्या न यत्नतः ॥५२॥

१. स्वाधिकृतशास्त्रे कृतप्रयत्नास्तद्रहस्यज्ञा बुद्धिरुत्पन्ना येषां ते पण्डिताः ।

प्रथमाध्यायस्य 'क्षुत्क्षामीयात्मकः' तृतीयः पादः

तत्र तावदस्य पादस्य लेखनप्रयोजनं द्वाभ्यां पद्याभ्यामाह—

पापठ्यमानो मनुजोऽत्र धैर्य्यं, प्राप्नोतु सत्याग्रह-कर्मयुक्तः ।
सूच्चैस्तरामात्म-चरित्रयोगाद् गन्तव्यमाप्तुं विषहेत सर्वम् ॥१॥

कारासु यद् ध्यानपथं यदाप्तम्, विभज्य निद्रां लिखितं तदैव ।
प्रत्यक्षतः सङ्ग्रथितं भवेद्यत्, तत् सारवत् सञ्चरतीह नान्यत्॥२

राष्ट्राणि सम्बोधयति—

यावन्ति राष्ट्राणि भुवि स्थितानि, काव्यं पथो दर्शकमस्तु तेभ्यः ।
सत्यं न लोके व्ययते कदाचिद, राष्ट्राण्यतोऽदः परमाद्रियन्ताम् ॥३॥ भूवादि गणे पठितः।

गौएं घास देकर सरलता से दुही जा सकती हैं, वैसे ही पण्डितों से भी सम्मानपूर्वक यथेच्छ प्रश्नोत्तर किये जा सकते हैं, न कि अभिमान से वश में करके ॥५२॥

इस सत्याग्रह काव्य के वार-वार पठन से मनुष्य सत्याग्रह के कर्म में तत्पर होकर शान्ति को प्राप्त करे, तथा अत्युत्तम चरित्र के वल से गन्तव्य लक्ष्य की प्राप्ति में आये हुये सब विघ्नों को सहन करे ॥१॥

जो कारागार में घटना घटी उसको, तभी बड़ी कठिनाई से निद्रा को त्याग कर, जैसा का तैसा इस काव्य में लिखा है । जो आंखों देखा और अपने पर बीता हुआ लिखा जाता है, वह चिरकाल तक स्थायी होता है । अन्य कपोल-कल्पित नहीं [क्योंकि वह तत्त्वहीन होता है] ॥२॥

पृथिवी पर जितने भी राष्ट्र हैं,उनके लिए यह काव्य मार्गदर्शक बने । क्योंकि ससार में सत्य कभी क्षय नहीं होता । इसलिये सभी राष्ट्र इस काव्य का पूर्ण आदर करें ॥३॥

तत्र भाग्यनगरीयकारासु बोभूयमानं दुर्वृत्तं नवमिः पद्यैः पुरस्करोति—

क्षुत्क्षामैश्च सुतप्तकायवदनैः सत्याग्रहाराधकै-
र्दण्डः पाणिज-घुष्टि-मुष्टि-विहितो दुष्टैरितः सह्यते।
आपूर्णः पिठरो[1] मलेन सततं प्रस्कन्द्यमानो मुखे,
पक्षै[2]रस्थिभिराततो गृहगतो मूर्ध्ना चिरं चोह्यते ।।४।।

१. पिठरः टोकरी इति हिन्द्याम्। २. अत्र 'पक्षैः' इत्यनेन यवनगृहस्थ-कुक्कुट-वर्तकादीनां पक्षतयो ग्राह्याः, काराधिकारिणां यवनबहुलत्वात्।

नीत्वा लोहमयं प्रचण्डलगुडं क्वाप्यश्मकं भज्यते,
भारोपेत-पयोघटैरपि भृशं संसेच्यते वाटिका।
भूयो दुर्वचसाचिता चरमुखाद् दुर्भर्त्सना श्रूयते,
होराणां दशकं कृतेऽपि निरतं कार्ये न हृद् दूयते ।।५।।

हृद्योल्लास-विकासि-गीतिवचसा हस्ताङ्कनं[1] प्राप्यते,
वासश्चापि मलाक्तमेव विकृतं काये स्वके धार्यते।

[हैदराबाद राज्य के कारागार में सत्याग्रहियों के साथ जो दुर्व्यवहार किया जाता था, उसका वास्तविक चित्रण निम्न श्लोकों में स्वभावोक्ति द्वारा विद्वान् कवि ने किया है—] वहां भूख और प्यास से व्याकुल, सूर्य की गर्मी से तपे हुए शरीर और मुंह वाले सत्याग्रहियों के द्वारा, लाठी, चांटे, घूंसे, मुक्के आदि से दी गई ताडना सहन की जाती है। और जिससे बार-बार मैला गिर रहा है, तथा जिसमें घर का कूड़ा-करकट एवं मुर्ग-बत्तखों के पंख आदि भरे हुए हैं, और टोकरियों के पुरानेपन के कारण कहीं-कहीं छिद्रों में से निकलता हुआ कचरा मुंह पर भी ि र रहा है, ऐसी टोकरियां राजा के नौकरों के यहां उठानी पड़ती हैं ।।४।।

कहीं लोहे के सब्बल लेकर पत्थर फोड़े जा रहे हैं। कहीं बड़े-बड़े पानी से भरे हुये घड़े ला-लाकर बगीचे सींचे जा रहे हैं। जाते-आते मार्ग में दुष्ट वचनों के आघात एवं राजपुरुषों की गालियां-झिड़कियां सुननी पड़ रही हैं। दस-दस घण्टे तक लगातार काम करने पर भी सत्याग्रही मन में तनिक भी खिन्न नहीं होते [क्योंकि उन्हें धर्म की रक्षा करनी है] ।।५।।

यदि मार्ग में चलते-फिरते कभी अपने मन बहलाव के लिए किसी सत्याग्रही ने कोई गीत गाया, तो उसे चपेटा वा गलहस्त खाना पड़ता है। अपने शरीर पर मैले ही वस्त्र केवल तन ढकने के लिये धारण करने पड़ते हैं।

आरन्तुं पृथिवीतले ससिक्ते शैत्यान्विते लेटचते,
पाषाणप्रतिमं दृढं क्षितितलं घर्मेऽपि संखायते[2] ॥६॥

१. हस्तांकनं=चपेटिका । २. संखायते=समुत्पाटचते ।

कुब्जीभूय निरन्तरं कृतिभरैः श्रान्तो गतोऽप्यार्जवं,
दुष्टैरीशचरैश्चिरं स्वचरणैर्हस्तैरलं ताडचते ।
निष्ठचूतेन च दूष्यते कुहचन व्यर्थं तथा पीडचते,
नित्यं गोक्षुरकान्विते क्षितितले नग्नैः पदैर्धाव्यते[1] ॥७॥

१. णिजर्थोऽयं प्रयोगः ।

साध्वाचार-विवर्जितैर्नृपजनैर्दुर्णोदना दीयते,
मोहान्धैः सततं कदर्थनधिया दुष्टं यशश्चीयते ।
स्वैर्दुष्कर्मभिरेव सन्ततमहो ! आयुस्तरुः क्षीयते,
दुष्टानां वृषसो द्विषां च कुकथा केनाथवा गीयते[1] ॥८॥

१. अन्तर्भावितण्यर्थोऽयं प्रयोगः ।

रुग्णे वर्ष्मणि भूरिलोहनिगडं नानाविधं प्रोह्यते,
तोत्रैर्वेतस — यष्टिकादिक — कृतैर्घातैर्मुहुश्चोद्यते ।

रात्रि में कुछ काल तक विश्राम करने के लिए ठण्ढ में ठण्ढी रेतीली भूमि पर विना विस्तर के लेटना पड़ता है। पत्थर के समान अत्यन्त कठोर भूभाग भयङ्कर गर्मी के समय भी खोदने पड़ते हैं ॥६॥

निरन्तर अधिक भार ढोने से कमर झुक गई हो, और थक जाने के कारण कार्य में शिथिल हो जावे, तो वह दुष्ट राजपुरुषों से हाथों और लातों द्वारा वहुत पीटा जाता है। कभी सत्याग्रही पर थूक दिया जाता है, और कभी व्यर्थ ही यातना दी जाती है। जहां कंटीले गोखरू आदि पड़े हुए हों, ऐसे मार्ग में विना पदत्राण के चलाया जाता है ॥७॥

मर्यादाहीन दुष्ट राजपुरुषों के द्वारा विविध प्रकार की अनुचित प्रेरणा दी जाती है [जिस से सत्याग्रही विचलित हो जाए]। मोह में अन्धे राजचरों द्वारा कुछ टुकड़ों के लोभ से धीरे-धीरे सत्याग्रहियों को सताने के लिए दुर्यश संग्रह किया जाता है। उन के द्वारा स्वयं अपने दुष्कर्म के कुठार से आयुवृक्ष काटा जाता है। ऐसे धर्मद्रोही दुष्ट पुरुषों की कुत्सित कथा किस के द्वारा गाई जा सकती है ? ॥८॥

सत्याग्रही के रुग्ण शरीर पर लोहे की हथकड़ी और वेड़ियां जकड़ दी जाती हैं। फिर हण्टर और बेतों से उन्हें पीटा जाता है। उनसे मामूली

गूथं[1] कीटकुलान्वितं चरनिशान्तस्थं[2] समुत्थाप्यते,
प्रायः पेषणिकाऽपि भोजनकृते चूर्णाय सञ्चाल्यते ॥९॥

१. गूथं-पुरीषम्। २. राजचरगृहगतम्।

कोष्ठे चैव तमोमयेऽतिरजसाऽऽच्छन्ने कुतोऽप्युष्यते[1],
जीर्णेनान्नचयेन नीरस-मयेनैवोदरं पुष्यते।
शाणीयेन वपुश्छदेन कथमप्येतद् वपुर्भूष्यते,
रक्तं हा हा! तह्यपि धर्मशत्रुभिरलं रक्तः सतां चूष्यते ॥१०॥

१. यत्र रात्रिन्दिवमन्धकार एव तिष्ठति, तथा हदन-मूत्रपात्रं जलपात्रं चानावृतमेव तिष्ठति।

शैलेयं तु शिलाजतुनि रक्तम्।

शैलेयैरुत वाऽपि कुत्सितमृदा पूर्णं प्रचण्डातपे,
नग्नैरङ्घ्रिभिरेव तप्तदृषदाच्छन्नेऽसमे भूतले[1]।
वह्यं[2] क्लेशविशेषदापनधिया दृत्तं समाकृष्यते,
पायावर्पित-रक्तमारिचभवाऽप्रीतिः परा सह्यते ॥११॥

१. मध्याह्नकालेऽसमायां भुवि। २. शकटम्।

इत्थं भूपचरैः प्रदत्तमतुलं कष्टं परां यन्त्रणां,
घातं भर्त्सनमन्यदप्यरुचिकृद् दुःखं च सोढ्वा बहु।

राजचरों के घर की टट्टी उठवाई जाती है। तथा कैदियों के खाने के लिए या राजचरों के भोजनार्थ सत्याग्रहियों से चक्कियां भी चलवाई जाती हैं ॥९॥

जहां अंधेरा ही अंधेरा है, और जिन की कभी सफाई नहीं होती, ऐसे कमरों में वे रखे जाते हैं। उन्हें खाने के लिए सड़ा-गला और नीरस, सत्त्व-हीन अन्न दिया जाता है। केवल टाट के एक-दो टुकड़े तन ढकने के लिए उन्हें दिए जाते हैं। बड़े दुःख की बात है कि इतनी दुर्दशा करने पर भी उन धर्मशत्रुओं के द्वारा इन सत्याग्रहियों का खून चूसा जाता है ॥१०॥

पत्थर अथवा गन्दी मिट्टी से भरे हुए टोकरे उठवा कर तेज धूप में नङ्गे पैरों गरम-गरम पत्थरों वाली विषम भूमि पर चलाया जाता है। इससे भी अधिक कष्ट देने की बुद्धि से सत्याग्रहियों के द्वारा बोझ से भरे हुए गाड़े खिंचवाए जाते हैं। तथा गुदा में लाल मिर्ची आदि डालकर उन्हें भीषण कष्ट दिया जाता है ॥११॥

इस प्रकार राजा के अनुचरों द्वारा दी गई भीषण यन्त्रणायें, विविध कष्ट, अनेक झिड़कियां, गालियां एवं आत्मा को दुःख देने वाले तीखे बोलों को सहन करके भी भगवान श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान (—कारागार) में प्रभु के

श्रीकृष्णप्रसवावनौ[1] प्रभुपदं ध्यायन् सुसत्याग्रही,
धैर्येणात्मदिनानि वाहयति वै सत्यं परं रक्षितुं ॥१२॥

१. कारागारे।

पादे पाणितले च कीलकमुखान् व्याकील्यमानान् भजन्,
वर्षाशीततपःप्रभाविमरुतं सोढ्वाऽल्पकैः कर्पटैः।
भुक्त्वा भोजनमोजसा विरहितं व्याप्तं मृदा चान्वहं,
स्वीयं जन्म कृतार्थयन् गमयते कारासु वारान् कृती[1] ॥१३॥

१. नांदेड़ग्रामस्थकारायां वृत्तमदः सम्पन्नम्।

किं किं नो सहते शुभस्य पथिको दुर्वृत्तवद्भिः कृतं,
प्रत्नं वाऽभिनवं प्रतोदनविधिं प्राप्यापि यातो जराम्।
यावन्नैति निजेष्टलक्ष्यममलं तावद्धि सत्याग्रही,
लक्ष्याप्तिं प्रति याति सत्यमनसा विघ्नान् नमस्यन् पुनः॥१४॥

इदं संक्षेपमात्रेण, न्यस्तं धैर्यविवृद्धये,
स्वल्पशब्देषु शक्य नो, लिखितुं सर्वभावतः॥१५॥

चरणों में ध्यान लगाए सत्य की रक्षा के लिए सत्याग्रही शान्तिपूर्वक अपने दिन बिताता है ॥१२॥

उसके पावों और हाथों में कीलें गाड़ दी जाती हैं, उनको सहन करते हुए,नाममात्र के वस्त्रों से वर्षा शीत और गर्मी के प्रभाव से युक्त वायु के थपेड़ों को सहन करके तथा मिट्टी मिला हुआ, निस्तत्त्व भोजन प्रतिदिन खाकर भी [अनेक पुण्यों के बल से प्राप्त]अपने मनुष्य जन्म को सफल करता हुआ कारा-गृह में सत्याग्रही अपने दिन बिताता है। [यह घटना 'नान्देड' नामक ग्राम के कारागार में घटित हुई थी। जहां सत्याग्रहियों के हाथ-पैरों में कीलें ठोक दी गई थीं] ॥१३॥

शुभ मार्ग का राही दुष्ट मनुष्यों द्वारा किए गए किन किन अत्याचारों को नहीं सहन करता ? कुछ पुरानी और नई रीति से दी गई यन्त्रणा को सहन करके भी जरा=बुढापे को प्राप्त हुआ सत्याग्रही-जब तक अपने इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर लेता तब तक विघ्नों को नमस्कार करता हुआ सच्चे मन से लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है ॥१४॥

यह धैर्य की अभिवृद्धि के लिये संक्षेप से कारागार का दिग्दर्शन कराया है। वहां की पूर्ण स्थिति का वर्णन इन थोड़े से शब्दों में नहीं लिखा जा सकता ॥१५॥

अथ सत्याग्रहिभिः सह भाग्यनगरीयकारागृहे बोभूयमानान् दुर्व्यवहारान् समाचारपत्रेभ्यो ज्ञात्वा कविं धैर्यावलम्बिनं कर्तुं कवेः पितृवर्यैर्भाग्यनगरस्य कारायां यत्पत्रं प्रहितं तेन तत्कालस्थः सत्याग्रहि-पितॄणामुत्साहः सात्त्विकी वृत्तिश्च परिलक्ष्यते । तत्पत्रं विशेषकेण यथा—

सर्वस्य पाता हृदि सन्निविष्टस्त्वां नन्दयेत् सत्य ! सदैव विष्णुः ।
त्वां योजये साधुवचोभिरत्र, साशीर्विमिश्रैर्हृदि धैर्यवृद्धयै ॥१६॥

सदाशिवस्त्वां परिपातु सर्वतो, विवेक-विज्ञानमुदेतु तत्त्वतः ।
साफल्यमाप्याशु गृहं समेहि, सम्प्रार्थयामः परितोऽभ्युपेताः ॥१७॥

सत्याग्रहे वैदिकधर्मरक्षां, कुर्वन् प्रिय ! प्राप्नुहि सत्यभावन् ।
धार्यं च धैर्यं नहि शोचनीयं, कारागृहाणां कुटिलास्ति वृत्तिः ॥१८॥

कष्टप्रदाने विजयं स्वकीयं, जानन्ति राज्याधिकृताः समस्ताः ।
तद्दत्तदुःखस्य विमर्षणेन, विजेतृभावः स्वक एव बोध्यः ॥१९॥

जनन्या जनकस्याथ, स्वसॄणां सुहृदां तथा ।
नहि चिन्ता त्वया कार्या, रक्ष्यो धर्मः सनातनः ॥२०॥

[सत्याग्रहियों के साथ जेलखाने में किए गए अत्याचारों को समाचार-पत्रों में पढ़कर कवि को धैर्यपूर्वक रहने की प्रेरणा देने के लिए कवि के पिता श्री 'अनन्तराम सहजपाल' ने ग्राम 'माहलगहिला' जिला जालन्धर से दिनांक १६-६-३९ तदनुसार आषाढ़ सं० १९९६ वि० को हैदराबाद के जेल में जो पत्र भेजा था, उसके द्वारा सत्याग्रहियों के पितृजनों का उत्साह और सात्विक वृत्ति का परिचय मिलता है—]

प्रिय सत्यदेव ! परमात्मा आपको हमेशा आनन्द में रखे । मैं अपनी तरफ से आपको इस सत्याग्रह में अपनी आहुति देने पर मुबारकवाद देता हूं । परमात्मा आपको खैरियत से रखे, हमारी सबकी यही प्रार्थना है । आप जल्दी ही सफलता प्राप्त करके घर को लौटें । और जो तकलीफें वैदिक धर्म की रक्षा करने में आप पर आयें, उनको बड़ी खुशी से बरदाश्त करें । जेल में जो बदसुलूकियां आप के साथ हो रही हैं, उन का खास कोई अफसोस न करें । क्यों कि वहां प्रायः ऐसा हुआ ही करता है । मगर आपको अपनी सफलता, उनकी तरफ से जो दुःख आपको मिल रहा है; उसके सहन करने में ही समझनी चाहिये । हम बड़े आनन्द में हैं । चिन्ता है तो केवल आपकी ही ॥१६-२०॥ [यह पांच श्लोकों का विशेषक है]

कविरुद्भ्रान्तमनाः प्रार्थयते—

ईश भोः सर्वतोव्यापिन् ! जगद्धारक ! सत्पते ।
बुद्धिं प्रदेहि दुष्टेभ्यः, पाहि धर्मं च शाश्वतम् ॥२१॥

अत्याचरन्ति दुर्वृत्ता, भाग्यराज्याधिकारिणः ।
सुकृत्यै प्रेरयैतांस्त्वं, प्रभो ! पापं प्रकुर्वतः ॥२२॥

आशु निर्मलयैतेषां, कुधियं दुर्मनस्तथा ।
न्यायकर्त्ताऽसि नेत्रे स्वे, निमील्यास्से कथं प्रभो ॥२३॥

उन्नयाशु स्वसामर्थ्याद् वेद-धर्मपरायणान् ।
बहुशश्च बलं हार्दं, धैर्यमेभ्यश्च दीयताम् ॥२४॥

अन्तःसाक्षिन् जगद्व्यापिन् ! साक्षित्वं भज नो द्रुतम् ।
अपाकुरुष्व नो विघ्नान्, स्वेष्टेनास्मांश्च योजय ॥२५॥



कवि उद्भ्रान्त हृदय से प्रार्थना करता है—हे ईश ! हे सर्वव्यापिन् ! हे जगद्धारक ! हे जगन्नाथ ! इन दुष्टों को सद्बुद्धि दो, और सत्य सनातन धर्म की रक्षा करो ॥२१॥

हे प्रभो ! ये हैदराबाद राज्य के निर्दय कर्मचारी अत्याचार कर रहे हैं । इन पापियों को शुभ कर्म करने की प्रेरणा दो ॥२२॥

इनकी दुर्बुद्धि और दुष्ट मन को शीघ्र ही निर्मल बनाओ । आप तो न्यायकर्त्ता हैं, फिर नेत्रों को मूंद कर क्यों बैठे हो ? ॥२३॥

हे प्रभो ! आप अपने सामर्थ्य से वेद-धर्म-परायण इन सत्याग्रहियों को उन्नत बनाओ, तथा इन्हें पूर्ण बल, धर्मप्रेम एवं धैर्य प्रदान करो ॥२४॥

हे अन्तःसाक्षिन् ! हे जगन्निवास ! आप हमारे साक्षी बनिए । हमारे विघ्नों को दूर कीजिए, तथा हमें हमारे लक्ष्य तक पहुंचाइए ॥२५॥



प्रथमाऽध्यायस्य 'अहिंसाव्रतमाहात्मीयः' चतुर्थः पादः

धर्मनिभृतां नीतिमनुपालयतः पुरुषस्य यशसो दिग्दिगन्तरव्यापकतां प्रदर्शयति—

हिंसा-द्वेषपरायणा नयविदो युद्धेषु लग्नोद्यमा,
हत्वाऽन्योऽन्यमिहाहवेषु न यशो भूपाः स्थिरं भेजिरे।
ईर्ष्यादीन् परिहाय धर्मनिभृतां नीतिं समालम्ब्य वै,
दिव्यास्ते परमत्र सत्यपथिका[1] दीप्तं यशो लेभिरे।।१।।

१. सत्याग्रहिण इति।

अन्योऽन्यस्य जिघांसायां क्षुद्रार्थतैव कारणमिति निश्चाययति—

अन्योऽन्यं तु जिघांसन्ति, मन्दाः क्षुद्राभिलाषिणः।
अस्थिस्वाद-समासक्ता, यथा श्वानः परस्परम्।।२।।

न्याय्यवाग्व्याहर्ता स्वेष्टार्थेन युज्यत इति द्रढयति—

स्वार्थान्धाः कुधियो निजेष्टवचनाः पापान् स्तुवन्त्यन्वहं,
चाटुत्वादिभिरुन्नयन्ति बहुशः किं ते न निन्द्या भुवि ?
ये वै पापपरायणान् नरपतीन् नेतुं सतामध्वनि,
न्याय्यां वाचमुदाहरन्ति सुधियः किं ते न वन्द्या भुवि।।३।

हिंसा और द्वेष में तत्पर, नीति को जानने वाले, निरन्तर युद्ध में रत, ऐसे राजा परस्पर युद्ध में एक-दूसरे को मारकर भी स्थायी यश के भागी नहीं बने। किन्तु ईर्ष्या-द्वेषादि का परित्याग कर, धर्मयुक्त नीति का आलम्बन लेकर वे दिव्य सत्याग्रही निश्चय ही दिव्य यश के भागी बने हैं।।१।।

मन्द=अधम और क्षुद्र अभिलाषा वाले ही एक दूसरे को मार डालने की इच्छा करते हैं। जैसे हड्डी के स्वाद में आसक्त होकर कुत्ते परस्पर युद्ध करने में प्रवृत्त होते हैं।।२।।

स्वार्थ में अन्धे, दुष्ट बुद्धिवाले, अपने स्वार्थ की पूर्ति के हेतु संग्रह करने वाले, पापी पुरुषों की निरन्तर स्तुति करते हैं, तथा चाटुवचनों से उनकी हां में हां मिलाकर उनकी प्रशंसा करते हैं, क्या वे पृथिवी पर निन्द्य नहीं हैं ? अपितु वे अवश्य निन्द्य हैं। और जो कि पापकर्म में रत राजाओं को सत्य-मार्ग पर चलाने के लिए न्याययुक्त वाणी को कहते हैं, वे सज्जन सत्याग्रही क्या वन्दनीय नहीं हैं ? अपितु वे अवश्य वन्दनीय हैं।।३।।

परेषामापदं गृह्णन्, साधुवच्छान्त-चेतसा।
भवेत् सत्याग्रही के न, स्वार्थायापत्तिभोगिनः ॥४॥

किं तेन सत्यनिष्ठेन, स्वात्मतुष्टेन केवलम्।
स एव सत्यनिष्ठो यः, पापान् सत्ये नियोजयेत् ॥५॥

यमनिष्ठा आत्मयमिन एव शस्त्रास्त्राणि पराजयन्ते, न तु दम्भिनः—

दर्पान्धा भुवि भूरि भूमिपतयः सन्तीह युद्धार्थिनः,
शस्त्रास्त्राणि गवेषयन्त्यनुदिनं राष्ट्रस्य विध्वस्तये।
किन्त्वाश्चर्यमिदं यदात्मयमिनः सत्याप्तये स्वायुधं,
युद्धचन्तेऽत्र धिया यमैश्च[1] सहिता निर्धार्य कालोचितम् ॥६॥

१. 'अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' इति।

सत्याग्रही स्वरारोही[1], भवत्युत्सृष्ट-किल्विषः।
सिंहवन्निर्भयो नित्यं, सतां मूर्ध्नि विराजते ॥७॥

१. स्वर्गारोहीति।

सत्याग्रहं चिकीर्षुश्चेद् दूराल्लोभं परित्यजेत्।
व्रतद्रोहाभिशप्तोऽसावन्यथाऽकीर्तिमाप्नुयात् ॥८॥

साधुओं की तरह दूसरों की विपत्ति को शान्त चित्त से अपने ऊपर झेलता हुआ मनुष्य सत्याग्रही बने। क्यों कि इस संसार में अपने स्वार्थों के लिये कौन विपदा सहन नहीं करते ? ॥४॥

उस सत्यनिष्ठ से क्या लाभ ? कि जो केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि पर प्रसन्न होता है। वस्तुतः वही सच्चा सत्यनिष्ठ=सत्याग्रही है कि जो पापी प्राणियों को सत्य की ओर प्रेरित करे ॥५॥

अभिमान में अन्धे, युद्ध के इच्छुक राजा लोग इस पृथिवी पर अनेक हैं, जो कि राष्ट्र के विध्वंस के लिए प्रतिदिन शस्त्रास्त्रों को खोजते रहते हैं। किन्तु यह आश्चर्य है कि आत्म-संयमीजन सत्य की प्राप्ति के लिए यमों से नियन्त्रित होकर अपने आप को ही आयुध के रूप में प्रस्तुत कर समयोचित युद्ध करते हैं ॥६॥

निष्पाप सत्याग्रही स्वर्ग (यश) को प्राप्त करता है। और वह सिंह के समान निर्भय होकर नित्य सत्पुरुषों में अग्रगण्य होता है ॥७॥

यदि कोई सत्याग्रह करना चाहे, तो वह स्वार्थ का सर्वथा परित्याग कर दे। अन्यथा वह सत्यव्रत के द्रोह से अभिशप्त होकर अपकीर्ति को प्राप्त करता है ॥८॥

राजानं सम्बोधयति—

राजाऽहमिति दृप्तात्मन् ! माऽवमन्यस्व सद्व्रतम्[१] ।
प्रकृत्यैष महातेजा, दीप्तसत्यस्य सङ्गमात् ॥९॥

१. सत्यव्रतं=सत्याग्रहिणमिति ।

महतां चरितं दुर्बोध्यं भवति—

नृभ्यो मेघ इव प्रयच्छति सदा सत्योपदेशामृतं,
तृप्तास्तेन जनाः स्वकर्म-निरताः स्वेष्टं लभन्ते मुदा ।
शान्तात्मा सुतरां प्रयाति गतभीरुच्चैः पदं शाम्भवं,
दुर्बोधं महतामगम्यचरितं सत्याग्रहं कुर्वताम् ॥१०॥

सत्याग्रहिणां विनयातिशयं दर्शयति—

पादेनाहतमुत्थितं मृदु रजो नेत्रं नृणामन्धयेद्,
भ्रातः ! पश्य दशां जडस्य भुवने चेष्टावतां का कथा?
अत्याश्चर्यमिदं यदेति विनतिं पङ्कूचां मुहुर्घातितो,
हन्तारं विमलैः सुबोधनपदैः सत्याग्रही बोधयन् ॥११॥



हे अभिमानी ! 'मैं राजा [शक्तिशाली] हूं' यह समझकर सत्याग्रही का तिरस्कार न कर । क्यों कि यह तो तेजोमय सत्य के सङ्गम से स्वभावतः महान् तेजस्वी है ॥९॥

सत्याग्रही मनुष्यों को मेघ की तरह सदा सत्य उपदेशामृत का पान कराता है । उससे वे तृप्त वन=उद्‌बुद्ध होकर अपने शुभ कर्मों में तत्पर हो, प्रसन्नतापूर्वक इष्ट वस्तु को प्राप्त करते हैं । और वह शान्तात्मा अपने इस सत्कर्म के फलस्वरूप निर्भय हो उच्च शिवपद का भागी बनता है । अतः सत्याग्रह करने वाले महापुरुषों का चरित्र अज्ञेय है, अनन्त है ॥१०॥

हे भाई ! संसार में जड की भी यह स्थिति है कि पैरों से ठुकराई गई धूल उड़कर मनुष्यों के नेत्रों को अन्धा बना देती है, फिर चेतन व्यक्तियों का तो कहना ही क्या ? किन्तु आश्चर्य यह है कि सत्याग्रही दुर्जन द्वारा बार-बार पीडित होकर भी उस मारने वाले को निर्मल बुद्धिदायक पदों से ज्ञान-दान देता हुआ विनय को प्राप्त होता है ॥११॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

तत्र 'राष्ट्रपतनोत्थानीयः' प्रथमः पादः

राष्ट्रस्याल्पायुष्ट्वे हेतुरुच्यते—

अर्थोत्पादन ईशित्वं, राज्यतन्त्रस्य कारणम् ।
अर्थार्थिनो नराः स्वीयं, श्रमं विक्रीणते परान् ॥१॥

शुभं वाऽप्यशुभं वाऽपि, फलमादाय कर्मजम् ।
भुञ्जते सुखदुःखार्त्तास्तदात्वे कृतमानसाः ॥२॥

आबाल्याद्वार्धकं यावज्जीविकार्थं प्रधावताम् ।
चिन्ता चितेव लोकानां, देहं दहति निर्दयम् ॥३॥

किमर्थं वो वयो धाता, मानवा ! ब्रूत यच्छतु ।
विहायैव फलाकांक्षां, चेष्टा काचिन्न विद्यते ॥४॥

क्षीणायुषो गतश्रीका, हीनभासो व्यथाकुलाः ।
भवन्त्याधीनराष्ट्रस्य, खगा वृक्षा नरा मृगाः ॥५॥

राष्ट्र चिरकाल तक स्थिर क्यों नहीं रहता, उसके कारण प्रदर्शित करते हुए कवि कहता है कि—

द्रव्य के उत्पादन में सामर्थ्य होना ही राज्यतन्त्र का मूल कारण है । अर्थ की इच्छावाले पुरुष अपना परिश्रम दूसरों को बेच देते हैं ॥१॥

अर्थ की अभिलाषा रखने वाले पुरुष कभी सुखी अथवा कभी दुःखी बन कर अपने कर्म से उत्पन्न फल को प्राप्तकर शुभ-अशुभ कर्म-फल भोगते हैं ॥२॥

बाल्यकाल से लेकर बुढ़ापे तक जीविका के लिये इधर-उधर दौड़ते हुए मनुष्यों को (कहां द्रव्य मिलेगा ? कैसे मिलेगा ? और कब मिलेगा ? इत्यादि) चिन्ता चिता की तरह निर्दयी बनकर जलाती है ॥३॥

हे मानवो ! आप ही बतलाइये कि विधाता आपको चिरायुष्य क्यों देवे ? क्योंकि आपके द्वारा फलाकांक्षा को छोड़कर निष्कामभाव से तो कोई कार्य किया हुआ नहीं है । अर्थात् निष्काम कर्म का फल दीर्घ काल तक भोगने को अनेक रूपों में मिलता है, जिसका तुम में अभाव है ॥४॥

पराधीन राष्ट्र के श्रम-विक्रेता मनुष्य प्रायः क्षीणायुष्य वाले, निर्धन,

तस्माज्जिजीविषू राष्ट्रं, परेभ्यश्चोद्दिधीर्षया ।
निजं विनिमयेद् द्रव्यं, कालं निर्गमयेन्न च ।।६।।

यथा जप्यं जपन् विप्रः, पापं स्वीयं व्यपोहति ।
तदेवान्यत्र विक्रीय, क्रेतुः क्लेशान् व्यपोहति ।।७।।

यदाऽहम्भावमाश्रित्य, चेष्टते कालविक्रयी ।
तत्कर्मफलदो धाता, वयस्तस्मै प्रयच्छति ।।८।।

पराधीन-जातेरवस्था-वर्णनम्—

आयुर्नश्यति वर्धते प्रतिदिनं दारिद्र्यमार्त्तिप्रदं,
वैदेश्या वणिजो नयन्ति निपुणा ऐश्वर्यमाकाङ्क्षितम् ।

तेजोहीन, व्यथायुक्त रहते हैं । न केवल मनुष्य ही, परन्तु पराधीन राष्ट्र के पक्षी वृक्ष मनुष्य और मृग [पशु मात्र] भी आहारादि सुविधाओं के अभाव से क्षीण हीन दुःखी तथा स्वल्पायु हो जाते हैं ।।५।।

अतः राष्ट्र को चिरस्थायी बनाने की इच्छावाला, अथवा चिरजीवी होने की इच्छावाला परराष्ट्रों से [ऋणादि के कारण] दवे हुए अपने राष्ट्र का उद्धार चाहने वाला व्यर्थ ही समय न बिताकर राष्ट्रिय कोष के द्रव्य का विनिमय=आदान-प्रदान करे । अर्थात् व्यापार-कार्य में द्रव्य लगाकर राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ावे ।।६।।

जिस प्रकार ब्राह्मण मन्त्रादि का जाप करके पापों को दूर हटाता है । परन्तु यदि वह उसी तपःफल को यजमान से निष्क्रय लेकर बेच देता है, तो उसके प्रभाव से खरीदने वाले के क्लेशों को दूर कर देता है ।।७।।

काल का विक्रय करने वाला मनुष्य जब अहम्भाव का आश्रय लेकर [उससे सम्बन्ध रखनेवाली] चेष्टाएं करता है, तो उसका फल देनेवाला विधाता उसको कर्मफल का भोग कराने के लिये आयु दान देता है । सार यह है कि समय न वेचकर उत्पादन वेचे । उससे द्रव्य भी प्राप्त होता है, और पुण्य-कर्म भी स्वाधीन भाव से किये हुए शेष रहकर चिरायुष्य दिलाने में सहायक होते हैं ।।८।।

पराधीन जाति की कैसी दशा होती है, उसका वर्णन अधोलिखित पद्यों में किया है—

प्रथम तो यह कि जो पराधीन होता है, उसकी [चिन्ता और शोक के कारण] आयु क्षीण हो जाती है । प्राणिमात्र के लिये प्रतिदिन कष्टपद दारिद्र्य बढ़ जाता है । चतुर विदेशी व्यापारी लोग अपनी इच्छानुसार ऐश्वर्य को स्वदेश

साङ्कर्यं कृतिषूद्भवेद् रुचिरपि प्रेयस्सु नो जायते,
शास्त्रं शस्त्रमपि प्रयोगपतितं भूपो हरत्यञ्जसा ।।९।।

कारूणां क्रियतेऽङ्गकर्तनमिनैर्भीतिः समुत्पाद्यते,
पूर्वोपार्जित-भूति-भूषित-भुवश्चिह्नं न सन्दृश्यते ।
जातेर्न्यक्कृतिकारिणी च सततं कर्मावली रच्यते,
शास्त्रे वृत्तदले[1] च लेखनविधौ[2] बन्धो दृढं स्थाप्यते ।।१०।।

१—समाचारपत्रे । २—स्वतन्त्रलेखने तथा समाचारपत्र-सम्बन्धिलेखादिलेखने चेत्याकूतम् ।

जातिर्ज्ञानविधौ प्रमाद्यतितरां मूकायते ज्ञो जनः,
सच्छीलं लयमश्नुते हिममिवादित्यार्चिषा तापितम् ।
शौर्यं हन्ति मिथश्च बन्धुनिवहो धर्मो धरातोऽटति,
व्यापारो विषमायते भवति वै नारीजनोऽप्युत्पथः ।।११।।

ले जाते हैं । अपने नियत कार्यों में भी साङ्कर्य=गड़बड़ हो जाती है । प्रेयः= इन्द्रियों के विषयभोगों में हमारी [पराधीन राष्ट्र के पुरुषों की] रुचि हो जाती है । तथा शास्त्र एवं शस्त्रादि का प्रयोग भी राजा निष्फल कर देता है, अथवा प्रतिवन्ध लगा देता है ।।९।।

कुशल कारीगरों के उन-उन अङ्गों को, जिनके द्वारा उन्होंने यश प्राप्त किया है, काट दिया जाता है । अधिकारियों द्वारा [उनके कथनानुसार कार्य न करने पर] अनेक प्रकार से डराया जाता है । अपने पूर्वजों द्वारा उपार्जित विभूतियों से भूषित भूमिगत चिह्न नष्ट कर दिये जाते हैं । जिन कामों से जाति का तिरस्कार हो, ऐसे कर्म किये-करवाये जाते हैं । तथा शास्त्र, समाचार एवं मौलिक विचार-प्रदर्शनों पर पूरा प्रतिवन्ध लगाया जाता है ।।१०।।

[यही नहीं; पराधीन राष्ट्र होने पर] जाति अपने ज्ञान का संवर्धन भी नहीं कर पाती । विद्वज्जन [सत्यासत्य और हेयोपादेय के निर्णय में] मूक बन जाता है । जैसे सूर्य की किरणों से तपकर वर्फ गल जाती है और उसका पता नहीं लगता, वैसे ही सुशीलता भी विलीन हो जाती है । अपने बन्धु-बान्धव [योग्य शासन के अभाव में] परस्पर लड़भगड़कर अपने शौर्य को नष्ट कर देते हैं । धर्म=शिष्टाचार पृथिवी से उठ जाता है । व्यापार की परिस्थिति डावांडोल हो जाती है, तथा स्त्रियां भी उन्मार्गगामिनी बन जाती हैं ।।११।।

भूषाभूषणसभ्यतासमुदयाः शिल्पं यशो ज्ञादरः,
स्वीया संस्कृतिरात्मशक्तिरतुला गर्वः स्वदेशस्य च ।
जातेश्चाप्यभिमानिता निजकुलस्याभ्युन्नतं गौरवं,
सर्वं नश्यति दासतानिगडिनस्याहो जनस्यावनौ ।।१२।।

शौर्यं कातरतां व्रजेदविरतं शक्तिश्च हीना भवेद्,
लोकः सेन्द्रियकं जनं प्रतिपदं हीनाङ्गकं लक्षयेत् ।
कौबेरं धनमर्जयन्नपि मनाक् दाने भवेदक्षम-
स्तस्माद्वैरभिलष्यतेऽत्र सुविधाः स्वातन्त्र्यमालम्ब्यताम् ।।१३।।

दास्ये संयतितोऽपि नैव नितरां भूरुर्वरा जायते,
वातः शीतलसौरभेण सहितो निश्चेष्टतां यच्छति ।
मोदन्ते पशवो वयांस्यपि न चेन्नृणां पुनः का कथा ?
तस्माद् वै यतितव्यमाशु सुजनैः स्वायत्तशास्त्यै सदा ।।१४।।

पादाघातमवाप्तवत्यरिगणात् शौर्ये च नाशं गते,
शास्त्रे निष्क्रियतां श्रिते निपतिते शस्त्रे करात् स्विद्यतः ।

अहो ! बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि—दासता के पाश से जकड़े हुए मनुष्य के पृथ्वी पर भूषा, आभूषण, सभ्यता, समुन्नति, स्थापत्य कला, यश, विद्वत्ता का सम्मान, अपनी संस्कृति, अपना अतुल आत्मबल, स्वदेशाभिमान, जाति का अभिमान, अपने कुल का विशाल गौरव आदि सब नष्ट हो जाते हैं ।।१२।।

[अधिक क्या कहें—] पराधीन व्यक्ति का शौर्य कायरपन को प्राप्त होता रहता है । उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है । संसार उस पराधीन पुरुष को हृष्ट-पुष्ट अविकलेन्द्रिय होते हुए भी अपङ्ग कहता है । वह चाहे कुबेर के समान धन का संग्रह क्यों न करता हो, पर वह कौड़ी भी दान करने में समर्थ नहीं होता । अतः जो व्यक्ति अपने सर्व कार्यों में सफलता चाहते हों, उन्हें चाहिये कि वे स्वातन्त्र्य का सहारा लें—स्वतन्त्र बनें ।।१३।।

दासता के कारण बार-बार प्रयत्न करने पर भी भूमि शस्य-श्यामला नहीं बनती । शीतल मन्द सुरभिवाही वायु भी आलसी बना देता है । पशु-पक्षी भी पराधीन होने पर प्रसन्न नहीं होते, तब फिर मनुष्यों की तो कथा ही क्या है ? अतएव सज्जनों को चाहिये कि वे निरन्तर स्वायत्तशासन के लिये प्रयत्न करें ।।१४।।

यदि आप पूछें कि उस स्वतन्त्रता की प्राप्ति का उपाय क्या है, तो कवि कहता है—हे सज्जनो ! जब कि शत्रुओं की ठोकरें खानी पड़ती हों,

स्वातन्त्र्यं निजजन्मसिद्धमखिलं प्रेष्ठं विधायात्मना,
धैर्यक्षान्तिसमन्वितः सुमनुजाः ! सत्याग्रहः सेव्यताम् ॥१५॥

आत्मानं बलिनं यमैः सुनियमैराप्तोपदेशैस्तथा,
कृत्वा हृन्निहितं शुभोदयकरं धैर्यास्त्रमुज्जृम्भयन् ।
आक्रामन् रिपु-पङ्क्तिमूर्जितबलां सन्नीतिमाराधयन्,
दुर्भावानपवर्तितुं रिपुहृदो वेदोपदेशं चरेत् ॥१६॥

गुणैः संयुज्यते जेता, जेतारं स्तुवते जनाः ।
तमेव बुद्धि-सम्पन्नं, जनता बहु मन्यते ॥१७॥

परायत्ता जातिः परिलषति धर्माधिकृतये,
तदाप्येवा[1] शास्ते मतमथ निजं संसदि मनाक् ।
ततो भूमिं भूतिं लषति निजराष्ट्रोदयकरीं,
क्रमेणा[2] यन्नित्थं सकलवसुधा शासनमपि[3] ॥१८॥

१—तद्-आप्य-एव इतिच्छेदः । २—आगच्छन् । ३—पद्येऽस्मिन् कविः सत्याग्रहं चिकीर्षद्भ्यः सर्वश्रेष्ठतरं धर्माधिकाररक्षासत्याग्रहमेव मनुते, संकेतयति च ये सत्याग्रहग्रहिला धर्माधिकाररक्षार्थं संयतन्ते, त एव सकलवसुधाशासनमपि लब्धुं शक्नुवन्ति नान्ये । 'धर्मो रक्षति रक्षितः' इति वचनात् ।

शूरता नष्ट हो गई हो, शास्त्र किसी काम के न रहे हों, शस्त्र हाथ से छूट पड़े हों, तब 'स्वातन्त्र्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' इस वाक्य को अपना प्रिय एकमात्र अन्तिम लक्ष्य मानकर धैर्य और शान्ति से युक्त होकर सत्याग्रह करो ॥१५॥

आत्मा को यम नियम और वृद्धोपदेश से बलवान् बनाकर [=कल्याण की ओर प्रवृत्त होने वाली बनाकर] हृदय में निहित धैर्यास्त्र प्रकट करते हुए, अति बलशालिनी रिपु-पंक्ति पर आक्रमण करते हुए तथा सत्याग्रह की नीति का अथवा सत्पुरुषों के कथन का आराधन करते हुए, शत्रु के मानस में स्थित दुष्ट भावनाओं को हटाने के लिये वेदोपदिष्ट सत्याग्रह करे ॥१६॥

[सत्याग्रह में विजयी बनने पर] जेता अनेक गुणों से युक्त हो जाता है । लोग उसकी स्तुति-प्रशंसा करते हैं । और उस बुद्धिसम्पन्न विजेता को ही जनता बहुत मानती है=सम्मान की दृष्टि से देखती है ॥१७॥

पराधीन जाति सर्वप्रथम धर्माधिकार की रक्षा चाहती है । तदनन्तर उसे प्राप्त करके ही यह आशा करती है कि सभा=राज्यपरिषद् में भी उसके मत कुछ मत मान्य हों । तब वह भूमि और राष्ट्र का उत्थान करने वाली

हे जेतर्यदि वाञ्छसीह सुचिरं भोक्तुं महीं रत्नधां,
सूक्तीः संस्मर सत्यपूतमनसां लोकान् पुषाणाश्रयात् ।
श्रेयस्स्वेव नियोजयात्ममनसी[1] रक्षंस्तु ते प्रेयसः[2],
सम्मित्या प्रणयस्व कर्मनिवहं मा त्वां रिपुः कर्षयेत् ॥१९॥

१—आत्म-मनसीति । २—प्रेयोमार्गादिति ।

●

द्वितीयाध्यायस्य 'त्रिविधराजभेदीयः' द्वितीयः पादः

कतिविधा भूपा भवन्तीति प्रदर्शयति—

त्रिविधान् भूमिपालान् वै, लोके पश्यन्ति पण्डिताः ।
स्वधर्मस्थो विधर्मस्थस्तृतीयः पारदेशिकः ॥१॥

तत्र तावत् प्रथमं स्वधर्मस्थं लक्षयति—

धर्मे स्वे परिसंस्थितः सुनृपतिर्बुद्धिं स्वकां पूर्वजैः,
प्राप्ते धर्म इहानिशं स्थिरयति प्रीत्या प्रजा रक्षति ।

विभूति की इच्छा करती है । इस प्रकार क्रमशः आते हुए सारी पृथ्वी के शासन की भी कामना करने लगती है । अतः सर्वप्रथम धर्माधिकार के लिये ही सत्याग्रह करना चाहिये । 'धर्म की रक्षा से ही सब की रक्षा होती है' यह शास्त्रवचन इस में प्रमाण है ॥१८॥

हे विजेता ! यदि रत्नधात्री वसुधा का सुचिरकाल तक उपभोग करना चाहता है, तो सत्य से पवित्र मनवाले महापुरुषों की सूक्तियों का स्मरण कर । अपने आश्रय से मनुष्यों का पालन कर । अपनी आत्मा और मन को कल्याण की ओर प्रवृत्त कर, और उनका प्रेय मार्ग से रक्षण कर । तथा संघटनपूर्वक विचार-विमर्श से कर्ममार्ग पर बढ़ । जिससे कि शत्रु तेरा कुछ न बिगाड़ सके ॥१९॥

●

शासक कितने प्रकार के होते हैं, इसके सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि—

विद्वज्जन स्वधर्मस्थ, विधर्मस्थ और पारदेशिक ऐसे तीन प्रकार के शासकों को लोक में देखते हैं ॥१॥

उनमें पहला 'स्वधर्मस्थ' राजा अपने धर्म में स्थित होकर, अपने पूर्वजों के समय से चले आये धर्म में ही अपनी बुद्धि को स्थिर करता है । प्रीति-

विद्यां शिल्पमथो कृषिं नवनवं विज्ञानमप्याशु वै,
लोकानां च हिताय वर्धयति सद्वाणिज्यकर्मादिकम् ॥२॥

अन्येषां वृषसां न चापि कुरुते निन्दां परैर्गर्हितां,
दीनानां परिपालनाय निधिजं द्रव्यं स्वकं राति च।
आदत्ते च करं मनाग् गतमदः पुष्पासवाहारिवत्,
सारल्येन निजस्य शुद्धयशसः स्ताराय वा केवलम् ॥३॥

द्वितीयं विधर्मस्थं लक्षयति—

भूपोऽन्यः परधर्मसंस्थिरमती राज्ये निजे मत्तवद्,
हालापानरतः शठोऽन्यवनिताऽऽसक्तो वि भक्तो नयात।
स्वच्छन्दो गुरुमातृतातकथनावज्ञाकरः सर्वदा,
सम्पीड्याग्रहपूर्वकः स्वलषितं गृह्णाति नृभ्यः करम् ॥४॥

सङ्कीर्णधर्मः स्ववचः प्रणेता, संक्षिप्तबुद्धिः परुषः शठश्च।
विधर्मसेवी नृपतिर्विशेषाद्, वित्रासयन् नृंस्तनुते करांश्च ॥५॥

तृतीयं पारदेशिकं परिचाययति—

पूर्वक प्रजा-पालन करता है। विद्या, शिल्प, कृषि, अनेक तरह के नये-नये विज्ञान और व्यापार आदि को समाजहित के लिए बढ़ाता है ॥२॥

और सदा दूसरों के धर्मों की निन्दा,जोकि सर्वथा निन्दनीय है, नहीं करता। दीनजनों के पालनार्थ अपने कोष का द्रव्य देता रहता है। फूलों से आसव ग्रहण करने वाले मधुकर की तरह बिना पीडा दिये मदरहित होकर सामान्य 'कर' ग्रहण करता है। वह 'कर' बड़ी सरलता से अपने शुद्ध यश के विस्तार के लिये ही होता है ॥३॥

दूसरा 'विधर्मस्थ' राजा दूसरे के धर्म में बुद्धि को स्थिर करता है। अपने शासन में मत्त-की तरह मूर्ख, हाला-पान में रत, दूसरे की वनिताओं में आसक्त, न्याय से परे, स्वच्छन्द, गुरु माता पिता की आज्ञा का निरन्तर तिरस्कार करने वाला, अपनी इच्छा के अनुसार जनता को पीडित कर हठ-पूर्वक 'राज्यकर' लेता है ॥४॥

धर्म की छोटी-छोटी बातों में सङ्कीर्ण वृत्ति वाला, उचित अनुचित का विचार न कर अपने कथन को सत्य बताने वाला, अदूरदर्शी, कठोरभाषी, मूढ और विधर्म की सेवा करने वाला, जनता को त्रस्त करके 'राजदेय' ग्रहण करता हुआ कर=टेक्स को बढ़ाता है ॥५॥

राजा भिन्नभुवो विजित्य वसुधां नानागुणैरञ्चितां,
मूर्तिं प्राप्य बलान्नयत्यविरतं देशं स्वकं सर्वथा ।
निम्नान्निम्नतमां स्वदेशजकृतिं संश्लाघते सर्वदा,
पुष्णाति स्वजनान् परास्यति परान् संस्थाप्य राज्ये निजे ॥६॥

सामान्यतया राज्ञः कर्तव्यमवगमयति—

प्रजानां रञ्जनायेशः, कर्म कुर्याद् मृदूत्तमम् ।
रञ्जितास्तेन ता भूपं, परिपुष्णन्ति सर्वशः ॥७॥

नानाभाव-समृद्धार्थां, प्रजाक्षेमक्षमां भुवि ।
नृपो नीतिं प्रवर्त्यालमात्मानं च प्रभावयेत्[1] ॥८॥

१—प्रभावशालिनं कुर्यादिति भावः ।

प्रजापालनाय राज्ञे कर्म निर्दिशति—

क्वचिद् रागी क्वचिद् रोगी, क्वचिद्याचकवेषभृत् ।
क्वचित् कान्थः क्वचित् पान्थः, क्वचिद्दारिद्र्यपीडितः ॥९॥

क्वचिच्चौरः क्वचिच्चारः, क्वचिच्चैव निशाचरः ।
धृत्वैवं विविधान् वेषान्, विशो[1] रक्षेत् स नित्यशः ॥१०॥

१—विशः=प्रजा इति ।

तीसरा 'पारदेशिक' भूपति अनेक गुणों से भूषित भिन्न-भिन्न स्थानों की भूमि को जीत कर, तथा वहां की अमूल्य वस्तुओं और द्रव्य को बलपूर्वक हर प्रकार से अपने देश में ले जाता है। अपने देश की छोटी से छोटी कृति की भी पूर्ण प्रशंसा करता है। और आत्मीय व्यक्तियों को अपने राज्य में रखकर उनका पोषण करता है, तथा अन्यजनों का तिरस्कार करता है ॥६।

सामान्य रूप से राजा के कर्त्तव्य दिखलाते हैं कि—

राजा प्रजारञ्जन के लिये ही उत्तम और सराहनीय कर्म करे। उससे प्रजा प्रसन्न होकर हर प्रकार से राजा का परिपोषण करती है ॥७॥

अनेकविध भावों से ओत-प्रोत, प्रजा का कल्याण करने में समर्थ, ऐसी नीति का प्रवर्तन कर राजा अपने को प्रभावशाली बनाये ॥८॥

कहीं रागी, कहीं रोगी, कहीं याचक का वेष धारणकर, कहीं फटे-पुराने चिथड़े पहनकर, कहीं चोर, कहीं गुप्तचर, कहीं पहरेदार ऐसे विविध वेषों को धारण करके राजा नित्य प्रजा-पालन करे॥ ९, १०॥

हित्वैन्द्रियं यः सुखमत्र भूपः, प्रजाहितार्थं लभते विपत्तिम् ।
विज्ञः सदा प्रेप्सितपितृतुल्यं, वाञ्छन्ति तं सत्यहृदा क्षितीशम् ॥११

स्मरजान् दश दोषान्[1] यः, क्रोधोत्थानष्ट[2] चापरान् ।
शक्तो जेतुं जितात्माऽसौ, विजेता भुवि विद्यते ॥१२॥

१—मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः
तौर्यत्रिकं वृथाटाट्या कामजो दशको गणः ॥
२—पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥
मनुस्मृति अ० ७, श्लोक ४८, ४९ ॥

परिश्रमी स्वाप्तजनोपसेवी, जितेन्द्रियश्चारजनेषु चारु ।
कृताकृतं कर्म नरस्य सम्यक्, परीक्ष्य योग्यं प्रणयेद्धि दण्डम् ॥१३॥

राजविभागेषु नियोजनार्हान्निर्दिशति—

निष्णाता नयतुर्यके[1]ऽधिकतमं यैरर्जितं सद्यशो,
ये दीन-द्विज-धेनु-धार्मिकजनान् रक्षन्ति चैवान्वहम् ।

जो राजा इन्द्रियसुख का परित्याग कर, प्रजाहित के लिये विपत्ति सहन करता है, उसको बुद्धिमान् प्रजाजन अपने प्रिय पिता के तुल्य सदा सच्चे हृदय से चाहते हैं ॥११॥

जो भूपति काम के दस दोषों§ और क्रोध के आठ दोषों‡ को जीतने में समर्थ है, वही जितात्मा पृथ्वी पर विजेता है ॥१२॥

परिश्रमी, वृद्धजनों की सेवा करनेवाला, जितेन्द्रिय, गुप्तचर और सेवकों के प्रति प्रिय व्यवहार करनेवाला राजा किसी भी मनुष्य के अपराध को पूर्णरूपेण परीक्षा करके योग्य दण्ड देवे ॥१३॥

कवि राज्य-विभागों में रखने योग्य पुरुषों का निर्देश करता है—

राजा को चाहिये कि वह अपने राज्य में जो साम, दान, दण्ड और भेद इन चार नयों में निष्णात हों, जिन्होंने पूर्ण यश अर्जन किया हो, जो दीन

---

§काम के दस दोष—

मृगया, द्यूत-क्रीड़ा, दिन में सोना, परिवाद, स्त्रियों के साथ आनन्द लेना, सुरापान, नाचना, गाना, बजाना और वृथा घूमना ।

‡क्रोध के आठ दोष—

पैशुन्य, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थ-दूषण, परुष-भाषण, तथा कठोर दण्ड देना ।

सन्मित्रैः समुपासिताः सुवचसः शिष्टाः प्रसन्नानना,
योज्यास्ते वसुधाधिपेन कृतिषूत्प्रेक्ष्यैव राज्योन्नतिम् ॥१४॥

१—साम-दान दण्ड-भेदात्मके ।

●

द्वितीयाध्यायस्य 'स्वराज्य-महिम-वर्णनीयः' तृतीयः पादः

वैदेशिकः कथमपि हितावहो न भवतीति विज्ञापयति—

मतमतान्तर-रागविवर्जितो, हितमनाः सदयः पितृवन्महान् ।
परधराज[1]नृपो मृदुवर्तयन्नपि न जातु भवेत् सुखदः क्वचित् ॥१॥

१—वैदेशिक इति ।

तस्मात् सदैवाप्तजनानुशिष्टा, भूपं स्वदेशोद्भवमामनन्ति ।
श्रेष्ठं प्रजापालन-कीर्तियुक्तं, स्वराष्ट्र-सम्पद्विनियोगदक्षम् ॥२॥

अन्यायिनो न भेतव्यम्—

विदेशसम्भूत-नृशंसभावो, लुब्धस्तथाऽनीतिपरायणश्च ।
उच्छृङ्खलोऽसत्पथगोऽतिमानी, राज्यासनं दैववशादुपेतः ॥३॥

ब्राह्मण गौ और धार्मिक जनों की सदा रक्षा करते हों, जो अच्छे मित्रों से युक्त, प्रिय-वक्ता, शिष्ट और प्रसन्नमुख हों,ऐसे व्यक्तियों को सम्यक् परीक्षा कर यथोचित स्थानों पर नियुक्त करे, जिससे राज्य की उन्नति हो ॥१४॥

●

कवि बतलाता है कि विदेशी राजा कभी सुखदायी नहीं होता—

चाहे वह मत-मतान्तर के प्रेम से रहित हो, मन से सब की हितकामना करता हो, दयालु हो, पिता की तरह उदार हो, और जनता के साथ मृदु व्यवहार भी करता हो, तथापि वह [वस्तुतः विदेशी है, उसमें काल्पनिक= कृत्रिम प्रेम होता है इसलिये] कभी सुखदायी नहीं होता ॥१॥

यही कारण है कि वृद्धजनों के वचनों पर चलने वाले व्यक्ति, जो कि प्रजापालक,कीर्तिमान् और अपने राष्ट्र की सम्पत्ति के आदान-प्रदान से कोष-वृद्धि में दक्ष हो, ऐसे स्वदेशीय नृपति को ही उत्तम मानते हैं ॥ २ ॥

'अन्याय करना पाप है, पर अन्याय सहन करना महापाप है', इस उक्ति को ध्यान में रखकर कवि कहता है कि—

विदेश में उत्पन्न, क्रूर स्वभाव वाला, लोभी, अनीतिपरायण, उद्दण्ड, कुमार्गगामी, और अत्यन्त अभिमान रखने वाला व्यक्ति यदि दैववश राज्या-

एवंविधे शासति भूमिपाले, वृथा सुखाशेति मतं मदीयम्।
सुखेप्सुभिर्नीतिपथानुगैः स, नृपः सुवाग्भिः परिबोधनीयः ॥४॥

यथा विहायेह कुनीतिमार्गं, प्रजाप्रसादाय मनो विदध्यात्।
नो चेत प्रजारोष-विवृद्धवह्नावात्मानमुत्सादयितुं सहेत ॥५॥

विश्वस्य विश्वेशमशेषकारी, कुराज्यमुद्धर्तुमना यतेत।
उच्छेत्तुमेवाऽविकलैरुपायैरधार्मिकं नो नृपतिं क्षमेत ॥६॥

१—विश्वस्य=विश्वासं कृत्वेत्यर्थः।

क्षमेत नो कदाचिद्धि, नृपं दुर्णय-कारिणम्।
क्षमा-वात-हतः क्वापि, दावाग्निरिव सञ्ज्वलेत् ॥७॥

अन्यायिनो बलाढ्याच्च, न भेतव्यं कदाचन।
धार्मिकं दुर्बलं वापि, नृपं प्राज्ञोऽतिमानयेत् ॥८॥

धीरा अनाथा गुणवीर्यहीना, लक्ष्म्या विहीना यदि वा भवेयुः।
निःशेष-शक्त्या प्रियचेष्टया च, प्रोद्धर्तुमेतान् सततं यतेत ॥९॥

सन को प्राप्त हो गया हो, तो उसके शासन में सुख की आशा करनी व्यर्थ है, ऐसा कवि का अभिप्राय है। अतः सुख चाहने वाले नीतिनिपुण व्यक्तियों को चाहिये कि वे उस नृपति को वाणी से परिबोधित करें॥ ३,४॥

जिससे कि वह राजा कुनीति के मार्ग को छोड़कर प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए प्रयत्नशील होवे। अन्यथा प्रजा के रोष से बढ़ी हुई अग्नि में अपने को जलाने के लिये प्रस्तुत रहे॥ ५॥

ईश्वर पर विश्वास रखकर दुर्नीति को उखाड़ फेंकने वाला व्यक्ति दुष्ट राज्य को मिटाने का प्रयास करे। समस्त उपायों से उसका उच्छेद करने में लगा रहे, और अधार्मिक नृपति को कभी क्षमा नहीं करे॥ ६॥

अन्यायकारी राजा को कभी क्षमा नहीं करे। क्योंकि क्षमारूपी वायु से दबी हुई जैसे दावाग्नि फिर तेजी से जल उठती है, वैसे ही वह भी कहीं अधिक बलशाली बनकर अन्याय पर न उतर जाय, एतदर्थ वह सर्वथा अक्षम्य है॥७॥

अन्यायी और बलशाली राजा से कभी डरना नहीं चाहिये। किन्तु धार्मिक राजा दुर्बल हो, तो भी बुद्धिमान् को उसका अति सम्मान करना चाहिये॥ ८॥

धीर पुरुष अनाथ, गुणहीन, वीर्यहीन वा दरिद्र ही क्यों न हों, तो भी उनका पूर्ण शक्ति और प्रिय व्यवहार द्वारा उद्धार=सत्कार भरणपोषण करने के लिये सदा प्रयत्न करे॥ ९॥

कुमार्गगस्य क्षितिपस्य नूनं, चिन्त्योऽपकर्षोऽवनतिश्च वाञ्छ्या।
कुर्वन्निहैवं यदि मृत्युमेयात्, कीर्तिं स्पृशन् स्वर्गमवाप्नुयात् सः॥१०॥

मा ब्रूहि दीनं वचः—

[युग्मकम्]

नो धाता विदधाति पौरुषपरे दुःखं सुखं स्वेच्छया,
ज्ञात्वा कर्तृनरस्य वेगघटितं सर्वेष्टदं कार्मणम्।
कार्पण्यं त्यज धीरतां भज सखे! भोगान् गृहाणागतान्,
निर्द्वन्द्वः समतापरः स्ववहितः सत्याग्रहं संश्रय॥११॥

संसारे मनुजाः प्रलम्भन-धियो नॄन् वञ्चयन्तेऽन्वहं,
ते[1]ऽन्तर्भावमवाप्तुमन्यजनुषः स्वात्मीयते तन्मनः।
सूक्त्यैके रसयन्ति हृत्कटुगिरा सन्तोषयन्त्याः[2] परं,
स्वातन्त्र्ये विपदेति भूतिबहुला मा ब्रूहि दीनं वचः॥१२॥

१–ते=प्रलम्भनधियो नराः प्रवञ्चकाः। २-आः=आश्चर्येऽव्ययम्।

प्रसङ्ग-प्राप्तां विपदं लक्षणतो विवृणोति—

निश्चय ही कुमार्गगामी राजा के अपकर्ष=अप्रियाचरण को विचारना चाहिये। और वह अवनति को किस प्रकार प्राप्त हो, ऐसे उपायान्वेषण की इच्छा करनी चाहिये। इस तरह की प्रवृत्ति के कारण यदि मृत्यु भी हो जाय, तो भी वह कीर्ति पाकर स्वर्ग में जाता है॥ १०॥

पुरुषार्थकारी मनुष्य को विधाता सुख वा दुःख अपनी इच्छा से नहीं देता है, अपितु मनुष्य के वेग-पूर्वक किये गये इच्छित कर्मों को देखकर ही सुख दुःख देता है। अतः हे मित्र! कृपणता का त्याग कर, धीर बन, आये हुए भोगों का उपभोग कर। निर्द्वन्द्व और समदर्शी बनकर सावधानी से सत्याग्रह कर॥ ११॥

प्रतिदिन ठगबुद्धि वाले मानव संसार में मनुष्यों को ठगते हैं। वे वञ्चक मन की बात जानने के लिये अन्य मनुष्यों को बड़े प्रेम से आत्मीय बनाते हैं, अथवा उनके बन जाते हैं। कुछ व्यक्ति तो मीठी वाणी बोलकर प्रेमी बन जाते हैं, कुछ कटु वचन कहकर सन्तप्त करते हैं। किन्तु आश्चर्य है कि स्वतन्त्रता में [पहले] विपत्ति आती है, और [तदनन्तर] भूति=ऐश्वर्य प्राप्त होता है। अतः [सङ्कट के समय दुःखित होकर] दीन वचन मत बोल॥ १२॥

प्रसङ्गवश विपत्ति का लक्षण-पूर्वक निर्देश करते हैं कि—

सम्पद्व्यपेया द्विरुजेच्छरीरमरित्वमेयुः सुहृदः पुराणाः ।
गुरुः सुतः स्त्रीमनसोऽवसादे, स्युर्हेतवो यत्र विपद् भवेत् सा ॥१३॥

१—अत्रैकैकस्य द्वयोर्द्वयोः समुदितानां चार्थोऽभ्यवहार्यः ।

जीवितं तात ! संसारे, मृत्तिका-कुम्भ-भङ्गुरम् ।
तस्मादीहस्व सततं, सत्यं धर्मं यशः सुखम् ॥१४॥

देश-द्रोहिणो वर्णनम्—

निष्कृपाः पिशुनाः क्रूरा, निस्त्रपाः कलहप्रियाः ।
मित्र-बन्धु-वचो नित्यं, नो सहन्तेऽतिदुर्जनाः ॥१५॥

वञ्चयन्ते स्वपक्ष्यान् ये, शत्रुतो द्रविणेप्सया ।
विद्विषन्तीह ते राष्ट्रमात्मानं स्वजनांस्तथा ॥१६॥

कुलीनान् विद्यया युक्तानपि राष्ट्रद्रुहो जनान् ।
ससैन्यान् क्रूरदण्डेन, प्रभुः शिष्याद्धि सर्वदा ॥१७॥

ह्रियं व्रतं शुचिं शौर्यं, मौनं दैन्यं प्रियं वचः ।
साधुः स्वदेशोन्नतये, युङ्क्तेऽन्यः स्वार्थसिद्धये ॥१८॥

सम्पत्ति चली जाय, शरीर रोगी बन जाय, पुराने मित्र शत्रुत्व को प्राप्त हो जांय, गुरु पुत्र तथा स्त्री मन को दुःखी करने में कारणभूत हों, ऐसा जिस में हो वह 'विपत्ति' कहलाती है ॥ १३ ॥

हे भाई ! जगत् में जीवन मिट्टी के घड़े की भांति क्षण-भंगुर है । इसलिये निरन्तर सत्य, धर्म, यश और सुख की कामना कर ॥ १४ ॥

देशद्रोही का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

जो अति दुर्जन होते हैं, वे निर्दय, चुगलखोर, क्रूर, निर्लज्ज और कलह-प्रिय होते हैं । वे मित्र एवं बन्धुओं के वचन कभी सहन नहीं करते हैं ॥ १५ ॥

जो शत्रु से द्रव्य प्राप्त करने की इच्छा से अपने पक्षवालों को ठगते हैं, वे राष्ट्र से, स्वयं से, और अपने व्यक्तियों से द्वेष करते हैं ॥ १६ ॥

राजा राष्ट्रद्रोही जनों को, चाहे वे कुलीन और विद्या से युक्त भी क्यों न हों, तो भी सैन्यसहित अथवा उनके गुट में रहने वाले सभी व्यक्तियों को सदा कठोर दण्ड देवे ॥ १७ ॥

साधुजन लज्जा, व्रत, शुचिता, शूरता, मूकभाव, दीनता और प्रियवाणी का उपयोग अपने देश की उन्नति के लिये करते हैं । परन्तु असाधु = असज्जन अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये लज्जा आदि का प्रयोग करते हैं ॥ १८ ॥

प्रसङ्गप्राप्तं साधुं लक्षणतो विशदयति—

सत्यजीवो भवेत् साधु, सत्याभासे न सन्नमेत् ।
वेद-वेदानुकूलोक्तावभयो नमयेज्जनान् ॥१९॥

स्वां भाषां संस्कृतिं भूषां, राष्ट्रीयाः समुपासते ।
भाषा विदेशजा भूषा, संस्कृती राष्ट्रविद्विषाम् ॥२०॥

देशद्रोहिणं प्रति वचनम्—

राष्ट्रायेर्ष्यसि मूर्ख ! देशसुखदां नीतिं समाकर्णय,
यं प्रीणासि विदेशजं नृपमिमं स्वार्थाप्तये संयतः ।
स त्वां धक्ष्यति तर्पितोऽपि हुतभुक् स्पृष्टो यथैवर्त्विजं,
तस्माद् राष्ट्रहिताय योजय मनो मा तेऽन्यथा स्यान्मनः ॥२१॥

नृपाणां कः प्रियो नाम, सर्वथा तेऽर्थसाधकाः ।
जाठरोऽग्निरलब्ध्वाऽन्नं, शोषयेद्देहजान् रसान् ॥२२॥

साधु के लक्षण बतलाते हुए कवि लिखता है कि—

साधु सत्य पर जीने वाला होवे । जहां केवल सत्य का आभास हो, वहां नहीं झुके । वेदानुकूल स्मृत्यादि धर्मशास्त्र के आदेश का पालन करता हुआ मनुष्यों को तदनुगामी बनावे ॥ १९ ॥

अपनी [संस्कृत वा हिन्दी] भाषा, संस्कृति और वेषभूषा को राष्ट्रीय व्यक्ति अपनाते हैं । किन्तु राष्ट्रद्रोही विदेशी भाषा, विदेशी पहनावा और विदेशी संस्कृति के प्रेमी होते हैं ॥ २० ॥

हे देशद्रोही मूर्ख ! तू राष्ट्र के साथ ईर्ष्या का व्यवहार करता है. [यह उचित नहीं है । अतः मेरी] देश को सुखी बनाने वाली नीति को सुन । तू जो इस विदेशी राजा को अपने छोटे से स्वार्थ के लिये दिन-रात संलग्न रह कर प्रसन्न कर रहा है, यही राजा तुझको जैसे स्वाहाकार से तृप्त करने वाले ऋत्विज को अग्नि जला देता है, वैसे ही जला देगा । अतः तू अपने मन को राष्ट्रहित में लगा । यह तेरा चित्त विपरीत आचरणकारी न बने ॥ २१ ॥

राजाओं का कौन प्रिय है, वे तो केवल स्वार्थ-साधक हैं । जैसे पेट की ज्वाला अन्न न मिलने पर शरीर में उत्पन्न होने वाले अन्य रसों को सुखा देती है, वैसे ही राजा भी स्वार्थ सिद्ध न होने पर सर्वसाधारण को दुःख देता है ॥ २२ ॥

तपस्विनो मानधना महौजसो, महाकुलीना बहुविद्यया युताः ।
सन्तीह देशे शतशः सहस्रशः, किं तैर्न रै राष्ट्रहितं न यैः कृतम् ।।२३।।

देशोद्धिधीर्षोरवस्था-वर्णनम्—

ज्ञातिर्द्रुह्यति भिद्यते परिजनो गृह्णाति भूमिं नृपः,
प्राणा नित्यमिहाग्निवास-सदृशं दुःखं सहन्ते सदा ।
भैक्ष्यं क्वापि कदापि भूमिशयनं भ्रान्तिर्वने वा घने,
देशोद्धारपरायणाः सुकृतिनः किं नो सहन्ते मुदा ।।२४।।

●

द्वितीयाध्यायस्य 'सदैवमृद्वीयः' चतुर्थः पादः

सत्याग्रहस्य पद्धतिं प्रशंसति—

सदैव मृद्वी सुयशोऽर्थदात्री, दयान्विता हिंस्रमनो-विहन्त्री ।
सत्याग्रहाद् दुर्दमना नृशंसैः, सत्पद्धतिः[1] दृष्ठदिर जनस्य चार्या ।।१।।

१—सतः सत्यस्य सत्याग्रहस्य वा पद्धतिः । किञ्च सतां सज्जनानां पद्धतिरिति श्लेषालंकारः ।

तपस्वी, सम्मान को ही धन मानने वाले, पूर्ण प्रतापी, उच्चकुल वाले, और अनेक विद्या के पारगामी पुरुष इस देश में सैंकड़ों और हजारों हैं । किन्तु यदि वे राष्ट्र के हितार्थ कार्य नहीं करते, तो उनसे क्या लाभ है ? ।।२३।।

देशोद्धारकों की अवस्था का वर्णन करते हुए कवि बतलाता है कि—

देश का उद्धार करने में तत्पर बुद्धिमान् पुरुष जब देश सेवा में लग जाते हैं, तब जाति के व्यक्ति उनसे द्वेष करते हैं, परिवार के लोग अलग हो जाते हैं, राजा जमीन-जायदाद छीन लेता है, उनके प्राण मानों नित्य अग्नि में ही निवास करते हों, इस तरह अनेक कष्ट सहन करते हैं । कहीं भीख मांगकर, कभी भूमि पर सोकर, कभी गहन वन में घूम कर वे अपने दिन बिताते हैं । इस प्रकार वे किन किन कष्टों को प्रसन्न होकर सहन नहीं करते, अर्थात् सब कष्टों को सहन करते हैं ।। २४ ।।

●

सत्याग्रह-पद्धति की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि—

यह सत्याग्रह की पद्धति सदा कोमलता से युक्त, सुयश को देने वाली, दया से विभूषित, और हिंसा की मनोवृत्ति को नष्ट करने वाली है । यह सत्यता

मनोवाक्कर्मभिर्लोके, येऽसत्यं पर्युपासते ।
नित्यं तेषां पराभूत्यै, प्रयतन्ते जिगीषवः ॥ २ ॥

आतिष्ठन्ति परं यत्नं, विद्विषश्छिद्रमार्गणे ।
सन्धिमादृत्य सद्भूत्यै, यतन्ते च जिगीषवः ॥ ३ ॥

विपत्तौ बुद्धिचातुर्यं, सम्पत्तौ गर्वहीनता ।
नैपुण्यं सर्वकृत्येषु, संग्रामे हस्तलाघवम् ॥४॥

दातृत्वमर्थिसार्थेषु, दत्त्वा मौनं सभासु च ।
हितैषिणां स्तुतिर्नित्यं, सतामेतद्धि चेष्टितम् ॥५॥

लघूनां सम्भृतिः शक्त्या, प्रियं न्याय्यं च भाषणम् ।
व्यसनं शास्त्रवार्त्तासु, सज्जनेषु न हीयते ॥६॥

भीरुत्वमथ सन्तोषो, जयमार्ग-प्रबाधकौ ।
जिगीषुः कण्टकावेतावुद्धरेदतियत्नतः ॥ ७ ॥

के आग्रह से युक्त होने के कारण क्रूर शासकों के द्वारा कभी नहीं दबने वाली है, इसीलिये यह सज्जनों की पद्धति है। इससे अतिरिक्त कपटी और दुर्जनों की पद्धति समझनी चाहिये ॥ १ ॥

जो मन वचन और काया के द्वारा असत्य की उपासना करते हैं, उनको हराने के लिये जीतने की इच्छा रखने वाले पुरुष सदा प्रयत्नशील रहते हैं ॥ २ ॥

विजय की अभिलाषा वाले, विद्वेषी व्यक्ति के दोष ढूंढने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। और सन्धि स्वीकार करके सद्भाव के लिये प्रयत्न करते हैं ॥ ३ ॥

विपत्ति में बुद्धि की चतुराई, सम्पत्ति में निरभिमानिता, सब कृत्यों में निपुणता, युद्ध में हस्तलाघव, याचकों को दान देना, सभा में मौन रहना अथवा मितभाषी रहना, और हितैषियों की नित्य स्तुति करना, निश्चय ही ये सज्जनों के कृत्य हैं ॥ ४-५ ॥

अपनी शक्ति के अनुसार छोटे व्यक्तियों का पोषण करना, प्रिय और न्याय-सङ्गत बोलना, तथा शास्त्रीय विवेचनों का व्यसन, ये सज्जनों में कभी नष्ट नहीं होते ॥ ६ ॥

भीरुता और सन्तोष ये दोनों विजय के मार्ग में बाधक हैं। इसलिये विजय चाहनेवाला इन दोनों कण्टकों को बड़े प्रयत्न से दूर करे ॥ ७ ॥

विपत्तौ नैव कार्पण्यं, समृद्धौ नात्मतोषणम् ।
समत्वं सर्वभावेषु, जिगीषुः सततं चरेत् ॥ ८ ॥

सागरो नैव तन्मार्गं, रोद्धुं शक्तोऽतिवेल्लितः ।
अचलाः शकलायन्ते, जिगीषोर्दृढकारिणः ॥ ९ ॥ ?किमर्थं भवन्ति?

नदीर्विशालाः परिलङ्घ्य बन्धैः, शैलानुदीर्णान् विनतान् विधाय ।
हिंस्रान् विनीयात्मबलेन सम्यक् प्रज्ञाप्रभावान् परितोऽभ्युपेयात् ॥१०॥

विदार्य भूमिं तलमेत्य तस्या, वियच्च यात्वा विविधैर्विमानैः ।
दवाग्निवर्त्मस्वपहाय भीतिं, सदा स्वराष्ट्रस्य हितं चिकीर्षेत् ॥११॥

तपोविहीना बत लक्ष्यहीनास्त्रस्ताः कदा कीर्त्तिमिहाप्नुवन्ति ?
सुराः सुधार्थं जलधिं ममन्थुर्दैत्यैः सहायैरतिधीरभावाः[1] ॥ १२ ॥

१—अत्र पूर्वार्धे अर्थापत्तिरुत्तरार्धे च दृष्टान्तालंकारस्तेन सिद्ध्यभिलाषुकैस्तपस्वि-लक्ष्यपूर्णाभीरुकैश्च भवितव्यमित्याकूतम् ।

विपत्ति-काल में कृपणता न करना, समृद्धि के दिनों में आत्मसन्तोष नहीं करना, सर्वभावों में समता रखना, ये तीनों वातें विजय का अभिलाषी नित्य करे ॥ ८ ॥

दृढप्रतिज्ञ और जय की कामना करने वाले के मार्ग को तूफान पर चढ़ा हुआ सागर भी नहीं रोक सकता । और उसके समक्ष पहाड़ भी स्वयं छोटे-छोटे टुकड़ों के समान वन जाते हैं ॥ ९ ॥

[जय का इच्छुक] वड़ी-वड़ी नदियों को वांध और पुल बनाने से लांघकर, ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों को तोड़-फोड़ने से विनत बनाकर, एवं हिंस्र प्राणियों को अपने आत्मवल से पूर्ण वश में करके, अपनी बुद्धि के प्रभावों को चारों ओर फैलाये ॥ १० ॥

[न केवल इतना ही, अपितु] प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि पृथ्वी को खोदकर उसके तल में पहुंच कर, अथवा अनेक तरह के विमानों से आकाश तक जाकर, और जहां दावानल जल रहा हो ऐसे मार्ग में जाते हुए भी भय को त्याग कर, राष्ट्र के हित की सदा इच्छा करे ॥ ११ ॥

अहो ! यहां तपस्या से हीन, लक्ष्य से हीन, एवं डरपोक व्यक्ति कीर्ति को कब प्राप्त कर सकते हैं ? क्यों कि देवताओं ने भी असुरों के सहयोग से पूर्ण परिश्रम करके अमृत के लिये समुद्र का मन्थन किया, और अत्यन्त धीर भाव से सब कुछ सहन किया, तब ही उनको अमृत प्राप्त हुआ । अतः प्रत्येक

इदानीं प्रसंगप्राप्तं विघ्नं स्वरूपतो विशदयति—

प्रियाप्रिये विघ्नपदेन लोके, समाव्रियेते कवयो वदन्ति ।
प्रियान् लभन्तेऽप्रियमत्र हित्वा, हिताहिते नो विविनक्ति लोकः ॥१३॥

स्वल्पार्थतो विघ्नपदं तदुक्तं, विलम्बयन् यातुरसून् क्षिणोति ।
तस्मात् प्रयाता विरजस्तमः सन्, व्युदासितुं विघ्नचयं यतेत ॥१४॥

मनोऽनुकूलानि हितानि यानि, विचालयन्त्येव तु तानि मर्त्यम् ।
ब्रूताहिसिंहौ नहि हन्ति कोऽत्र,कश्चात्र हृद्यानि[1] निहत्य शेते ॥१५॥

१—अत्र पद्ये सामान्येन नपुंसकलिंगप्रयोगो, न तु विशेषमभिलक्ष्य ।

रजस्तपोभ्यां परिलुप्तचेता, हृद्येषु सक्तो व्ययते वयः स्वम् ।
हृद्यान्यहृद्यानि फलन्ति चात्र, यथा जरायां वपुषः स्वरूपम् ॥१६॥

को तपस्वी, लक्ष्ययुक्त और निडर होना चाहिये । तब ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ १२ ॥

कवियों=अनुभवशील विद्वानों का कथन है कि जगत् में विघ्न प्रिय और अप्रिय इन दो रूपों में सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं । मनुष्य इस जगत् में अप्रिय को त्यागकर प्रिय को ग्रहण करते हैं । परन्तु वे भी विघ्नरूप ही प्रमाणित होते हैं । अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य हित और अहित का विवेचन नहीं करता, किन्तु अनुकूलों की ओर दौड़ता है ॥ १३ ॥

संक्षेप में 'विघ्न' उसे कहते हैं कि जो गन्तव्य की प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नकर्त्ता यात्री के प्राप्तव्य को विलम्बयुक्त करता हुआ आयु को घटाता है । इसलिये सत्यमार्गानुयायी रजोगुण तथा तमोगुण से परे रहकर अर्थात् सत्त्वगुण से युक्त होकर प्रिय और अप्रिय विघ्नों के समूह को दूर हटाने का प्रयास करे ॥ १४ ॥

वस्तुतः देखा जाय तो प्रिय विघ्न ही मनुष्य को अधिक विचलित करते हैं । अन्यथा आप ही कहिये कि अप्रिय सिंह और सर्प को कौन नहीं मारता है ? और प्रिय मित्र स्त्री तथा पुत्रादि को दूर हटाकर कौन सोता है ? कोई नहीं, अपितु उनके द्वारा ग्रसे रहते हैं ॥ १५ ॥

रज और तम के कारण परिलुप्त चेतना-शक्ति वाला मूर्ख प्रिय वस्तुओं में आसक्त होकर व्यर्थ अपनी आयु को बिताता है । किन्तु [यह नहीं समझता कि] जैसे बुढ़ापे में शरीर का स्वरूप बिगड़ जाता है, वैसे ही उसके वे अभिलषित मनोरथ भी अप्रिय विघ्न के रूप में परिणत हो जाते हैं ॥ १६ ॥

विघ्ना अशेषा हि समस्य[1] लोके, तांस्तान् समस्तांस्तु समस्य[2] योऽत्र।
तिष्ठेद्वयस्या: सुसमस्य[3] मौनं, स्यात् कान्तिमन्मानसमस्य[4] शीघ्रम् ।१७

१—सर्वस्य=प्राणिमात्रस्य कृते। २—एकीकृत्य। ३—क्षिप्त्वा। ४—मानसम् अस्येति। ५—अत्र समस्येति पदस्य पुनरुक्तवदाभासत्वात् पुनरुक्तवदाभासोऽलंकार:।

स्वको विवाहश्च सुतप्रसूतिर्मन:प्रसादं कुरुते न कस्य?
सूक्ष्मेक्षया पश्यतु मर्त्यलोके, किमीदृशं यन्न विहन्ति मर्त्यम्[1]।।१८।।

१—कैमुतिकन्यायेनात्र 'अर्थापत्तिर्विरोध:' च।

तस्मादृतार्थी सुतरां प्रबुद्धः, पिधाय कर्णौ नयने निमील्य।
नियोजयेत् साध्यविधौ वय: स्वं, जितान्तराय: परितोषमेयात् ।।१९

निपात्य विघ्नांस्तु निजार्थयायी, य: स्यात् स मान्य: स च सज्जविष्ठ:।
धनेन रूपेण च किन्नु तेषां, यै: साध्यमार्गान्मनुजाश्च्यवन्ते ।।२०।।

जनो न रोगान् न च बन्धुनाशं, समीहते नैव सुतप्रणाशम्।
आयान्ति चैतानि कृतानुबन्धाद्विघ्नस्त्वनिष्टो विनिहन्ति मर्त्यम् ।।२१

हे मित्रो! प्राणिमात्र के लिये संसार में अनेक विघ्न निश्चय ही स्थित हैं। उन सब विघ्नों को एकत्र करके चुपचाप दूर हटाकर, उन्हें भूलकर जो व्यक्ति मौन बैठा रहे, उसका मन शीघ्र ही कान्तिमान्=निर्मल हो जाता है।

विशेष—इस पद्य में 'समस्य' पद की वार-वार आवृत्ति होने से यहां 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार है ।। १७ ।।

अपना विवाह अथवा पुत्र का जन्म ये किसके मन को प्रसन्न नहीं करते? अपितु सब का मन प्रसन्न करते हैं। पर आप ही सूक्ष्मदृष्टि से विचार करे कि जगत् में ऐसी कौन सी वस्तु है, जो मनुष्य को विघ्नयुक्त नहीं करती? अर्थात् इस प्रकार के प्रिय विघ्नों में फंस कर सत्यमार्ग वा सत्याग्रह से वञ्चित रह जाते हैं।। १८ ।।

अत: सत्य का इच्छुक निरन्तर पूर्ण प्रवुद्ध होकर कानों को ढककर एवं नयनों को मून्दकर अपने लक्ष्य की पूर्ति की ओर अपनी आयु को बिताये। और विघ्नों को जीतकर शान्ति प्राप्त करे।। १९ ।।

विघ्नों का प्रतीकार करके जो अपने इष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, वह व्यक्ति मान्य है, और सज्जनों में अग्रणी है। उस धन और रूप से क्या लाभ, कि जिनसे मनुष्य अपने साध्य-मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं।। २० ।।

लक्ष्यसिद्धि का अभिलाषी मनुष्य न रोग चाहता है न बन्धुनाश देखना

स्त्रियं प्रयत्नादुपयाति चैकः, स्त्रियं तथाऽन्यः परिहातुमेति ।
भिन्नो हि भावः सकलस्य लोके, भिन्नाः प्रयत्नास्तु तथैव पुंसाम् ।।२२

नूनं विमूढोऽस्ति स नाऽत्र लोके, ग्रामं व्रजन् योऽन्यपथाधिरूढः ।
तदीयदृश्येष्ववबद्धबुद्धिस्तमेव मोहान्मनुते च नैजम् ।।२३।।

त्रित्वं[1] विशोध्य गुरुगौरवदीपितेऽग्नौ,
विघ्नैर्हतश्च कविरत्र गिरं गृणाति ।
लोकाः ! प्रबुद्धच परिरक्षणमातनुध्वं,
मुष्णन्ति यौवनमिहाखुसमाश्च विघ्नाः[2] ।।२४।।

१—आत्म-मनः-कायम् । २—आखुविघ्नयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्गुणक्रियारूपैकधर्मान्वियत्वात् 'तुल्ययोगितालंकारः' ।

चाहता है, और न पुत्रादि के मरण की कामना करता है । परन्तु ये विघ्न तो पूर्वजन्म के सञ्चित कर्मों के कारण आते ही रहते हैं । और हम चाहें अथवा न चाहें तथापि विघ्न तो मनुष्य को विहत=विघ्नयुक्त करते ही हैं ।।२१।।

एक तो स्त्री की प्राप्ति के लिये अनेक प्रयत्न करता है, दूसरा अपनी स्त्री को त्यागने अर्थात् श्मशान की ओर लिये जा रहा है । अतः यह स्पष्ट है कि संसार में सब की भावनाएं जैसे भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही पुरुषों के प्रयत्न भी भिन्न-भिन्न हैं ।। २२ ।।

जो मनुष्य गांव को जाते हुए लक्ष्य-मार्ग से हटकर अन्य मार्ग में प्रवृत्त हो गया है, और उस मार्ग के खेल-तमाशों=विघ्नों में मग्न होकर उस ही उत्पथ को अपना गन्तव्य मार्ग समझ बैठा है, वह इस जगत् में निश्चय ही महामूर्ख है । अर्थात् प्रिय विघ्नों में फंसकर मनुष्य यथार्थ मार्ग से भ्रष्ट होकर जन्म-जन्मान्तर बिगाड़ लेता है ।। २३ ।।

आत्मा मन और काया को अध्यापकों के गौरवरूप प्रदीप्त अग्नि में शुद्ध करके, विघ्नों से आहत होकर कवि यह कहता है कि—हे मनुष्यो ! प्रबुद्ध होकर अपना रक्षण करो । क्योंकि इस संसार में चूहे के समान विघ्न यौवन को चुरा रहे हैं ।

विशेष—यहां प्रस्तुत विघ्न का अप्रस्तुत चूहे के गुण और क्रिया के एक धर्म में अन्वय होने से 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है ।। २४ ।।

'त्रित्वं विशोध्य' इति पद्यांशं विस्पष्टयति—

कालो व्यतीतः स हि यौवनस्य, यस्मिन् विकारान् समुपैति चेतः।
सम्मार्जमानस्य च पाकपात्रान्, शुश्रूषमाणस्य गुरून्[1] हितार्थैः[2] ॥२५

१—अनेके गुरव उपासिता इति ज्ञापयितुं बहुवचनम्। २—कवेरन्यतरग्रन्थे 'नाडीतत्त्वदर्शने' अपि पद्यमिदं चतुर्थचरणेन भेदमापन्नं विद्यते।

प्रसंगतः कविः स्वीयां दिनचर्यां संक्षेपतश्चित्रयति—

पुष्णामि चार्जितधनेन वपुर्मनश्च,
नैवाददे दानमभीप्स्यमन्यैः।
विद्यां ददाम्यहरहो वटिकां धनञ्च,
कुर्वे स्थितीरघभिदो निचिताघशान्त्यै[1]॥२६॥

१—उक्तञ्च भगवता मनुना—
अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति, मनः सत्येन शुद्धयति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति॥

प्रसङ्गवश 'त्रित्वं विशोध्य' पद्य को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है—

आयु का वह यौवनकाल, जिसमें मनुष्य का चित्त नाना प्रकार के ऐन्द्रियसुखों की ओर प्रवृत्त होता है, वह समय मेरा भोजन के पात्र मांजते, तथा गुरुजनों की उनके वाञ्छितार्थों से सेवा करते हुए ही व्यतीत हो गया।

विशेष—इस पद्य के दूसरे चरण में 'यस्मिन् विकारान्' इस पद से कवि अपने को अकृतपाणिग्रहण बता रहा है

उपर्युक्त २४ और २५ पद्य कवि ने स्वरचित प्रौढप्रबन्ध **'नाडीतत्त्वदर्शन'** के 'दूतनाडीविज्ञानीय' अध्याय में भी सामान्य-परिवर्तन के साथ दिया है॥ २५॥

प्रसंगवश कवि संक्षेप में अपनी वर्तमान दिनचर्या का चित्रण करते हुए कहता है कि—

मैं अपने ही पुण्यपूत अर्जितधन से भोजन करता हूं, जिससे मन शुद्ध और शरीर नीरोग रहे। जिस प्रतिग्रह की मनुष्य सदा इच्छा करते हैं, वह प्रतिग्रह मैं कभी किसी का भी नहीं लेता हूं। नित्य विद्यार्थियों को विद्यादान, रोगियों को गोली-फक्की के रूप में भेषजदान, और दीनजनों को यथाशक्ति धनदान देता हूं। आत्मा की शद्धि के निमित्त एवं संचित पापों के विनाश के लिये अनेकविध अनुष्ठानों को करता हूं॥ २६॥

बाल्यं तु क्रीडने नीतं, यौवनं मधु-सञ्चये।
प्रयाते समये सत्य[1], सत्यलिप्सा वृथा न किम् ॥२७॥

१—आत्मानं सम्बोध्य।

उपसंहरति—

यावत् कार्यसहं भवेद्वपुरिदं यावच्च नैता जरा,
यावत् साधनसन्ततेरुपगतिर्यावन्मनः संयतम्।
तावत् सत्यविधौ यतेत तपसा श्रान्तेन्द्रिये तेजसि,
चिन्ताभिः परिलुप्तसर्वविभवे सत्ये श्रमः कीदृशः ॥२८॥

विघ्नोत्पत्तिं सस्वरूपां निरूपयति—

जानन् मर्त्यो लोभ-मोहादिसक्तो,
मर्त्यं मर्त्यं मोहयित्वा मृषोक्त्या।
संसाध्यार्थं पुण्यमभ्येति कर्त्तुं,
विघ्नीभावं वञ्चितोष्मा[1]भ्युपैति ॥२९॥

१—वंचितस्य छलितस्य ऊष्मा इति विग्रहः।

बाल्यकाल खेलने में खोया, और यौवनकाल प्रियवस्तु के सञ्चय में बिताया। हे सत्यदेव ! अब समय व्यतीत हो जाने पर सत्य=सत्याग्रह की इच्छा करना क्या व्यर्थ नहीं है ? अर्थात् वृद्धावस्था में इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर सत्याग्रह की इच्छा करना व्यर्थ ही है॥ २७॥

अतः जब तक यह शरीर काम करने में समर्थ हो, जब तक बुढ़ापा नहीं आये, जब तक साधन-समुदाय की प्राप्ति हो, और जब तक मन संयम में हो, तब तक ही सत्याग्रह के कार्य में संलग्न बने। तदनन्तर तप से विविध गार्हस्थ्यजीवन की कठिनाइयों से पार होने पर, इन्द्रियों के थक जाने, तथा चिन्ताओं के कारण सब प्रकार के वैभव के नष्ट हो जाने पर सत्याग्रह के लिये श्रम करना कैसा ? अर्थात् व्यर्थ है॥ २८॥

विघ्न कैसे आते हैं, यह स्पष्ट करते हुए कवि कहता है कि—

मनुष्य जानते हुए भी लोभ मोह आदि में आसक्त होकर मनुष्य-मनुष्य को झूठे वाक्यों से मुग्ध करके अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है। पर उसके द्वारा की गयी वञ्चना ही विघ्न का रूप लेकर आती है, और उसे अपने कर्तव्य से पृथक् कर देती है॥ २९॥

विघ्नं लब्ध्वा खिद्यमानो दुरात्मा,
मर्त्यं मर्त्यं लाञ्छयन् सोऽभियाति।

ऊष्मादन्धो ध्यायति स्वं कृतं नो,
तस्मादन्यं विघ्नभीरुश्छलेन्न ॥३०॥

मृषोक्त्या छलयन्नन्यं, छलितः स्वयमुच्यते।
यथा मेघेषु धावत्सु, चन्द्रधावनमुच्यते[1] ॥३१॥

१—अत्रोपमानोपमेयवाक्ययोरेकः समानो धर्मः पृथङ् निर्दिष्टस्तेन'प्रतिवस्तूपमा' अलंकारः, स चात्र भान्त्या पुष्टः।



दुरात्मा विघ्न आने पर दुःखित होता हुआ, मनुष्य-मनुष्य को दोषी ठहराता हुआ, उस विघ्न के प्रति अभिसरण करता है। परन्तु वह अपने स्वार्थ की गर्मी के कारण अपने कर्मों की ओर नहीं देखता। अतः जो यह चाहता हो कि मेरे कार्य में कभी विघ्न न आवें, तो वह भी किसी को ठगे नहीं ॥ ३० ॥

मिथ्या बोलकर दूसरे को ठगता हुआ मनुष्य स्वयं ठगा हुआ कहलाता है। जैसे कि मेघों के दौड़ने पर चन्द्र का दौड़ना कहलाता है।

विशेष——यहां उपमान छलनेवाले का और उपमेय चन्द्र का धर्म ठगना समान है। अतः 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है। तथा दोनों ही के भ्रान्त होने से 'भ्रान्तिमान्' अलंकार से पुष्ट हैं ॥ ३१ ॥



अथ तृतीयोऽध्यायः

तत्र 'वारिपटुतीयः' प्रथमः पादः

कविरत्रनेतारं सम्बोध्य वारिमिषेण कर्त्तव्यकोटिमाटीकते—

हे नेतस्त्वमवेहि वारिपटुतां वाष्पायते तप्यते,
शैत्यं याति नदीयते ह्रदति[1] वैकुल्यायते ताम्यति।
स्वादानन्त्यमुपैति सङ्गतिवशाद् रूपं च पात्रानुगं,
लक्ष्याप्तौ यतते निरन्तरमतश्चारित्र्यमुद्वर्धयत्[2] ॥१॥

१—ह्रद इवाचरतीति क्विप्। २—अत्रैकस्यैव पयसो विविधभेदेनोल्लेखादुल्लेखालंकारः।

रोषं नादयुतं च पश्यत गिरावूर्म्याकुले प्रस्रवे,
भीमं भोः! सुसरित्सु रूपमतुलं विप्लावकं पश्यत।
जीवान् प्राणयितुं तरूनपि तथा सात्मीयते तेषु तत्,
संसारस्य मलं निधाय जठरे रत्नान्यधाद्वारिधौ ॥२॥

हे नेता! तू पानी की चतुराई=क्रियाशीलता को जान। वह पानी भाप बनता है, तपता है, वर्फ बनता है, नदी की तरह बहता है, सरोवर-सा हो जाता है, झील का स्वरूप ले लेता है, तृष्णा को बढ़ाता है, और सङ्गति के वश से अनेक प्रकार के स्वाद को प्राप्त करता है, तथा पात्र के अनुरूप शरीर को धारण करता है। फिर भी चरित्र को बढ़ाता हुआ लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है।

विशेषः—इस पद्य में विषयभेद से एक वस्तु का अनेक वार उल्लेख होने से यहां 'उल्लेखालंकार' है॥ १॥

इस जल के नाद से युक्त रोष=गर्जना को पर्वत पर तरङ्गों से उछलते हुए झरने के समय देखो=सुनो। सरिताओं में विचित्र रूप धारण किये हुए इस के विप्लवकारी भीषण रूप को देखो। जीवों और वृक्षों को प्राणवान् बनाने के लिये आत्मीय के समान व्यवहार करते इस जल को देखो। वह संसार के मल को पेट में रखकर समुद्र में रत्नों को धारण किये हुए है॥ २॥

संरुद्धोऽविधिना भिनत्ति बलवद् बन्धं जनैः कल्पितं,
स्वात्मानं कुरुते सहस्र-पथगं देशान्तरालिप्सया।
नूनं विश्वहिताय यत्[1] प्रवहति द्रव्यं महद्वा लघु,
युक्त्या यस्तरति स्वलाघववशात् तं तं सृतेस्तारयेत् ॥३॥

१—यत्=गच्छदिति।

छिद्रान्तर्विशति व्यथाकुलमनाः क्षुद्रायते स्वल्पकात्,
जन्तून् धारयते प्रपश्य जलधिं शान्ति सरस्स्वम्भसः।
शुष्कं क्लेदयते रसं जनयते कामं कवीनां हृदि,
शैलेयं सुशिलायते गतिवशान्नद्यां दृशा पश्यत ॥४॥

सन्तापं जगतो निहन्ति पृथिवीं बीजायते वर्षणात्,
पङ्के छद्मनिभे पुरन्दरसमान् नीत्या तिरःकर्षति।
नीतिं ज्ञापयति प्रबुद्धमनसा लोकान् जलं लोकभृत्,
कृत्याकृत्य-विवेक-पाटवधिये लक्ष्याप्तये तां भज ॥५॥



यही जल बिना विधि के रोक देने पर मनुष्यों द्वारा बनाये हुए बल-वान्=सुदृढ़ बन्ध को भी तोड़ देता है। देश-देशान्तर में जाने की इच्छा से अपने को हजारों मार्ग में जाने वाला बनाता है। आते-जाते छोटे-बड़े द्रव्य को विश्व के हितार्थ वहन करता है। और जो युक्ति से तैरता है, उसको अपने-अपने लाघवानुसार तैरा देता है ॥ ३ ॥

कहीं छिद्रों में घुस जाता है। व्यथा से दुःखित मनवालों की तरह क्षुद्र बन जाता है। छोटे जन्तुओं को धारण करता है। इसकी शान्ति सरोवर में और क्रान्ति समुद्र में देखो। सूखे को गीला कर देता है। कवियों के हृदय में अद्भुत रस को उत्पन्न करता है। पर्वत को अच्छी शिला के बराबर बना देता है। तथा गति के कारण किन-किन स्वरूपों को धारण करता है, ये तुम नदी में अपनी आंख से देखो ॥ ४ ॥

यह संसार के सन्ताप को नष्ट करता है। वर्षण से पृथ्वी को उपजाऊ बनाता है। कपट के समान कीचड़ में इन्द्र जैसे को भी अपनी नीति से तिरस्कृत कर देता है। यह सारे जगत् को तृप्त करने वाला जल, प्रबुद्ध मन से संसार को अपनी नीति बतलाता है। इसलिये हे नेता! कृत्य-अकृत्य के विवेक की चतुराई देख, और वैसी ही पटुता प्राप्त करने के लिये जल से शिक्षा ग्रहण कर ॥ ५ ॥



तृतीयाध्यायस्य 'आदर्शकर्म-वर्णनीयः' द्वितीयः पादः

अथ 'कर्मवीर' शब्दं विवृण्वानस्तद्गर्भाक्षराणि स्फोटयति—

कर्त्तव्य-क्रान्ति-मर्मभ्यः, कर्मानाहृत्य[1] यत्नतः ।
कर्मशब्दः प्रवृत्तोऽयं, लोके चेष्टा-प्रबोधकः ॥१॥

१—ककार-रेफ-मकारानिति पृथक्शः ।

वहतीर्ति-रक्षतिभ्यो, व-ई-रेफान् प्रयत्नतः ।
आदाय विधिवत् सत्य[1]स्त्वजेर्वीरमथापरे[2] ॥२॥

१—सत्यदेवः काव्यकर्ता । २—औणादिकेन २।२३ सूत्रेण रकि प्रत्यये 'अजेर्व्यघञपोः' इति (पा० २।४।५६) व्यादेशे सति वीरशब्दः सिद्धयति ।

उक्त-वर्णानुपूर्व्यैवं, य आचरति मानवः ।
'कर्मवीर'पदेनासौ, वर्ण्यते नात्र संशयः ॥३॥
नित्यं नैमित्तिकं चैव, लोके कर्म द्विधा मतम् ।
नैमित्तिकं विविच्याशु, कर्मवीरोऽत्र वक्ष्यति[1] ॥४॥

१—वहतेर्लृटि रूपम् ।

कर्तव्य क्रांति और मर्म इन शब्दों में से क्रमशः ककार रेफ और मकार यत्नपूर्वक लेकर लोक में चेष्टा को उद्बुद्ध करने वाला यह 'कर्म' शब्द प्रवृत्त हुआ है ॥ १ ॥

वहति=वहन करता है, ईर्ति=प्रेरणा देता है और रक्षति=रक्षण करता है—इन तीनों से व-ई-र ग्रहण करके 'वीर' शब्द का निर्माण किया गया है, यह सत्यदेव की ऊहा है। तथा अन्य विद्वान् 'अज' धातु से औणादिक 'रक्' प्रत्यय के परे 'अजेर्व्यघञपोः' सूत्र से 'वी' आदेश करके 'वीर' शब्द निष्पन्न हुआ मानते है ॥ २ ॥

जो उपर्युक्त=कर्तव्य, क्रान्ति, मर्म, वहन, ईरण, और रक्षण के आचरण से युक्त हो, वह 'कर्मवीर' नाम से सम्बोधित किया जाता है। वही सच्चा 'कर्मवीर' है, इस में संशय नहीं ॥ ३ ॥

संसार में कर्म 'नित्य और नैमित्तिक' दो प्रकार का माना गया है। इनमें से प्रथम नैमित्तिक का विवेचन करके जो कार्य करता है, वह 'कर्मवीर' है ॥४॥

का क्रान्तिः क्रमणं क्व चास्ति [1]गमनं हन्तुं सदांहो मुखं,
विक्रान्ते यदि विग्रहो भवतु सः प्राणेषु मोहं त्यजन्।
जित्वा सर्वविधापदः प्रतनुते क्रान्ति सदा शर्मदां,
निर्भीरात्मपदं बिभर्ति कुरुते वेदध्वनिं चान्वहम् ॥५॥

१—गमनशब्दः क्रमणपर्याये प्रयुक्तः क्रमणप्रयोगे पूर्वलघोर्गुरुत्व-दोषापत्तेः। केचन सूरयः 'प्रह्वे वा' इति सूत्रव्याख्याने प्रह्वयोरन्यवर्णो-पलक्षणतां मन्यन्ते। तन्मते भवतु क्रमणशब्दन्यासोऽपि न्याय्यः। परमस्मतातपादोऽनन्तरामवासिष्ठो नाद्रियतेऽमुं पक्षम्, कुतः? संयोगपरस्य लघोर्गुरुत्वेऽव्यवस्थादोषापत्तेः।

हृदयादीनि मर्माणि, रक्षन्नाप्नोति ना सुखम्।
विश्वमर्माणि संरक्षन्, कर्मवीरो दिवं जयेत् ॥६॥
आचरन् वेह वेदोक्तं स्मृतिमान् कुरुते कृतिम्।
निःसङ्गो विश्वभूत्यर्थं, कर्मवीरः स उच्यते ॥७॥
प्रज्ञापराधजातानि, त्यजेत् कृत्यानि मानवः।
कर्मवीरपदं प्राप्य, लोकेऽर्क इव भासते ॥८॥
मातापित्रोश्च बन्धूनां, गुरूणां चापि मोहजम्।
ज्ञानतो बन्धनं छित्वा, कर्मवीरः क्रियां चरेत् ॥९॥

क्रान्ति क्या है? क्रमण। वह क्रमण कहां? निरन्तर पाप के मुख को दलने के लिए आगे बढना ही क्रमण है। उसके विकराल रूप धारण करने करने पर यदि युद्ध=सत्याग्रह हो जावे तो हो। वह प्राणों के मोह को त्यागता हुआ सर्वविध आपत्तियों को जीत कर सदा सुख देने वाली क्रांति को फैलाता है। तथा निडर बनकर आत्मपद=कर्मवीरपद को प्राप्त करता है। और नित्य वेदध्वनि करता है ॥५॥

हृदय आदि मर्म-प्रदेशों का रक्षण करके मनुष्य सुखी होता है। किन्तु कर्मवीर विश्व के मर्म का रक्षण करता हुआ स्वर्ग को भी जीतता है ॥६॥

अथवा यहां वेदोक्त आदेश का आचरण करता हुआ, स्मृतिवाला=स्मृति को मानने वाला निःसङ्ग होकर विश्व-कल्याण के लिए कार्य करता है, वह 'कर्मवीर' कहलाता है ॥७॥

प्रज्ञा=बुद्धि से उत्पन्न अपराध अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, मोह, लोभ आदि बुद्धि-दोषों के कृत्यों को मनुष्य छोड़ देवे। तब वह कर्मवीर पद को प्राप्त कर सूर्य के समान शोभित होता है ॥८॥

कर्मवीर को चाहिये कि वह माता-पिता, बन्धु और गुरु-भाई, मित्र,

देशं कालं वयः शक्तिं, स्वास्थ्यमुत्साहमेव च ।
समीक्ष्य स्नेहसम्बन्धान्, पर्वतानिव लङ्घयेत् ॥१०॥
हृष्येन् मृत्युं पुरः प्राप्तं, सम्पश्यन् विगतज्वरः ।
क्षुत्पीडितो न सम्मुह्येत्, कर्मवीरपदं स्मरन् ॥११॥
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव, हन्यमानः सहस्रधा ।
स्वलक्ष्याच्च्यवते नैव, कर्मवीरः स उच्यते ॥१२॥
स्वर्णलाभेऽपि नो लुभ्येद्, राजकोपान्न सञ्ज्वरेत् ।
पाणौ प्राणान् समारोप्य, पराक्रमेत् क्रियाविधौ ॥१३॥

उपक्रमात् इति वक्तव्ये तु नडे न शक्यते:।

असिधाराव्रता जना विव्रियन्ते—

आत्मानं पङ्क्तीकृत्य, सूरद्धरेद्व्यसनातुरम् ।
दयार्द्रः सेवते दीनान्, व्रतं तस्यासिधारवत्[1] ॥१४॥

१—असिधाराया इदं=असिधारम्, अथवा असिधाराशब्दात् स्वार्थे 'अण्'प्रत्यये असिधारैवासिधारः ।

अपने से बड़े व्यक्ति, पूज्य जन आदि का बन्धन ज्ञानपूर्वक त्यागकर कर्म करे ॥९॥

देश, काल, आयु, शक्ति, स्वास्थ्य और उत्साह इनको अच्छी तरह देख कर, और अपनी सामयिक स्थिति का पूर्णरूपेण विचार कर स्नेह-सम्बन्धों को पर्वत की तरह लांघ जाये । अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर कुटुम्ब के स्नेह में मुग्ध न होकर विश्व की सेवा करे ॥१०॥

अपने कर्मवीर पद का स्मरण करता हुआ, लक्ष्यकी प्राप्ति में सामने आयी हुई मृत्यु को देखता हुआ प्रसन्न होवे, तथा मन में किसी प्रकार दीनता=भय नहीं लावे । भूख-प्यास से व्याकुल होने पर भी मुग्ध=अब क्या करूं, क्या न करूं, कैसे यह कार्य सिद्ध होंगे, इत्यादि चिन्ताएं न करे । क्योंकि इन सब से 'कर्मवीर' पद उच्च है ॥११॥

जो आधि-व्याधि से बहुधा पीड़ित होता हुआ भी अपने लक्ष्य की ओर उत्साहपूर्वक बढ़ता है, वह 'कर्मवीर' कहलाता है ॥१२॥

ऐसे कर्मवीर को चाहिये कि वह सुवर्ण के लाभ में भी लोभी न बने । राजा के कोप से भी नहीं डरे । किन्तु अपने प्राणों को हथेली पर रख कर अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिये आगे बढ़ता रहे ॥१३॥

अब असिधाराव्रतवाले व्यक्तियों का विवेचन करते हुए कवि कहता है कि—

अपने को दुःख में डालकर भी जो आर्तजनों का उद्धार करे, तथा दया से आर्द्र होकर गरीबों की सेवा करे, उसका व्रत असिधारा के समान है ॥१४॥

सङ्कल्पान् स्वसुखोदर्कान् हित्वाऽन्यसुखहेतुना ।
विश्व-शर्म-मतिर्यस्तु, व्रतं तस्यासिधारवत् ॥१५॥

महेशालम्बनं मत्वा, पाणौ प्राणान् प्रधारयेत् ।
राष्ट्रस्वातन्त्र्यसद्भूत्यै, व्रतं तस्यासिधारवत् ॥१६॥

आत्मस्वातन्त्र्यलाभाय, रसांत्यक्त्वा तु राजसान् ।
अर्पयेदात्मनात्मानं, व्रतं तस्यासिधारवत् ॥१७॥ हस्तलं केन?

वेगान् ना[1] विविधान् लब्ध्वा, वेलां[2] यो नातिवर्तते ।
वात्यया तोयधिर्यद्वद्, व्रतं तस्यासिधारवत् ॥१८॥

१–पुरुषः । २–'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि' इति नानार्थकोऽमरः । अत्र वेगस्य उद्वेगविघ्नजन्यावेगार्थस्तथा वेलायाः समय-मर्यादावाचकार्थग्रहणेन 'श्लेषः' । तोयधिवच्च कर्मवीरेण भाव्यमिति 'दृष्टान्तालंकारः' ।

आत्मानं न विधित्सन्[1] यः, कृतिमीर्ते[2] निराश्रयः ।
बुध्यते छद्मिनो[3] यश्च, व्रतं तस्यासिधारवत् ॥१९॥

१–विधातुमिच्छन् विधित्सन् । येन केनाप्युपायेन लोक आत्मानं प्रकटयितुं प्रशंसापूर्यितुमग्रेसरीति भावः । २–ईर्ते=कुरुत इति । ३–छद्मी=मायावी तान् ।

जो व्यक्ति अपने सुखदायी सङ्कल्पों को दूसरों के हित के लिए छोड़ देवे, तथा जो विश्व का हित चाहनेवाला है, उसका व्रत असिधारा के समान है ॥१५॥

जो 'भगवान् का ही भरोसा है' ऐसा मानकर राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिये प्राणों को हथेली में रखता है, अर्थात् अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी राष्ट्र का स्वातन्त्र्य चाहता है, उसका व्रत असिधारा के समान है ॥१६॥

जो अपनी स्वतन्त्रता के लिए राग से उत्पन्न रसों को छोड़कर अपने आपको अपने आप में अर्पण करता है, अर्थात् अन्तर्वृत्ति रहता है, उसका व्रत असिधारा के समान है ॥१७॥

जैसे समुद्र झंझावात आने पर भी अपनी मर्यादा को नहीं त्यागता, वैसे ही जो पुरुष वेगों=मानसिक उद्वेग और विघ्न आने से उठे हुए आवेगों के आने पर अपने समय व मर्यादा का अतिक्रमण न करे, उसका व्रत असिधारा के समान है । इस पद्य में श्लेषपुष्ट 'दृष्टांत' अलंकार है ॥१८॥

जो अपनी प्रशंसा नहीं चाहता, और बिना किसी के कहे-सुने स्वयं कार्य

परेषां भूतिमालोक्य, नेर्ष्यया योऽभिदह्यते ।
स्पर्द्धते गुणसम्भूत्यै, व्रतं तस्यासिधारवत् ।।२०।।

अवाच्यं यश्च शान्तात्मा, दुर्हृद्भिश्च समीरितम् ।
समाकर्ण्यापि नोद्विग्नो, व्रतं तस्यासिधारवत् ।।२१।।

दुर्नीतिमात्मनः श्रुत्वा, मुखाभा यस्य न नश्यति ।
अपाकुर्याच्च तां धैर्याद्, व्रतं तस्यासिधारवत् ।।२२।।

भीतः सन् राजदण्डाद् यो, लोभसिन्धौ न मज्जति ।
संस्कृतिं धारयेद्यत्नाद्, व्रतं तस्यासिधारवत् ।।२३।।

आधिभिर्व्याधिभिश्चैव, हन्यमानः पुनः पुनः ।
हुताश इव दीप्येत, व्रतं तस्यासिधारवत् ।।२४।।

आर्षं विधानं विविधं विचिन्त्य, लोकोपकृत्यै व्यवहर्तुमत्र ।
विहाय भोगान् यततेऽभयो यो, तस्यासिधारं व्रतमेव मन्ये ।।२५।।

करता है, तथा मायावियों को जानता-पहचानता है, उसका व्रत असिधारा के समान है ।।१९।।

जो दूसरों के ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या से जलता नहीं, एवं गुणरूपी ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए स्पर्धा करता है, उसका व्रत असिधारा के समान है ।।२०।।

जो शान्तात्मा, दुष्टपुरुषों द्वारा कहे गये अवाच्य वचनों को सुनकर भी उद्विग्न नहीं होता, उसका व्रत असिधारा के समान है ।।२१।।

जो अपनी दुर्नीति, अप्रशंसा अथवा मूर्खता को सुनकर मुंह नहीं बिगाड़ता है, तथा अव्यवहारिता को धैर्यपूर्वक दूर हटाता है, उसका व्रत असिधारा के समान है ।।२२।।

जो राजदण्ड से डरता हुआ लोभ=राज्य द्वारा दी गई रिश्वत के समुद्र में नहीं डूबता, तथा प्रयत्नपूर्वक संस्कृति की स्थापना करता है, उसका व्रत असिधारा के समान है ।।२३।।

जो आधि और व्याधि से बार-बार ताडित होने पर भी अग्नि के समान प्रदीप्त होता है, उसका व्रत असिधारा के समान है ।।२४।।

जो लोकोपकार का व्यवहार करने के लिए विविध आर्ष विधानों का विवेचन करके, तथा भोगों का त्याग कर अभय हो तदर्थ प्रयत्न करता है, उसका व्रत असिधारा के समान है ।।२५।।

समीक्ष्य दीपं ज्वलितं पतङ्गा, यथा विनाशाय समुत्पतन्ति ।
तथा महान्तो व्रतकाम्यया ये, जहत्यसूंस्ते करवालधाराः ॥२६॥

देशे समाजेऽखिलभूविभागे, लोकस्य मोहान्धतमः[1] प्रभावम् ।
उन्मूलितुं[2] ये कृततीव्रयत्नास्तेषां व्रतं स्यादिह खड्गधारम् ॥२७॥

१—अन्धतमः=घोरं तम इति । अत्र समासान्तविधेरनित्यत्वादच् न । २—'मूल प्रतिष्ठायाम्' इति भौवादिकस्य ग्रहणम् ।

स्वाध्यायं यजनं दानं, निश्छलं सत्यभाषणम् ।
आचरन् सुदुराचारोऽप्यसिधारां प्रपद्यते ॥२८॥

यथाऽसिधारा निशिताऽतितीव्रा, शिरांसि छिन्द्यात् समरे रिपूणाम् ।
तमिस्रदुर्भावसमुत्थभावान्, तथासिधाराव्रतमत्र भिन्द्यात् ॥२९॥

प्रशंसापङ्क-मग्नानां, लग्नानां ध्येयसङ्ग्रहे ।
असिधाराव्रतं छिन्नं, विधाताऽपीह नोद्धरेत् ॥३०॥

नित्यं जनाः स्वार्थविषक्तचित्ता, व्रजन्ति मृत्युं किल चात्र चिन्त्यम् ।
विश्वस्य सन्तापहृतौ रतानां, नाशं सदोत्पादयतीह खेदम् ॥३१॥

जैसे जलते हुए दीपक को देखकर उसमें जलने के लिए पतङ्गे उड़ते हैं, वैसे ही जो महान् व्यक्ति अपने व्रत की पूर्ति के लिये अपने प्राणों को परित्याग कर देते हैं, उनका व्रत असिधारा के समान है ॥२६॥

जो देश समाज और अखिल भूमण्डल के प्राणियों के घोर अज्ञानान्धकार को मूल से उखाड़ने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं, उनका व्रत असिधारा के समान है ॥२७॥

स्वाध्याय, यजन=यज्ञ, दान और निष्कपट सत्यभाषण करता हुआ दुराचारी भी सत्याचरण के कारण असिधारा व्रती बन जाता है ॥२८॥

जैसे अतितीव्र असिधारा शाण पर चढ़ी हुई होने से युद्ध में शत्रुओं के सिर काट देती है, वैसे ही अज्ञानयुक्त दुर्भाव से उठे भावों को यहां असिधारा व्रत काट देता है ॥२९॥

प्रशंसारूप कीचड़ में फंसे हुए, तथा स्वार्थ-संग्रह में रत व्यक्तियों का असिधारा-व्रत छिन्न=भङ्ग हो जाता है । तथा उनका उद्धार करने के लिये विधाता भी समर्थ नहीं है ॥३०॥

स्वार्थ में आसक्त चित्तवाले मनुष्य नित्य मृत्यु को प्राप्त करते हैं, इसमें चिन्ता की क्या बात है ? किन्तु विश्व के सन्ताप को मिटाने में तल्लीन पुरुषों का मरण निरन्तर खेद को उत्पन्न करता है ॥३१॥

मृतिः समाना नहि तत्र भेदः, स्वार्थे परार्थे च रतस्य जन्तोः।
ये क्रान्तिमुद्भाव्य मृता महान्तस्ते सन्ति धन्या मनुजेश्च मान्याः॥३२

न कश्चिल्लोकेऽस्मिन् नयनपथमागच्छति सुकृत,
जनैर्नाङ्क्यो योऽभूद् विधिरपि पुरश्चेद्विलसतु।
अभीत्वा दुष्कीर्त्या दिनमनुदिनं सत्यवचनं,
दिशंस्त्वेत्याजीवं व्रतमसिसमं तस्य सुकृतः॥३३॥

वेदज्ञानगवेषणारतधियो लोके प्रभूता जना,
दृश्यन्ते च धनैषणार्त्तमनसः कष्टां दशां सङ्गताः।
किन्तूद्धर्तुमिमां महीं तु विरलाः पाशागृहीतासवः[1],
साशा यान्ति नरान् प्रणीय सुनये ते खड्गधारव्रताः॥३४॥

१—पाशेन आसमन्ताद् गृहीता असवः येषाम्।

क्रव्यादग्निशिखां समिन्धितुमितः क्रामन्ति नित्यं मृताः,
त्यक्त्वा यौवनभूषितां नववधूं हृद्यां सुरूपान्विताम्।

स्वार्थ में और परमार्थ में लगे हुए प्राणी की मृत्यु तो समान ही हैं, उसमें कोई भेद नहीं है। किन्तु जो क्रान्ति करके मरे हैं, वे महापुरुष धन्य हैं, और वे ही मनुष्यों से मान्य हैं॥३२॥

ऐसा कोई व्यक्ति सुकर्म करने वाला नहीं दीखता कि जो मनुष्यों द्वारा 'यह दोषवान् है' ऐसे भावपूर्वक अंगुली-निर्देश को नहीं प्राप्त होता है। चाहे उनकी कोटि में ब्रह्मा ही क्यों न सामने आये, उसमें भी वे दोष ढूंढ निकालेंगे। किन्तु जो कुख्याति=अपयश से नहीं डरता हुआ, प्रतिदिन सच बोलता हुआ, जीवनभर निर्वाह करना है, उस सुकृति का व्रत भी असिधारा के समान है॥३३॥

वेदज्ञान की खोज में तत्पर मनुष्य संसार में बहुत हैं, तथा धनाप्ति की इच्छा से बहुत से व्यक्ति संसार में कष्टमय दशा को प्राप्त होते हुए दिखलाई देते हैं। किन्तु इस विश्व का उद्धार करने के लिए मोहपाश से जिनके प्राण लुप्त हो गये हैं, वे विरक्त ही (सच्चे) मनुष्य हैं। क्योंकि वे अन्य मनुष्यों को न्याययुक्त मार्ग में प्रवृत्त करके अपने ध्येय की पूर्ति की आशा को साथ लिये मरते हैं। अतः उनका व्रत असिधारा के तुल्य है॥३४॥

अपनी यौवनवती सुरूपा प्रियतमा नववधू को छोड़कर श्मशान की अग्निशिखा को बढ़ाने के लिये यहां से मृत मनुष्य लोगों के कन्धों पर आरूढ़ होकर नित्य अन्तिम यात्रा करते हैं। परन्तु जो देशोपकार में रत सज्जन मोह से

ये देशोपकृतौ रताः सुमनसो हित्वा तमो मोहनं,
धैर्यं गम्य पदं व्रजन्ति सुधियो धन्यास्तु ते नापरे ॥३५॥

सत्याग्रहिणो धैर्यम्—

प्रपीडितो नैकविधैर्विघातैः, पदं न पश्चात् कुरुते मनस्वी ।
विवर्धितः किं मृगराड् बलिष्ठं, विलोक्य नागं प्रतियाति पृष्ठम्[1] ॥३६॥

१—अत्रार्थापत्तिरलंकारः । सत्याग्रहि-सिंहयोर्विघ्न-हस्तिनोः क्रियागुणसाम्यात् सत्याग्रही सिंहसदृशोऽस्तीति वस्तुनालंकारध्वनिः ।

कुत्सेयुः कुशलाः स्तुवन्तु बहु वा प्राणाः प्रणश्यन्तु वा,
न्यायार्थं समरे प्रदत्तचरणो धीरो[1] न पश्चाद् व्रजेत् ।
निर्देषं परिषद् व्यवस्यति तु यं तं कर्तुमातिष्ठते,
विच्छेद्योत्पथगं जलं तरणकृद् यात्येव लभ्यां भुवम्[2] ॥३७॥

१—धीरः=सत्याग्रही । २—अत्र पद्येऽर्थान्तरन्यासालंकारः ।

क्वचिद्दण्डाघातः क्वचिदपि नृणां गर्हितवचः,
क्वचिल्लोष्ठाघातः क्वचिदपि च बन्धालयगमः ।

उत्पन्न अन्धकार को त्यागकर धैर्यपूर्वक प्राप्तव्य पद की प्राप्ति के निमित्त मरते हैं, वे सुधीजन धन्य हैं, अन्य नहीं ॥३५॥

सत्याग्रही के धैर्य की सराहना करते हुए कवि कहता है कि—

मनस्वी सत्याग्रही अनेकविध विघ्नों से पीड़ित होने पर भी पीछे पैर नहीं रखता है । क्योंकि आगे बढ़ा हुआ सिंह अपने समक्ष आये बलवान् हाथी को देखकर क्या पीछे लौटता है ? नहीं । वैसे ही सत्याग्रही आगे बढ़कर अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है ।

इस पद्य में 'अर्थापत्ति' अलङ्कार है । तथा सत्याग्रही एवं सिंह और विघ्न तथा हाथी के क्रिया तथा गुण में समानता होने से सत्याग्रही सिंह के समान है । इस वस्तु से 'उपमालङ्कार' ध्वनित होता है ॥३६॥

कुशल पुरुष निन्दा करें अथवा बहुत स्तुति करें । प्राण नष्ट हों चाहे रहें । किन्तु न्याय के लिए युद्ध=सत्याग्रह में जिसने चरण आगे बढ़ाये हैं, ऐसा धीर व्यक्ति पीछे पांव नहीं हटाता । तथा परिषद् जो निर्देश देती है=व्यवस्था करती है, उसको करने के लिये तत्पर रहता है । क्योंकि भीषण प्रवाह वाले जल को चीरकर तैरने वाला तो अपने लक्ष्य स्थान पर पहुचता ही है ।

इस पद्य में 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है ॥३७॥

कहीं डण्डों की मार, कहीं लोगों के निन्दित=भर्त्सना के वचन, कहीं ठोकरें खाना, कहीं सत्याग्रहादि के कारण कारागार में जाना, कहीं धूल उड़-

क्वचिद् धूलिक्षेपः क्वचिदपि च वेत्राततिसहो,
भृशं न्यायार्थी स्वं चरणमथ पृष्ठे न कुरुते ॥३८॥
क्वचिद् देशाद् देशं क्वचिदपि च रोगैर्विलपनं,
क्वचिद्वर्चो[1] वाहः क्वचिदपि च कर्मातिकरणम् ।
क्वचिन्म्लाने वासः क्वचिदपि निरन्नेन शयनं,
पदं पश्चान्नेतुं मनसि सुजनो नैव लषति ॥३९॥

१–वर्चः=शकृदिति ।

पृष्ठशिक्षां तु खातं स्यात्।

क्वचित् खातो[1] भूमेः क्वचिदपि कदन्नेन सुहितिः,[2]
क्वचित् स्वाङ्गे कीलाः[3] क्वचिदपि च मित्रादिमरणम् ।
क्वचिच्छाणं वासः[4] क्वचिदपि च देहान्तगमनं,
पदं पश्चात् कर्तुं मनसि सुजनो नाभिलषति ॥४०॥

१–निखननम् । २–कुत्सितेन मृदा कृमिभिर्वा दूषितेनान्नेनोदरपूरणम् । ३–'सर्वधातुभ्योऽच्' इति कीलाः प्रथमाबहुवचने । ४–शणतन्तुविनिर्मितवस्त्राणामावसनम् ।

सत्याग्रहिणस्तेजस्विता––

रविभा-निगृहीतोऽह्नि, [1]मासकृन्निष्प्रभो भवेत् ।
भ्राजतेऽरिगृहीतोऽपि, सदा सत्याग्रही सुकृत्[2] ॥४१॥

१–मासकृत्=चन्द्रः । २–अत्र चन्द्रमसः सत्याग्रही बलेन धैर्येण चातिरिच्यत इति 'व्यतिरेकालंकारः' ।

वाना, तथा कहीं बेंतों की मार सहन करना । इन यातनाओं के आने पर भी न्याय के लिये लड़नेवाला अपने चरण पीछे नहीं हटाता है ॥३८॥

कहीं इस देश से उस देश जाना, कहीं रोगाधिक्य के कारण विलाप करना, कहीं मलमूत्र उठाना, कहीं दिनरात काम करना, कहीं मलिन स्थान में रहना, तथा कभी विना कुछ खाये-पीये ही सो जाना । इन सब के होने पर भी सज्जन=सत्याग्रही मन में पीछे पांव हटाने की इच्छा नहीं करता है ॥३९॥

कहीं भूमि खोदना, कहीं अखाद्य अन्न से उदरपूर्ति करना, कहीं हाथ-पांव में कीलें गाड़ना, कहीं मित्रादि का मर जाना, कहीं टाट-पटसन के वस्त्र पहनना, कहीं अधिक ताडना के कारण प्राणान्त हो जाना । इन दुःखों के आने पर भी सज्जन = सत्याग्रही पीछे पांव रखने की इच्छा नहीं करता है ॥४०॥

चन्द्रमा तो [दिन] में सूर्य की कान्ति से निस्तेज बन जाता है, किन्तु वैरियों के द्वारा पकड़ा गया सत्याग्रही अपने सुकर्मों से सदा सुशोभित रहता है । यहां 'व्यतिरेकालङ्कार' है ॥४१॥

शुष्मादो[1] निगडान् प्रधार्य चरणे कृत्वा वपुः शाणजै-
र्लब्ध्वा वासमदभ्र-तोदविततं तामिस्रकोष्ठेषु वा।
वेत्राण्यासहमान एव वदति आजिष्णुरार्यो जनो,
'वेदोद्भावित-धर्म एव जयतात् देशे स्वराज्यं भवेत्' ॥४२॥

१—शुष्मं बलं अत्तीति शुष्मात्तान् शुष्मादः=अतिभारवत इति।

प्रताडनकाले सत्याग्रही किमभिलषतीति प्रदर्शयति—

भगवन् ! सत्यसङ्ख्येऽस्मिन्, बलं मह्यं प्रदीयताम्।
शत्रु-तोत्र-हते कायेऽप्यवध्यं हृदयं भवेत् ॥४३॥

सत्याग्रही सिंहवन्निर्भीको भवतीति प्रतिपादयति—

कारावासगतोऽपि सत्यपथिको सोढ्वाऽऽपदं आजितो,
न्याय्यं स्वं वचनं जहाति न मनाक् स्वातन्त्र्यसंवेदनम्।
मर्त्येनात्मवशीकृतो वनपतिर्न्यस्तोऽथवा पञ्जरे,
नित्यं भ्राम्यति तेजसा त्यजति नो हिंसारतिं जन्मजाम्[1] ॥४४॥

१—अत्र पद्ये सत्याग्रहि-सिंहयोरुपमानोपमेयवाक्ययोरेकः समानो धर्मः पृथग् निर्दिष्टस्तस्मात् 'प्रतिवस्तूपमालंकारः'।

निर्बल करने वाली विविध भारी बन्धनशृङ्खलाओं=बेडियों को पैरों में पहन कर, शण के वस्त्र से शरीर ढककर, पूर्ण दुःखद अंधेरे कमरे में निवास करके, आरक्षकों=पुलिस द्वारा दी गयी बेंतों की मार सहन करता हुआ भी आर्य तेजस्वी सत्याग्रही मुख से यही कहता है कि—'वेद प्रतिपादित सत्य धर्म ही विजयी बने, और देश में स्वराज्य होवे' ॥४२॥

ताडना के समय सत्याग्रही चाहता है कि—हे भगवन् ! इस सत्याग्रह= सत्य के लिये किये गये युद्ध में मुझे बल दीजिये। जिससे रिपु के कोड़ों से आहत इस शरीर में हृदय अवध्य रहे ॥४३॥

सत्याग्रही सिंह के समान निर्भीक रहता है। इसका प्रतिपादन करते हुए कवि कहता है कि—

सत्यपथ का बटोही सत्याग्रही कारागार में गया हुआ भी, धीरतापूर्वक आपत्ति सहन करके कान्तिमान् बनता हुआ, तनिक भी अपनी न्याययुक्त स्वातन्त्र्यकामना के वचन को नहीं छोड़ता है। जैसे किसी मनुष्य द्वारा वश में किया गया अथवा पिंजरे में डाला हुआ सिंह तेजस्वी बनकर घूमता है, पर वह अपनी मांसाहारी प्रवृत्ति का परित्याग नहीं करता।

रोगैरामभवैर्ज्वरातिसरणैः शूलादिभिर्वा कृशाः,
शुष्कान्नं लवणाम्लमारिचयुतं पथ्यं च रोगोदये।
भक्त्याऽनन्ति[1] किमस्ति वैद्य ! वद तद्दिव्यौषधं जीवकं,
स्वाशा[2] स्वस्थयतीह तानृजुपथान् लक्ष्याप्तिभस्मान्विता ।।४५।।

१—जीवन्ति। २—स्व-आशा इति विग्रहः। अत्र रूपकालंकारः।

तत्र भाग्यनगरस्य केन्द्रियकारागृह आत्मनो विभागे भोजनसाधन-तत्पराणां दृश्यं त्रिभिः पद्यैर्वर्णयति—

स्वायत्तनिद्राः सुवचःप्रसन्ना, लक्ष्याप्तये क्लेशममन्यमानाः।
खाद्यं पचन्तः स्रुतनेत्रनासो, गायन्ति गेयानि हृदुद्भवानि ।।४६।।

केचित् तुलाभिः परितोलयन्ति, केचित्पिषाणं[1] परिमर्दयन्ति।
स्वं स्वं विभागं करपट्टिकायै, संवर्तयन्त्येव विभक्तकार्याः ।।४७।।

१—क्षुद्रान्नचूर्णम्, श्वेत ज्वार इति प्राकृताः।

इस पद्य में उपमान 'सत्याग्रही' और उपमेय 'सिंह' के वाक्य में एक ही समान धर्म का पृथक् निर्देश करने से 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है ।।४४।।

आम से उत्पन्न रोग, ज्वर, अतिसार, शूल आदि रोगों के कारण कृश सत्याग्रही सूखा तथा लवण मिर्च मिला हुआ अन्न जो रोग बढ़ाने में पथ्य=सहायक है, उसे खाकर जीते हैं। तो हे वैद्य! यह बताओ कि जीवन देने वाला दिव्य औषध वह कौन-सा है? [तब वैद्य उत्तर देता है कि—] अपने लक्ष्य की प्राप्तिरूप भस्म से युक्त अपनी आशारूप औषधि उन सत्यपथिकों को स्वस्थ बनाती है। इस पद्य में रूपकालङ्कार है ।।४५।।

धुएं की अधिकता के कारण जिनकी आंख तथा नाक से पानी बह रहा है, ऐसे निद्राजयी, सभ्यवचनवाले एवं प्रसन्नमुख सत्याग्रही अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये आगत क्लेश को क्लेश न मानते हुए आनन्द-विभोर हृदय से उठे गान गाते हैं ।।४६।।

वे सत्याग्रही अपने-अपने कार्य का विभाग होने पर कुछ तराजू द्वारा आंटा दाल आदि तोलते हैं। कुछ लोग सफेद ज्वार के आटे को पानी में डाल-कर गूंध=सांध रहे हैं। एवं कुछ रोटियों को सेकते हुए उलट-पलट रहे हैं। तथा कुछ रोटियों को वेल रहे हैं ।।४७।।

निशीथे साधितं त्वन्नं, प्रातरश्नन्ति संयताः ।
मध्येऽह्नि पाचितं खाद्यं, सायमश्नन्ति प्रायशः ॥४८॥

कारागारस्थजनानां ज्वरप्रवाहिका-कोपप्राप्तां क्षीणदशां पद्यत्रिकं दर्शयति—

दैवादवाप्ते ज्वरकोप उग्रे, वपुर्वृतं जीर्णपटैस्तथाऽल्पैः ।
ज्वरस्तु यस्तापगुणो विशिष्टस्तेनैव[1] रक्षा विहिता जनानाम् ॥४९॥

१—तापगुणेनेति ।

कृशां दोषसमायुक्तां, व्याधि-मारुत-पीडिताम् ।
शारीरं नावमारुह्य, तितीर्षन्ति [1]सदाश्रयात् ॥५०॥

१—सत्याश्रयादिति । अत्र पद्ये व्याधेर्झंझात्वसमारोपेऽप्यनुक्तत्वादनुक्ततादूरूप्यरूपकमलंकारः ।

डोवली' गृहाणाक्षेपणीं[1] हस्ते, सत्य ! त्वं तारको भव ।
मज्जयेस्तारयेस्त्वं वा, त्वय्येवैतद् व्यवस्थितम् ॥५१॥

१—चप्पू इति प्राकृताः ।

इस प्रकार वे सत्याग्रही रात्रि में बनाये हुए अन्न को प्रायः प्रातः खाते हैं । तथा मध्याह्न में साधित खाद्य को सायं उपयोग में लेते हैं ॥४८॥

कारा में स्थित जनों की ज्वर-प्रवाहिका के कोप से प्राप्त क्षीण दशा का तीन पद्यों द्वारा दिग्दर्शन कराते हुए कवि कहता है कि—

दैवी कोप के कारण उग्र ज्वर होने पर भी थोड़े और पुराने वस्त्रों से शरीर ढका है, किन्तु [ईश्वर-कृपा से] जो ज्वर का ताप गुण है, उसके द्वारा ही उनकी रक्षा हो गयी । अर्थात् यदि बुखार में शीतल होने का गुण होता, तो सत्याग्रही मर जाते ॥४९॥

वे सत्याग्रही सत्य का आलम्बन ले पुरानी दोषवाली, एवं व्याधिरूप तूफानों से आक्रांत, शरीररूपी नौका में बैठकर [सत्याग्रहरूपी समुद्र को] पार करने की अभिलाषा करते हैं ।

यहां व्याधि में झञ्झा का आरोप अनुक्त है । इसलिये 'अनुक्ततादूरूप्य रूपक' अलङ्कार है ॥५०॥

हे सत्य ! हाथ में चप्पू संभालो, तथा हमारे तारक बनो । अब तुम पार करो या डुबादो, यह तुम्हारे ही हाथ है ॥५१॥

पुनस्तमेवार्थं भावान्तरेण दृढयति—

क्लेशाग्निना दग्ध[1]सिनास्त्विदानीं, तवाश्रयात् सर्वजगद्विभर्तः ।
सत्याग्रहङ्कर्तुमथ प्रवृत्ताः, शक्तिं प्रदायेह नयस्व पारम् ॥५२॥

१—सिनः=शरीरमिति वैजयन्तीकोषे ।

संक्षेपतः प्रशस्यान् काम्यानाचष्टे—

एको देशः काम्यते यः स्वतन्त्रो ह्येकं मित्रं काम्यते यत् पवित्रम् ।
एकं सौम्यं काम्यते तत् कलत्रमेको वीरः काम्यते चात्र पुत्रः ॥५३॥



तृतीयाध्यायस्य 'उद्बोधनीयात्मकः' तृतीयः पादः

सामाजिकान् सत्याग्रहाय समुद्बोधयन् कविः पृथक् पृथगुद्बोधयन् क्रमश आह । विप्रान् प्रति—

विप्राः ! संस्मरत श्रुते ऋतमयीं वाचं यशोऽर्थान्वितां,
छात्रान् पाठयता'रमेव नवका शक्तिः समुद्भाव्यताम् ।

हे सर्वजगत् के पालक सत्य ! तुम्हारे ही आश्रय से हम सत्याग्रह करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं । किन्तु अब क्लेश=ज्वर-प्रवाहिका-अतिसार रूप अग्नि से शरीर जल रहा है । [एवं उससे हम निष्प्रभ से हो गये हैं], अतः आप शक्ति प्रदान करके हमें पार ले जाओ ॥५२॥

अब संक्षेप में सत्याग्रही की प्रशस्त-कामना क्या रहती है, यह बतलाते हैं—

वह एक ऐसे देश की इच्छा करता है, जो कि स्वतंत्र हो । जो पवित्र उदात्त आशयवाला हो, ऐसे एक मित्र की अभिलाषा रखता है । जो सौम्य-पातिव्रत-शीलादि गुणों से युक्त हो, ऐसे कलत्र=स्त्री की अभिरुचि करता है । एवं जो वीर हो, ऐसे पुत्र की चाह रखता है ॥५३॥



सामाजिकों को सत्याग्रह के लिये क्रमशः प्रेरित करता हुआ कवि कहता है । ब्राह्मणों के प्रति—

हे विप्रो ! आप वेद की यश तथा अर्थ से युक्त सत्यमयी वाणी=ऋचाओं का स्मरण=पठन करो । नित्य छात्रों को पढ़ाओ, नवीन शक्ति उत्पन्न

त्यक्त्वैतं[2] महतां वचोभिरधुना सत्याग्रहे स्वं मनः,
संयोज्यात्मवचांसि सत्यनिभृतान्युद्घोष्य[3] ना[4] प्रेर्यताम् ॥१॥

१–शीघ्रम्। २–पठनपाठनविधिम्। ३–निर्भ्रान्त-निर्भयरूपाभ्यामुत्समीर्य। ४–जातावेकवचनम्। कर्तुः तृतीयया विपरिणामः।

क्षत्रियान् प्रति—

वीरा! निर्मल-नीतिपाटवमधीत्यार्थेषु[1] मा लुभ्यत,
निष्प्रत्यूहममन्दमर्थ-बहुलं[2] कृत्वा स्वहृन्निर्भयम्।
सत्यास्तेयदया-समाधिधृतिभिः सम्भूष्य नैजं मनो,
यातव्यं मुनिवृन्द–वन्दिततमे सत्याग्रहे सङ्गरे ॥२॥

१–भौतिकेष्वर्थेष्विति। २–प्राप्यार्थबहुलं, लक्ष्यार्थ-ध्येयार्थ-बहुलं वा।

वैश्यान् प्रति—

व्यापारे धनमर्जयन्तु विविधे वैश्याः! सतां सम्मतं–
देहाध्यासरतं च लोभलुलितं मा वो मनः स्यात् क्वचित्।
कार्पण्यं परिहाय पुण्यनिचितं सत्याग्रहे स्वं धनं,
संयोज्यात्म-यशःप्रकाशधवलो मार्गः समाराध्यताम् ॥३॥

करो। इस पठन-पाठन की विधि को छोड़कर अब महापुरुषों=सामयिक दूरदर्शी पुरुषों के वचनों=आह्वानों से अपने मन को सत्याग्रह में जोड़कर, सत्य से पूर्ण अपने वचनों को निर्भ्रान्त एवं निर्भय रूप से कहकर, मनुष्यों को तदनुकूल आचरण करने के लिये प्रेरित करो ॥१॥

क्षत्रियों के प्रति—

हे वीरो! आप निर्मल नीति में प्रवीणता प्राप्त करके भौतिक द्रव्य के प्रति लोभी मत बनो। निर्विघ्न एवं शीघ्र लक्ष्यार्थ से युक्त हृदय को निर्भीक बनाकर, तथा अपने मन को सत्य, अस्तेय, दया, समाधि एवं धैर्य से विभूषित करके, मुनिवृन्दों से वन्दित सत्याग्रह के युद्ध में जुट जाओ ॥२॥

वैश्यों के प्रति—

हे वैश्यो! आप विविध व्यापार में सज्जनों से सम्मत धन का संग्रह करो। आपका मन देहाध्यास में रत तथा लोभी कभी न बने। एवं आप कृपणता को छोड़कर पुण्य से संगृहीत अपने धन को सत्याग्रह में लगाकर, यश के प्रकाश से उज्ज्वल मार्ग की आराधना करो ॥३॥

पृथुधियः प्रति—

नित्यं राष्ट्रविवृद्धये पृथुधियः ! क्षेत्रेषु मोदान्विताः,
श्रान्त्वा धान्यसमृद्धिमेव बहुलां संवर्द्धयन्तां चिरम् ।
यन्त्राणामपि चालनं विविधविज्ञानस्य संशिक्षणं,
लब्ध्वा देशहिताय चात्र सुहृदः ! सत्याग्रये युद्धचताम् ॥४॥

कवीन् प्रति —

किं कर्तुं कवयो ! न वोऽत्र सुशकाः काव्यायुधस्येहया[1],
धिग् वो धिक् कविता यदि स्थ पतिताः शृङ्गारकूपेन्धवत् ।
उद्बुद्धयात्मयशोऽन्विताः सुकविताः सत्याग्रहे योज्यतां,
काव्यं सर्वमनोऽभिसारि वदत प्रेर्येत सत्ये च यत् ॥५॥

१—काव्यात्मकशस्त्रस्य चेष्टयेति ।

नूनं न ते कविवराः कविशब्दभाजो,
येषां मनांसि न रमन्त ऋताग्रहेषु ।
तस्माद्विशुद्धतम-सत्य-वचोऽनुनेतुं,
काव्यं प्रणीय जगतो हृदयं पुनन्तु ॥६॥

पृथुबुद्धिवालों के प्रति—

हे पृथुबुद्धिवालो ! तुम नित्य राष्ट्र की वृद्धि के लिए खेतों में सहर्ष परिश्रम करके धान्य की चिर-समृद्धि को ही राष्ट्र में बढ़ाओ । और हे मित्रो ! यन्त्रचालन एवं विविध विज्ञान का शिक्षण स्वदेश के हितार्थ प्राप्त करके पृथ्वी पर सत्य-प्राप्ति के लिये युद्ध करो ॥४॥

कवियों के प्रति—

हे कवियो ! तुम काव्यरूप शस्त्र की क्रिया से क्या नहीं कर सकते हो ? अर्थात् सब कुछ कर सकते हो । तथापि यदि शृङ्गाररूपी कूप में अन्धे के समान गिरते हो, तो तुम को तथा तुम्हारी कविताओं को धिक्कार है । अतः जागृत होकर अपने यश से पूर्ण अपनी कविताओं को सत्याग्रह में लगाओ । तथा ऐसा ही काव्यगान करो कि जिससे वह सब के मन में अभिसरण करे—रम जाय; तथा मन को सत्यमार्ग की ओर प्रवृत्त करे ॥५॥

वे कविवर अवश्य ही कविपद के भागी नहीं हैं, जिनका मन सत्य के आग्रहों में नहीं रमता है । इसलिये हे कविवरो ! अति शुद्ध सत्यवचन के प्रति लेजाने के लिये काव्य का प्रणयन करके लोगों के हृदय को पवित्र करो ॥६॥

उपदेशकान् प्रति—

धर्माधर्म्य-पथप्रदर्शनपराः ! शृण्वन्तु मे भारतीं,
धर्माभ्युन्नति-कारिणीं वदत भो ! वाचं हि नैःश्रेयसीम् ।
येनानद्धतमांसि मानव-मनांस्युत्क्षिप्य मोहावृतिं,
ज्ञानाब्धावववगाह्य निर्मलधियां ज्ञानं शुभं प्राप्नुयुः ॥७॥

दृष्ट्वेमां जनताऽऽसिकामतितमां मोहं बुधा ! नाऽऽप्नुत,
शब्दास्वाद-परायणा स्थितिरियं तत्त्वेप्सया नागता ।
तस्माद् वाक्पटुतां विहाय वदत स्याद्यद् यथार्थं भुवि,
श्रुत्वैकोऽपि चलेद् यदा पथि सतां मंस्ये वचो वोऽर्थकृत् ॥८॥

विदुषः प्रति—

विद्वांसो ! यदि वेत्तुमिच्छथ 'समानी'[1]त्याशयं तत्त्वतः,
कारायां दश वासरान् वसत वै त्यक्त्वा गृहस्थं सुखम् ।
सिद्धान्नं[2] च तुलाभिरङ्कपलतो[3]ऽप्यूनं तु भुक्त्वा मुदा,
कारायां प्रणिपत्य वैदिकविधिं पश्यन्ति सौख्यं विदः ॥९॥

१—समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ (ऋग्वेदमन्त्रः)

उपदेशकों के प्रति—

हे धर्म से युक्त तथा अधर्म से मुक्त मार्ग के दर्शक उपदेशको ! मेरी बात सुनो । आप मनुष्य का अभ्युदय करनेवाली तथा कल्याणमयी शुभवाणी को कहिये । जिससे अन्धकार से बंधे हुए मनुष्यों के मन मोह के आवरण को उतार कर ज्ञानरूप समुद्र में अवगाहन करके निर्मल बुद्धि वाले महापुरुषों के शुभ ज्ञान को प्राप्त करें ॥७॥

हे भाषणदाताओ! जनता के द्वारा दिये गए इस विशाल वेत्रासन=कुर्सी को अथवा श्रोताओं की विशाल उपस्थिति को देखकर मोह को प्राप्त नहोओ । क्योंकि जनता की यह उपस्थिति तो शब्द के आस्वादपरायणों=कर्णरसिकों की है, तत्त्व-जिज्ञासुओं की नहीं । अर्थात् यह जनता शब्द का आस्वाद लेने आयी है, तत्त्व जानने केलिये नहीं । इसलिये वाणी के चातुर्य का परित्याग करके जो जो यथार्थ हो वही बोलो । जिसको सुनकर यदि एक भी व्यक्ति सज्जनों के मार्ग पर चले तो मैं तुम्हारे वचन को सार्थक मानूंगा ॥८॥

विद्वानों के प्रति—

हे विद्वानो ! यदि तुम तत्त्वपूर्वक 'समानी प्रपा' इत्यादि ऋचा का अर्थ जानना चाहते हो, तो कारागृह में गृहस्थ के सुखों का त्याग करके १० दिन

२–सिद्धान्नं=पक्वान्नमिति । ३–प्रंका=नव । पलं =तोला-चतुष्टयमिति ।

साधून् प्रति—

स्त्रीं गेहं द्रविणं विहाय सहसा साध्वाह्वतां प्राप्य वा,
भैक्ष्ये किं समयः सुरार्थित[1] इह व्यत्याप्यते साधवः ।
उद्बुद्ध्यात्र मदं नृपस्य दलितुं सद्यः समुत्तिष्ठत,
मध्वोप्त्रां परिहाय सत्यमवितुं कारामित[2]प्लाव्यताम्[3] ॥१०॥

१–'जीवेम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्' अथर्व. १९।६७।२ इत्यर्थितम् । २–इत=गच्छत । अत्र सत्यशब्दस्थाने पूर्ववदूहाः कल्प्याः । ३–विप्लाव्यतामिति यावत् ।

धीरान् प्रति—

धीराः सत्यविचारचिन्तनपरा ! मा स्वं मनो गर्ह्यतां,
यान् यान् पश्यथ नित्यशोऽत्र धनिकान् मा तानवेतोत्तमान् ।
कन्थां शीतनिवारिणीं हसथ यां जीर्णां निशासङ्गिनीं,
सैव स्कन्धगता लसिष्यति हृदा सत्याग्रहं कुर्वताम् ॥११॥

रहो। जहां कि ३६ तोले से भी कम अर्थात् ३५ तोला तराजू पर तोलकर दिया गया, पका हुआ, आबालवृद्ध को एक जैसा, तथा एकमात्रा में मिलनेवाला अन्न प्रेम से खाकर सत्याग्रही वैदिक विधि के समानता के क्रियामय विधान को प्रणाम करके सुखी होते हैं ॥९॥

साधुओं के प्रति —

हे साधुओ ! स्त्री घर तथा धन को सहसा त्यागकर, अथवा 'साधु' नाम को प्राप्त करके, देवताओं से 'हम सौ वर्ष तक जीवें' ऐसी वेदोक्त प्रार्थना से प्राप्त आयु का यह काल भिक्षावृत्ति में क्यों विताया जा रहा है ? [यह उचित नहीं है।] अतः उद्बुद्ध होकर राजा=प्रधान-प्रबन्धक के दुर्मद को दलने के लिए शीघ्र उठो; एवं मधुराशन की कामना को छोड़कर देश की रक्षा के लिये कारागार में जाओ, तथा विप्लव करो ॥१०॥

धीरों के प्रति—

हे सत्यविचार के चिन्तन में तत्पर धीरो ! आप अपने मन को कोसो मत। और जिन-जिन धनिकों को प्रति-दिन देखते हो, उनको ही उत्तम मत मानो। क्योंकि शीत-निवारण करने वाली एवं रात्रि की सहचरी जिस पुरानी कन्था=गुदड़ी की आप हंसी उड़ाते हो, वही हृदय से सत्याग्रह करनेवाले सत्याग्रहियों के कंधे पर रखी हुई सुशोभित होगी ॥११॥

सुहृदः प्रति—

मित्राणि ! त्यजताञ्जसाऽतिविषमां मैत्रीं मृषां चञ्चलां,
स्निग्धोऽप्यत्र कटूभवेऽतिविषमे स्वार्थे विनष्टे मनाक् ।
दारिद्र्यं च विलोक्य सोऽत्र सहसा द्वेष्यो भवेद्विप्रियो,
द्वेष्यत्वं नहि याति कोऽतिविषमे? 'सत्यं सतां वा गिरः' ।१२।

संगीतज्ञान्-प्रति—

सङ्गीतं जगतो मनोऽभिरमणं तुष्ट्यै भुवि भ्रातरः !
शिष्यान् शिक्षयतानिशं च नवका तन्त्र्याहतिः श्राव्यताम् ।
त्यक्त्वा रासभवन्निनादभणितिं गातात्र्ग्रहे धैर्यदां,
मोहाबद्धहृदां विकारशमनीं अथर्व्यवेदानुगाम्[2] ।।१३।।

१—'गै शब्दे' इत्यस्य भौवादिकधातोर्लोटि मध्यमपुरुषवहुवचने रूपम् । आग्रहे=सत्याग्रहे । २ अथर्ववेदीयराष्ट्रसूक्तोक्तां गिरामिति भावः ।

मल्लान् प्रति—

रे मल्लाः ! प्रततः स वो व्यतिगतः कालो धरोद्वहणे,
काये चोपचितं बलं नियमतो भुक्त्वा च निद्रा श्रिता ।

मित्रों के प्रति—

हे मित्रो ! आप शीघ्र ही झूठी, अतिविषम और अस्थिर मैत्री को छोड़ दो । क्योंकि इस संसार में तनिक-सा स्वार्थ नष्ट होने पर प्रिय व्यक्ति भी कटु बन जाता है । और दरिद्रता को देखकर तो वह द्वेष भी करने लगता है, तथा विप्रिय बन जाता है । अतः यदि तुम यह पूछो कि विषम काल में कौन द्वेष नहीं करता ? तो यही कहना पड़ेगा कि 'सत्य और सज्जनों के सद्वचन' द्वेष नहीं करते ।।१२।।

संगीतज्ञों के प्रति—

हे संगीतज्ञ बन्धुओ ! प्राणियों के मन को प्रसन्न करने वाला, और जगत् को सन्तुष्ट करने वाला संगीतशास्त्र नित्य ही अपने शिष्यों को सिखलाओ । तथा नवीन सत्यमय सप्ततन्त्री अर्थात् सितार के स्वर सुनाओ । गर्दभ के समान व्यर्थ के गीतों को छोड़कर सत्याग्रह के संग्राम में धैर्यप्रद, मोहबद्ध हृदय वालों के विकार का शमन करने वाले और अथर्ववेदीय राष्ट्रसूक्त से अनुप्राणित संगीत को गाओ ।।१३।।

पहलवानों के प्रति

हे मल्ल जनो ! तुम्हारा वह बहुत लम्बा समय ऐसे ही अखाड़ा खोदने में बीत गया । और शरीर में नियमपूर्वक बल का संग्रह किया, खा-पीकर नींद

व्यर्थालापमिषेण किञ्च रुचिरा वेलाऽपि हेलायिता,
न्यायोद्धारकृते न किन्तु बत[1] हा ! सत्याग्रहः स्वीकृतः ॥१४॥

१—हा निपातार्थं द्रढयितुं 'बत' निपातप्रयोगः'। सुतरां दुःखमस्तीति भावः।

तरुणान् प्रति—

देशोद्धारकृते मनोऽथ तरुणाः ! सार्थं समुज्जृम्भते,
विद्वत्तल्लज-वृन्दवन्दित-कृतीर्[1] दृष्ट्वा भुजे स्फूर्जतः ।
[2]शास्त्रार्थावगतावशक्तमनुजान् जेतुं समीहाऽस्ति चेत्,
सत्क्रान्तिं[3] तपसाप्त-संयत-धिया कर्तुं समुद्घोष्यताम् ॥१५॥

१—सत्पुरुषप्रत्याख्यातकर्माणि। २—शास्त्रार्थेऽवगतिः शास्त्रार्थेन वाऽवगतिर्ज्ञानं तस्याम्। ३—सत्=सत्यं, तेन युक्ता क्रान्तिस्तामिति श्लेषः।

यौवनाहंकृतान् प्रति—

अन्तःस्पन्दितसत्त्ववृत्तितरुणा ! यूयं स्वके जन्मनि,
मृत्यौ चान्यनराश्रिताः स्थ, न मृषा मौर्ख्यात् प्रबुद्धायुषि ।
सर्वं कर्तुमिह क्षमाः स्म इति किं ब्रूध्वे वचांस्यन्यथा,
दोषाक्ताः कुरुत क्रियामहरहः, सत्याग्रहं नैव धिक् ॥१६॥

ली, तथा व्यर्थ की बातों के बहाने वह अच्छा शेष काल भी खो दिया। किन्तु शोक है कि न्याय के उद्धार के लिये सत्याग्रह स्वीकृत नहीं किया ॥१४॥

तरुणों के प्रति—

हे नवयुवको ! देशोद्धार के लिये सचमुच ही यदि तुम्हारा मन उत्सुक होता हो, श्रेष्ठ विद्वानों से निन्दित कर्मों को देख कर भुजायें फड़कती हों, एवं शास्त्र का तत्त्व जानने में असमर्थ वा शास्त्रार्थ से वादी के बुद्धि-बल जानने में अशक्त मनुष्यों को जीतने की अभिरुचि हो, तो तपोमयी और संयमशालिनी बुद्धि के द्वारा सत्य से ओत-प्रोत क्रान्ति का उद्घोष करो ॥१५॥

जवानी के दीवानों से—

हे हृदय में उभरते हुए नानाविध आशामय भावोंवाले युवको ! तुम अपने जन्म-समय तथा मृत्यु के समय परपुरुषाश्रित होते हो, यह कहना मिथ्या नहीं है। परन्तु मूर्खता से प्रबुद्ध आयु में [जब से जब तक बुद्धि काम देती है] 'हम सब कुछ करने में समर्थ हैं' ऐसे अयुक्त वचन क्यों कहते हो ?

अन्योक्त्या—

सत्यालङ्कृत-धर्म-धीर्विषहते कृच्छ्रं स्वलभ्योन्मुखः,
किं वैचित्र्यमिहास्ति तस्य वद मे तेनास्ति धन्यः पटः।
सत्यापः सहते शरीरमवितुं कृच्छ्रं समानं यतो,
हृद्याः! स्वार्थमपास्य यान्तु विमले सत्याग्रहे सङ्गरे ॥१७॥

यशोऽन्वितं मरणं प्रशंसति—

ध्रुवं हास्यन्त्येते-बहुदिन-समास्वादितरसा,
निबद्धान्तर्भावस्त्यजति कृतधैर्यः स्वयमिमान्।
स्वदेशोद्धारार्थं प्रथितयशसा यो मृतिमगात्,
स जीवत्याकल्पं किमु नहि कृतं तेन कृतिना ॥१८॥

१—शिवाजी-महाराणाप्रताप- दयानन्दसरस्वती - महात्ममोहनदासकर्मचन्दगांधिप्रभृतयोऽत्र निदर्शनानि।

अर्थात् जिस का आदि और अन्त ही पराश्रित है, वह सब कुछ करने में समर्थ कैसे? अतः यदि तुम सदोष क्रिया करके भी सत्याग्रह में नहीं जाते, तो तुम्हें धिक्कार है ॥१६॥

अन्योक्ति से—

सत्य से अलंकृत एवं धार्मिक बुद्धिवाला व्यक्ति अपने इष्ट की सिद्धि में प्रवृत्त होकर यदि कष्ट सहन करता है, तो उसमें क्या विचित्रता है, यह मुझे बतलाओ। उससे भी अधिक धन्यवाद का पात्र तो वह वस्त्र है, जो सत्याग्रही के शरीर की रक्षा हेतु सत्याग्रही के समान ही कष्ट पाता है, अर्थात् वह उसके सुख-दुःख में निःस्वार्थ भाव से सत्याग्रही की सेवा=पालन करता है ॥१७॥

यशःपूर्ण मरण की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि—'ये बहुत दिनों तक आस्वादन किये हुए रस एक दिन अवश्य ही छूट जायेंगे' ऐसे भाव जिसके मन में दृढ़ हो गये हैं, वह धैर्यशाली स्वयं ही उन रसों का त्याग कर देता है। और जो स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिये प्रशस्त यशस्वी बनकर मर गया, वह आकल्प जीवित रहता है, तथा उसने भूतल पर आकर क्या नहीं किया? एतदर्थ शिवाजी, महाराणा प्रताप आदि का उदाहरण सम्मुख है ॥१८॥

छात्रान् प्रति—

विद्यार्थिनः ! पठत भो विमलाः स्वविद्याः,
शुश्रूषयेह निजबन्ध-विमुक्तिहेतोः ।
सत्याग्रहस्य सफलं पठताशु पाठं,
पुस्तेषु यद्यधिगता पटुता तया किम् ॥१९॥

सामान्यान् प्रति

द्वितीयान्यान्ते किं हृद्याः ! शिथिलाः स्थ, निर्मलधियामध्वानमाराध्यतां,
यद्यद् दुःखमुपैति पूर्वकृतकस्यावर्तकं वित्त तत् ।
उद्बोध्यात्मनः क्रमस्व पुरतः सोढ्वाऽऽपदो नश्वरीः,
सत्याग्रं यशसाऽभियोज्य सुकृतः सत्याशिषा वृण्वते ॥२०॥

महतः श्रमादल्पलाभे हेतुरुच्यते—

हे मर्त्याः किमु पश्यत ? व्रजति नो जातिर्महोच्चं पदं,
तप्त्वा सत्यतपो विहाय दुरितं लब्ध्वाऽपि सर्वापदः ।

छात्रों के प्रति—

हे विद्यार्थियो ! तुम अपने बन्ध की मुक्ति के लिये गुरु-सेवा करके विमल विद्या पढ़ो, और शीघ्र सत्याग्रह का सक्रिय सफल पाठ पढ़ो । क्योंकि पुस्तकों में पटुता प्राप्त की तो उससे क्या लाभ ? ॥१९॥

सामान्यों के प्रति -

हे प्रिय बन्धुओ ! तुम क्यों शिथिल हो रहे हो ? निर्मल बुद्धिशालियों के मार्ग का अनुसरण करो । और जो-जो दुःख आता है, उसको पूर्वकृत कर्मों का आवर्तन जानो ! अपने मन को समझाकर, तथा अपने मार्ग में आयी हुई क्षणिक विपत्तियों को सहन करके आगे बढ़ो । क्योंकि सत्याग्रही की विद्वज्जन प्रशंसा करते हैं, और सच्चे आशीर्वाद देते हैं ॥२०॥

बड़ा परिश्रम करने पर भी अल्पलाभ होने में हेतु बतलाते हैं—
हे मनुष्यो ! क्या सोचते हो कि जाति उन्नत नहीं होती, अथवा यह वस्तु प्राप्त नहीं होती । सच्चा परिश्रम करके, दुर्व्यसनों को छोड़कर, सब प्रकार की विपत्तियों को झेलकर भी, हृदय की जन्म-जन्मान्तराध्युषित राजस तामस ग्रन्थियों का छेदन-भेदन करनेवाले सत्य का आग्रह करके भी, 'जाति उन्नत नहीं हो रही है, अथवा यह प्राप्य प्राप्त नहीं हो रहा है' ऐसा सोचते हो क्या ? इस प्रकार थोड़ासा कुछ लाभ मिलने से सतुष्ट हो उठना बड़े भारी लाभ से डिगाने में कारण है ।

सारांश यह है कि महान् लक्ष्य के लिये महान् काल तक महान् परिश्रम की आवश्यकता है । उस महान् परिश्रम के फलस्वरूप जो

स्वान्त-ध्वान्त-वितान-तर्दनकरं कृत्वा च सत्याग्रहं,
हेतुः 'स्तोक-वितोष एवं महतो लाभान्नृणां च्यावनः ॥२१॥

स्वात्मेशाभ्यां विमुखत्वे हेतुरुच्यते—

धैर्योत्साहसमन्वितोऽपि मनुजो दृष्ट्वा स्मराभं स्त्रियो,
भ्रूभङ्ग-स्मित-भीरुभाव-वचनालङ्कार-चञ्चन्मुखम्[1] ।
व्यासक्तोऽतिपथ[1]स्तदा स्मरति नो स्वात्मानमीशं तथा,
लोकाः ! पश्यत हेतुरत्र विमतौ कामेषु[2]-विक्रीडितम् ॥२२॥

१—अतिक्रान्तसन्मर्याद इति । २—कामदेवस्य इषोर्विक्रीडितम् ।

युवतिर्यौवनं प्राप्ता, युवानं कं न मोहयेत् ?
युवतिर्यौवनं प्राप्ता, युवानं कं नमो ह्येत्[1] ॥२३ ।

१—अन्तर्भावितण्यर्थः प्रयोगः । लाटानुप्रासश्चात्रालंकार ।

कुछ थोड़ा सा प्राप्य निकट आया, और पाने वाला उसी से सन्तुष्ट हो गया वा उत्साह भंग कर बैठा, तो महान् लक्ष्य प्राप्त नहीं होता । अतः 'स्तोकवितोष' एक विघ्न है, जो महान लक्ष्य के लाभ से डिगा देता है ॥२१॥

स्वात्मा और परमात्मा से विमुख होने का कारण बतलाते हैं— मनुष्य धैर्य उत्साह से युक्त होने पर भी भ्रूभङ्ग, मुस्कान, भीरुता, लजीले बोल और सुन्दर अलंकारों से भूषित रमणी के कामासक्त मुख को देखकर उस पर आसक्त हो मर्यादा का उल्लंघन करता हुआ आत्मा और परमात्मा दोनों को भूल जाता है । अतः हे मनुष्यो ! इस दुर्बुद्धि में कामदेव के बाणों की क्रीड़ा को ही कारण समझो ॥२२॥

यौवन-प्राप्ता युवति किस यौवन-प्राप्त युवक को मोहित नहीं करती ? अर्थात् सबको अपनी ओर आकृष्ट करती है । तथा यौवन-प्राप्ता युवति किस युवक विशेष के प्रति अपना नम आशय व्यक्त करे ? अर्थात् युवकमात्र के प्रति स्वभावतः युवति का आकर्षण होता है, यह स्वाभाविक बात है । अतएव स्वयंवरों में अनेक युवक आकृष्ट होकर अपने आप अपने आपको युवति के प्रति प्रस्तुत करते हैं । और स्वयं व्रियमाणा युवति भी सब युवकों के प्रति आकृष्ट होती है । वह किस युवक के प्रति अपना विशेष स्नेह व्यक्त करे ? सारांश यह है कि युवा युवति को और युवति युवा को अविशेषेण परस्पर आकृष्ट करते हैं । इस पद्य में 'लाटानुप्रास' अलंकार है ॥२३॥

पुरुषप्रवृत्तिमभिसमीक्ष्य—

रात्रिः सैव दिनं च तत् 'कुरपि सा योपासिता पूर्वजै-
स्त्यक्त्वा ते मृतिमभ्युपेत्य विगता हा हा! वयं निश्चलम् ।
संस्थानं तु विबुद्धय दृप्तमनसा यामो दृढं बन्धनं,
किन्त्वेमो न सुरैः सुवन्दितममुं सत्याग्रहं मुक्तिदम् ।।२४।।

१—कुः पृथिवी ।

मूर्खान् प्रति——

प्रत्यक्षे रुचिकाः ! किमङ्ग-विकला[1] संसेव्यते वासना,
हृद्या सा न तु तर्पिका[2], त्यजत तां, बध्नाति सा तन्मुहम्[3] ।
तस्मादात्मतमोविभेदनपरं सत्याग्रहं यात्त्वरम्[4],
नो, चेज्जन्मजरामृतीरनुगता [5]दुःस्वापमेवाप्स्यथ ।।२५।।

१—न केऽप्यस्मिन् जगति सकलांगपूर्णा दृश्यन्ते । अर्थात् केचिद्विद्यया युक्ताः श्रिया हीनाः, केऽपि दारसुताभ्यां दुःखिताः, एवं विविधरूपेण विकलांगतैव विलोक्यते ।

२—न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ।। मनुः

३—तस्यां वासनायां मुह्यतीति तम् । ४—शीघ्रम् ।

५—जननीजठरम् ।

पुरुष की प्रवृत्ति को लक्ष्य करके कवि कहता है कि—वही रात्रि है, वही दिन है, और जिस पर हमारे पूर्वजों ने निवास किया वह पृथिवी भी वही है । वे हमारे पूर्वज तो ज्ञान प्राप्त करके इस भूमि को छोड़कर परलोक सिधार गये । किन्तु बड़े दुःख की बात है कि हम इस स्थान को अभिमानवश निश्चल मानकर दृढ़ बन्धनों में अपने आपको जकड़ रहे हैं, और देवताओं द्वारा वन्दित मुक्तिदायी इस सत्याग्रह में भाग नहीं लेते हैं ।।२४।।

मूर्खों के प्रति——

रे प्रत्यक्ष-प्रिय मूढजनो ! उस विकलांग वासना का क्या सेवन करते हो ? वह तो देखने में मनोरम है किन्तु मानसिक शान्तिदायिनी नहीं है। और वासना में मुग्ध हुए व्यक्ति को बन्धन में फंसा देती है, अतः उसको छोड़ो । इसका अनुभव आयु के बीतने पर होने लगता है । अतः आत्मा के अज्ञान का नाश करने में समर्थ सत्याग्रह को शीघ्र प्राप्त होवो, वा सत्याग्रह में जाओ। नहीं तो जन्म जरा और मृत्यु को प्राप्त होकर तुम लोग पुनः दुःस्वाप मातृ-गर्भवास के भागी बनोगे ।।२५।।

दुराग्रहिणः प्रति –

दुराग्रहं पुरस्कृत्य, कर्मारम्भो न शोभते।
तर्कः सत्याग्रहस्यास्य, त मूलादुद्धरिष्यति ॥२६॥

संस्मृत्य संस्मृत्य दुराग्रहाणां,[1] कूक्तीः कदाचिद् यततेऽननाय[2]।
निबाध-वाक्यैर्हितवाग्विरग्नुः, सत्याग्रही च्यावयतेऽनृतात्तान् ॥२७॥

१–दुष्ट आग्रहो येषां ते दुराग्रहास्तेषाम्। २–जीवनाय।

दुराग्रहस्यान्तफलं न पश्यन्, यात्वाग्रहे पापवचोऽभिमिश्रे।
जानँस्तथाप्यस्यप्रति योऽर्थबुद्धिर्लोकाः! स धात्रैव ततो निवार्यः ॥२८॥

भृत्यानां सत्याग्रहं द्विषतां वा कालान्तरोद्भूतं पश्चात्तापोष्माणं वर्णयति–

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा,
वृथा कालो नीतो, व्यपगमितमेतन्नृजननम्।

दुराग्रहियों के प्रति—

हे दुराग्रहियो! किसी भी कर्म का आरम्भ यदि दुराग्रह-पूर्वक किया जाय, तो वह शोभित नहीं होता। क्योंकि इस सत्यग्रह का तर्क उसका समूल नाश कर देगा ॥२६॥

दुराग्रहियों की कुत्सित वाणी का पुनः-पुनः स्मरण करके हठी लोग कभी जीने=विजयी बनने का प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु अकाट्य एवं प्रामाणिक तर्कवाक्य कहनेवाला सत्याग्रही उनको मिथ्यात्व से गिरा देता है—पराजित कर देता है ॥२७॥

हे मनुष्यो! दुराग्रह के अन्तिम दुष्परिपाकरूप दुःखफल को नहीं देखता=समझता हुआ मनुष्य मिथ्यायुक्त दुराग्रह के प्रति झुकता है तो झुके, परन्तु जो मनुष्य युक्ति-प्रयुक्ति से दुराग्रह के दुष्परिणाम को जानता हुआ भी किसी प्रयोजन-विशेष से दुराग्रह कर रहा है, वह दुराग्रहारूढ मनुष्य तो पतितोद्धारक धाता द्वारा ही उस दुराग्रह से हटाया जा सकता है ॥२८॥

राजकीय कर्मचारियों एवं सत्याग्रह के प्रति द्वेष रखनेवाले व्यक्तियों को कालान्तर में जो पश्चात्ताप होता है, उसका वर्णन करते हैं—

मैंने अन्य सामान्य-जनों के मन को प्रसन्न करने की इच्छा से अनेक बार उनका आराधन=हां-में-हां मिला करके वृथा समय व्यतीत किया, और मनुष्य-जन्म खो दिया। कभी सत्याग्रहियों के प्रिय वचन नहीं सुने। अहो!

प्रियालापा लब्धा न च सुखदसत्याग्रहकृत:,[1]
स्थितौ सत्यस्याहो ! क्वचिदपि न यत्नः कृत इति ॥२६॥

१–सुखदसत्याग्रहं करोतीति क्विप्, तस्य ।

ईर्ष्यालून् प्रति–

नीचोच्च-प्रगतिं दृष्ट्वा, द्युतिं चाद्युतिमेव च ।
वियत् पश्यत त्यक्त्वेर्ष्यां, [1]ताराश्चोच्चावचाः स्थिताः ॥३०॥

१–तारा उडवः । तारासु भकक्षायामुच्चैर्नीचैश्च स्थितिं विलोक्य तेषां भ्राजिष्णुतायां चापि न्यूनातिशयं दृष्ट्वेति भावः ।

वनिताः प्रति—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप–
प्रेङ्खेङ्खना[1]र्भरुदितोक्षण[2]मार्जनादौ ।
सत्यं स्मरन्ति कथयन्ति च पापभीता,
धन्या भवाब्धिगहने विरलाङ्गनास्ताः ॥३१॥

१–दोलनं, व्यजनञ्च । २–स्नानम् ।

गतं स्मारं स्मारं सकलदिवसं हा ! प्रलपति,
महामुग्धा सा या नहि जपति पुण्योदयकरम् ।

दुःख है कि सत्य के स्थिर स्वरूप में स्थिर होने के लिये कहीं कभी कुछ भी यत्न नहीं किया ॥२६॥

ईर्ष्यालुओं के प्रति—

हे ईर्ष्यालुजनो ! ईर्ष्या छोड़कर सांसारिक उच्च अथवा नीच प्रगति को, किंवा प्रकाश अप्रकाश को देखकर समानभाव से आकाश को देखो कि वहां भी तारागण उच्च-नीच स्थिति में हैं । इतने उच्चस्थान में रहने पर भी उनमें और उनके प्रकाश में उच्च-नीचता है । अतः यह तो सब में होती ही है, इसकी चिन्ता न करो, और सत्याग्रह करो ॥३०॥

वनिताओं के प्रति—

हे वनिताओ ! जो दूध दुहने में, धान आदि कूटने में, दही के मन्थन में, आंगन लीपने में, पंखा चलाने में, पालना झुलाने में, रोते हुए बालक को स्नान कराने में, और घर की सफाई करने में पाप से डर कर सत्य का स्मरण करती हैं, और सत्य का ही सन्देश देती हैं, वे विरली ही स्त्रियां इस गहन भव-सिन्धु में धन्य हैं ॥३१॥

बीते हुए दिनों का बार-बार स्मरण करके जो दिनभर प्रलाप करती है, और पुण्योदयकारी सत्य का स्मरण नहीं करती, वह नारी बड़ी मुग्धा है—

विशुद्धं पापघ्नं हृदयपटले राजति हि यत्,
पदं सत्यं सत्यं जपत वनिता रे ! भयहरम् ॥३२॥

लक्षणतस्ता उद्बोधयति—

खाद्य-निर्माण-चातुर्यं, दक्षता गृह-कर्मसु ।
रक्षा शिक्षा च सन्तत्याः, स्त्रीणां दीप्तिकरा अमी ॥३३॥ पुंसोज: कथर्
पानं दुर्जन-संसर्गो, भर्त्रा दुर्भाषणं सदा ।
स्वाप-वासौ गृहेऽन्यस्य, नारीणां दूषका अमी ॥३४॥

मूढा मुग्धहृदा सदोदितमदा हृद्येषु सद्योदिता,
शक्तिं भर्तु रपास्य दानरुचिरा शारीरहारे रता ।
भर्तारं जप-दान-पाठ-नियतं दान्तं प्रियं वाग्मिनं,[1]
सन्निष्ठं भववारिधौ निनयते सा स्त्री न शत्रुर्हि सा ॥३५॥

१—'वाचो ग्मिनिः' । पा० सू० ५।२।१२४॥ सूत्रार्थस्तु—वाचो मिनिः प्रत्ययो गश्चान्तादेशः । इत्यर्थोऽस्माभिर्महावैयाकरण-श्रीसूर्यनारायणतिवारीमहोदयेभ्यो गुरुपरम्परया प्राप्तः । तस्मादेक एव गकारोऽत्र साधुः ।

मोहपाश में फंसी हुई है । अतः हे वनिताओ ! नितान्त शुद्ध पापनाशक जो हृदय-पटल में विराजमान है, उस भयहारी सत्य पद का सत्यमेव स्मरण करो ॥ ३२ ॥

वनिताओं का लक्षण-निर्देश करके कवि उनको उद्‌बुद्ध करता है—

भोजननिर्माण में कुशलता, घर के कार्यों में दक्षता, अपनी सन्तति का रक्षण एवं शिक्षण कर्म स्त्रियों के यश को बढ़ानेवाले हैं ॥३३॥

सुरा आदि मादक पदार्थों का सेवन, दुर्जनों के साथ संसर्ग, पति के साथ कटु भाषण, दूसरों के घर सोना और निवास करना, ये कर्म स्त्रियों के दूषक हैं—अपकीर्ति करनेवाले हैं ॥३४॥

जो मूढ नारी मोहवश सदा मानवती रहती है, प्रिय वस्तु की प्राप्ति में हठ करती है, अपने पति की शक्ति की अवहेलना करके मनमाना लेन-देन करती है, शारीरिक शृङ्गार में प्रवृत्त रहती है, वह जप दान और स्वाध्याय में रत संयमी प्रिय मितभाषी और सत्यनिष्ठ अपने पति को संसार-समुद्र में ढकेल देती है । अतः वह धर्मपत्नी नहीं अपि तु वैरिणी है । क्योंकि उसकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के हेतु उसके पति को उत्तम जप दान अध्ययन आदि कर्म छोड़ने पड़ जायेंगे ॥३५॥

सत्याग्रहिणः प्रति—

सत्याध्वगा ! हृदि मनाक् कुरुतात्र चिन्तां,
मूर्ध्नि प्रदिग्धमिह वस्तिलकं च दारैः[1] ।
श्रद्धार्पितैरशन-पुष्प-फलैश्च नृभ्यो,
दत्ताशिषः स्मरत मा व्रजत क्षमाप्त्यै ॥३६॥

१—लोके विशेषतः प्रचलितेयं पद्धतिः ।

सुखदुःखे विचिन्त्यादौ, पदं सत्ये समर्पयताम् ।
दण्डाक्रोशभयाद् भीत्वा, क्षमायासो[1] न चिन्त्यताम् ॥३७॥

१—क्षमायै आयास इति विग्रहः ।

अन्योक्त्या—

स्वायत्तं वियदाप्य गच्छथ दिवं श्रान्त्वाऽथ किंपञ्जरं,[1]
प्रत्यायाथ, शुकाः ! सुसाधुवचनैर्नत्वा पुना रोदिमि ।
[2]सर्वार्थाप्तनराः पराश्रयमिताः[3] स्वाधीनभूमेस्तिलं[4]
नर्छन्तीति पराश्रयं च पुरुषं धिक् कारकं[5] पौरुषम् ॥३८॥

१—किमः क्षेपेऽत्र समासः । २—सकलार्थस्वामिनो नराः । ३—पराधीनतां इताः प्राप्ताः । ४—तिलप्रमाणमात्रम् । ५—पराधीनतायाः पद्धतेराविष्कर्त्तारम् ।

सत्याग्रहियों के प्रति—

हे सत्याग्रहियो! तुम अपने मन में तनिक विचार करो, और कुलांगनाओं के द्वारा तुम्हारे भाल पर लगाया हुआ वह तिलक, तथा समाज के प्रतिष्ठित पुरुषों द्वारा श्रद्धा-पूर्वक दिये गये विविध मिष्टान्न, पुष्प-मालाओं, ऋतुफल, श्रीफल आदि एवं हार्दिक शुभाशीर्वादों का स्मरण करो। और वे सब विफल न हो जायें, इसलिये क्षमायाचना के लिये मत जाओ ॥३६॥

प्रारम्भ में सुख और दुःख का विचार करके ही सत्याग्रह के कार्य में पग रखो। दण्ड और धमकियों से डरकर क्षमा मांगने का प्रयास मत करो ॥३७॥

अन्योक्ति के द्वारा सत्याग्रही को उद्बोधन देते हुए कवि कहता है कि—हे शुको ! तुम स्वतन्त्र आकाश को पाकर ऊपर नभ में उड़ते हो, और फिर थककर कुत्सित पिंजरे में लौट आते हो। मैं तुम्हें साधुवचनपूर्वक नमस्कार करके फिर रोता हूं—दुःखी होता हूं। क्योंकि सर्वविध सुविधा प्राप्त मनुष्य जब पराश्रयी बन जाते हैं तो वे अपने स्वेच्छित विहरण के लिये

कीराः ! पञ्जरसंस्थास्तु, भाग्यवन्तः स्थ वस्तुतः ।
वः स्पृशत्यनिलः शंपुर्नास्मान् स्वायत्तभूरियम् ॥३९॥
सत्यप्रेप्सवः ! सदैवायं, सेव्यो लोकोऽनियत्नतः ।
दूरतो वीक्ष्यमाणोऽयं, सुख-शान्तिप्रदो भवेत् ॥४०॥
संस्पृष्टो वेष्टसिद्ध्यर्थं, कृत्वा व्याजान् पलायते ।
साधयेद् यदि तत् कार्यं, कलङ्केनाङ्कयेत् पुनः ॥४१॥
सत्यप्रिया ! विजिह्वो'ऽयं, लोको नेदं मृषा वचः ।
तस्मात्तत्स्तुतिनिन्दायां, नियुज्यन्तां मनांसि मा ॥४२॥
१—विविधजिह्व इति ।

तमेवार्थं भावान्तरेण द्रढयति —

तावत् प्रियायते लोको, यावद् दूरेण दृश्यते ।
पृष्टः स्पृष्टोऽथ वाऽभ्याशात्, वैषम्यायोपकल्पते ॥४३॥

स्वाधीन भूमि के तिलमात्र भाग को भी प्राप्त नहीं कर सकते । परन्तु शुक पराधीन पिंजरे में रहने के अभ्यासी होने पर भी स्वेच्छाचार के लिये स्वतंत्र आकाश को प्राप्त होता है । अतः पराश्रय को, पराश्रयी को, और पराधीन करने वाले को, या पराधीन करने की पद्धति के कर्त्ता को, तथा तत्सम्बन्धी पौरुष प्रयास को धिक्कार है ॥३८॥

हे शुको ! पिंजरे में स्थित होकर भी वस्तुतः तुम भाग्यशाली हो । क्योंकि तुम्हें तो कल्याणकारी स्वातन्त्र्य-समीर स्पर्श करता है । किन्तु हम को तो यह स्वतन्त्र भूमि भी स्पर्श नहीं करती ॥३९॥

हे सत्याभिलाषी जनो ! यह संसार सदैव यत्नपूर्वक सावधानी से सेवनीय है । क्योंकि यह दूर से देखने पर सुख-शान्ति देनेवाला होता है ॥४०॥

अपनी स्वार्थसाधना के लिये जब इसका स्पर्श करते हो,तब यह अनेकविध वहाने बनाकर दूर हट जाता है । और यदि कभी कोई काम बना दिया, तो कलङ्क सिर पर मढ देता है ॥४१॥

हे सत्यप्रेमियो ! 'यह संसार अनेक जिह्वावाला है,अतः न जाने कब क्या कहे, यह निश्चित नहीं' यह बात मिथ्या नहीं है । इसलिये इसकी स्तुति-निन्दा में अपने मनों को मत लगाओ ॥४२॥

उसी भाव को कवि प्रकारान्तर से कहता है—

यह जगत् तब तक ही अच्छा लगता है, जब तक प्रयोक्ता दूर से इसे देखता है । किन्तु जब समीप से इसके साथ व्यवहार किया जाय, तो उलझने को तैयार हो जाता है । अर्थात् विषम राग-द्वेष मित्र-शत्रु, रक्षक-घातक

सत्याग्रहा[1] ! भ्रान्तिमपाकुरुध्वं, मित्रत्वयुक्ताः सुहृदश्च नोऽत्र ।
नूनं निजार्थाप्ति[2]-निमित्तमेव, तेषां सुभाषाऽशनवेशने[3] च ॥४४॥

१—सत्ये आग्रहो येषां ते सत्याग्रहिण इति । २—स्वार्थाप्तिरिति यावत् । ३—अशनं च वेशनं च ते ।

आपूर्य चार्थं प्रतियान्ति हित्वा, फल्गुं यथा आस्यति तत्त्वदर्शी ।
तस्मात् स्वशक्तीः प्रसमीक्ष्य विज्ञाः! मोहं परित्यज्य रमध्वमत्र ॥४५॥

हिरण्योत्पन्न-मोहेन, सत्यस्य पिहितं मुखम् ।
तदपावृत्य विद्वांसः ! सत्यमाश्रयतानिशम् ॥४६॥

अजानन्तोऽथ जानन्तो, रमध्वे कुटिले यदि ।
प्राप्स्यथ प्रेतलोकं वस्तस्माच्चरत सद्ग्रहम् ॥४७॥

वल्याक्रान्तानि वक्त्राणि, वपूंषि न्युब्जितानि वः ।
दुराग्रहस्य भारेण, सद्ग्रहाद् भजतार्जवम् ॥४८॥

मोहं मा भजत—

निर्गन्धः किंशुको भाति, वने पश्यत मञ्जुलः ।
शून्यसारे तथा लोके, मोहं मा भजताल्पके ॥४९॥

आदि द्वन्द्वों में परिणत होने का यत्न करता है । अतः जहां तक हो सके, स्वाधीनवृत्तिवाला बनना चाहिये ॥४३॥

हे सत्याग्रहियो ! अपना यह भ्रम दूर कर दो कि मित्रता से युक्त हमारे बहुत से साथी हैं । क्योंकि उनके बोल-चाल और मेल-जोल तो निश्चय ही स्वार्थ के लिये हैं ॥४४॥

ये सांसारिक साथी अपना स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर, जैसे तत्वदर्शी निःसार वस्तु को छोड़ देते हैं, वैसे ही छोड़कर चले जाते हैं । अतः अपने सामर्थ्य को देखकर उसके अनुसार निर्मोही बनकर कार्य करो ॥४५॥

सोने चांदी की लालसा से उत्पन्न मोह के द्वारा सत्य का मुख ढका हुआ है । उसे दूर हटाकर हे विज्ञजनो ! शीघ्र सत्य का आश्रय लो ॥४६॥

अनजाने में अथवा जान-बूझकर यदि कुटिल-अभद्र कर्म करते हो, तो तुम असुर लोक=नरक के भागी बनोगे । अतः दुर्गति से बचने के लिये सत्याग्रह करो ॥४७॥

हे मनुष्यो ! दुराग्रह के भार से तुम्हारे मुख पर झुर्रियां पड़ गयी हैं, कमर झुक गयी है, शरीर कुबड़े-सा हो चला है । अतः सत्याग्रह करके उनको फिर से सरल बनाओ ॥४८॥

किंशुक का वृक्ष सुन्दर पुष्पवाला वन में शोभित होता है, किन्तु उसमें

अद्यतनं कार्यमद्यैव कर्त्तव्यम्—

प्रपश्यामः क्षोणीचलन-चपलं पर्वतमपि,
पुनः कर्त्तास्म्येतां प्रजहत मतिं ध्यायत नयम्।
यथाकार्यं कार्यं परिहरत कालात्यय-सुखं,
न देहे विश्वासः करिकलभकर्णाग्रचपले ॥५०॥

अधमादीन् लक्षणतो विवृणोति—

स्वार्थायेह विपद्गतस्य जनुषो नामापि नाकर्ण्यते।
निघ्नन्तोऽत्र मुधा परार्थमभितो व्रीडां मुहो[1] यान्ति वै,
राष्ट्रार्थं सहमान एव विपदं लोकेन सम्मान्यते,
प्रायेणाधम-मध्यमोत्तमपदे त्यागोऽस्ति नः कारणम् ॥५१॥

जनु=जन्म भवति नु जन्मी।

१—मुह्यतीति मुट् ते मुहः=मूर्खाः।

कारावासं प्राप्तानां कुलीनानामवस्थां दर्शयति—

गन्ध नहीं है। वैसे इस संसार में बाहरी चकाचौंध तो बहुत है, पर सार नहीं है, अतः इस पर मोह मत करो ॥४६॥

आज का कार्य आज ही करना चाहिये—

पृथ्वी के सामान्य हिलने पर पर्वत को भी कंपित होता हुआ हम देखते हैं। अतः हम 'वह कार्य कल करेंगे' ऐसी बुद्धि का त्याग करो। और वस्तुतः स्मर्तव्य सत्य यह है कि जो कार्य जिस समय करने योग्य है, वह उसी समय किया ही जाना चाहिये। उस समय में उस कार्य के काल का अतिक्रमण करने से जो तावत्कालिक सुखासक्ति है, उसे छोड़ो। क्योंकि हाथी के बच्चे के कर्णाग्रभाग की तरह चञ्चल इस देह पर कोई विश्वास नहीं है, न जाने कब मृत्यु आ जावे ॥५०॥

अधम मध्यम और उत्तम पुरुषों का लक्षण-निर्देश—

अपने स्वार्थ के लिये विपत्ति-ग्रस्त मनुष्यों के नाम का भी पता नहीं चलता। बिना किसी प्रयोजन के दूसरों के प्रयोजन=प्राप्तव्य को नष्ट करते हुए मूर्ख सब ओर से लज्जा के भागी बनते हैं। तथा जो मनुष्य राष्ट्र के लिये विपत्तियां सहन करते हैं, वे ही समाज के द्वारा सम्मान प्राप्त करते हैं। अतः अधम-मध्यम-उत्तमपदों की प्राप्ति में हम लोगों का अपना-अपना स्वार्थ-त्याग ही कारण है ॥५१॥

कारावास में गये हुए कुलीनों की अवस्था का चित्रण—

ये लोकाः क्षुधितानलं रुचिकरैर्भोज्यैः सदा तर्पितुं,
कारागारमुदरानलं शमयितुं तृष्यन्ति ते प्रायशः ।
दोषार्हा नहि ते विचित्रमिह किं सूक्तं त्वदो धार्यतां,
भावान् संवृणुतेऽथवा वितनुते नित्य दशाः प्राणिनः[1] ॥५२॥

१—अत्र पद्येऽर्थान्तरन्यासालंकारः ।

स्वांगानि प्रति—

सत्यारण्ये चर चरण ! दृक् ! पश्य सत्याग्रहाभां,
जिह्वे ! सत्याग्रह-गुणगणान् व्याहर श्रोत्रलब्धान् ।
श्रद्धापूतं भज परिमलं घ्राण ! सत्याग्रहस्य,
त्वक् ! त्वं भूतिं परिदिह[1] सदा सत्यजुष्टस्थलानाम् ॥५३॥

१—'दिह उपचये' इत्यादादिकधातोर्लोटि मध्यमपुरुषैकवचने रूपम् ।

चित्तं प्रति—

चेतः ! सखे ! स्मर चिरं शुभकारि सत्यं,
यस्माद् व्रजन्ति मनुजा भवसिन्धुपारम् ।
सूनुः कलत्रमितरे नहि सत्यसार्थाः,
सत्याग्रहोऽस्ति भुवने पुरुषस्य सार्थः[1] ॥५४॥

१—समानः प्रयोजनो देहान्तरेऽपि सह जिगमिषुरिति ।

जो मनुष्य भूखे प्राणियों को रुचिकर भोजन करवाकर सदा पूर्ण तृप्त करने में समर्थ हैं, वे ही कारावास में प्रायः अपने उदर की ज्वाला शांत करने के लिये तरसते हैं । किन्तु इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि वे इस सम्बन्ध में दोषी नहीं हैं । यहां तो यही बात स्मरण रखनी चाहिये कि प्राणियों की दशा कभी भावों का संवरण करती है, और कभी विस्तार करती है ॥५२॥

कवि अपने अङ्गों को सम्बोधित करके कहता है कि—

हे मेरे चरण ! तुम सत्य के वन में विचरण करो । हे नेत्र ! तुम सत्याग्रह की शोभा का अवलोकन करो । हे जिह्वा ! तुम कानों द्वारा सुने गये सत्याग्रह के गुणों का गान करो । हे नासिका ! तू श्रद्धा से पवित्र सत्याग्रह के परिमल की सुगन्ध ले । और हे त्वचा ! तू सदा जिन स्थानों पर सत्याग्रही निवास करते हैं, अथवा जहां सत्याग्रह किये गये हैं, उन स्थलों की भस्म लेकर अपने ऊपर रमाले ॥५३॥

चित्त को लक्ष्य करके—

हे मित्र चित्त ! तू सदा शुभ करनेवाले सत्य का चिन्तन कर, जिसके आश्रय से मनुष्य भवसिन्धु से पार हो जाते हैं । ये पुत्र कलत्र एवं अन्य सम्बन्धीजन

हे सत्य ! विश्वसवित[1]र्मम सत्वभृङ्गो,
मोहादि-पुष्प-विरतस्तव सख्यमिच्छन् ।
यायात् कदापि भवतो द्युतिदे समाधौ,
वीक्ष्यः सुधार्द्रनयनैर्नं चिरं विमथ्यः[2] ।।५५।।

१–सत्यमेवाश्रित्य विश्वस्य सर्वाणि कर्माणि स्थितिमारभन्ते, तस्माद् 'विश्वसवितः' इति सत्यं विशेषणमदः प्रयुक्तम् । २–'सत्यारण्ये' इत्यारभ्य 'विमथ्यः' इत्यन्तं श्लोकत्रयं जनानां, सुखस्मरणाय सत्याग्रहपुटितं कृत्वा न्यस्तम् ।

आत्मानं प्रति—

कदा सत्ये शोकोद्भवविमति-मोहाब्धिहरणे,
तपःपूतैः सेव्ये प्रणिहितमना गद्गदगिरा ।
मम स्वान्ते सत्य ! प्रततसुखदाम्भोधि-निहित !
वसेत्याशंसँस्त्वां निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ।।५६।।

नरः सर्वं स्वयमेव कुर्यादित्यत्र तस्याक्षमत्वं वर्णयति—

ईशस्यात्र विभुत्वबोधनपरोऽनन्तोऽस्ति विद्यार्णवो,
मज्जस्वात्म-तरङ्गतीर्थसलिले सत्याप्तये सन्मतिः ।

सच्चे साथी नहीं हैं । इस संसार में और परलोक में भी साथ देनेवाला मनुष्य का सच्चा साथी सत्याग्रह ही है ।।५४।।

हे सत्य ! हे विश्व में प्रकाशित होनेवाले ! मेरा प्राणरूप भंवरा मोहादि-पुष्प से विरत होकर मैत्री की अभिलाषा से कभी तुम्हारी कान्तिमय समाधि में लीन होवे, तो उसको अमृतमय दृष्टि से अभिषिक्त करना, उसकी भावना को कभी कुचलना मत ।।५५।।

अपनी आत्मा को सम्बोधित करके—

ऐसा दिन कब आयेगा कि शोक से उत्पन्न दुर्बुद्धि के मोह-समुद्र से पार करनेवाले, और परम तपस्वी जनों से आराधनीय सत्य में मन को स्थिर करके गद्गदवाणी से–'हे सत्य ! हे अनन्त आनन्ददायी समुद्र में निवास करने-वाले ! आप मेरे हृदय में निवास करो' ऐसा कहता हुआ निमिष की तरह अपने दिनों को बिताऊंगा ।।५६।।

मनुष्य सब कार्य स्वयं करे, यह असम्भव है—

हे मित्र ! ईश्वर के सामर्थ्य का ज्ञान करानेवाला विद्यारूपी समुद्र यहां

सत्सङ्गं कुरु सत्पथं श्रय सखे ! श्रद्धातपोभ्यां युत,
शास्त्रोक्तिं[1] चर, [2]दभ्रमायुरिह ते, सर्वानुभूत्यक्षमम्[3] ॥५७॥

१—भूतहिताय प्रवृत्तो वादः शास्त्रम् । २—दभ्रमल्पम् । ३ अत्र सूचि-कार्याय यन्त्रानयन-तत्कर्मशिक्षणानन्तरञ्च कमसम्पादनमुदाहतव्यम् ।

उपर्युक्तार्थमेव द्रढयति—

कियान् समुच्छ्वासयुतो हि कालः, कर्माण्यनन्तानि तथा गुरूणि ।
निजानुभूत्या लभते यदाप्यं[1], कालः[2] क्षयस्याभ्युपयाति तर्हि ॥ ५८ ॥

१—मयैतद् गवेषितमेतदाविष्कृतमिति वा । २—मृत्युरभिमुखमुपतिष्ठते, स म्रियतेऽज्ञोऽपरस्तं पुनरारभते ।

पश्चात्तपति—

सूर्यस्योद्गमनास्त-सम्भ्रमविधौ भूयो वयं पीडिता,
मोहानद्ध-महार्थ-लाभमनसा प्राप्तुं धनाशाङ्कुरान् ।
व्यत्येमः[1] सकलायुरीश-विमुखाः किन्त्वात्मबोधक्षमे,
सत्याचार-विचार-भव्यभवने श्वासोऽपि हा ! नार्पितः ॥५९॥

१—वि-अति-आङ्-पूर्वोऽत्र इण् धातुरदादिः, तस्य लटयुत्तमपुरुषस्य बहुवचनेऽन्तर्भावितण्यर्थमिदं रूपम् ।

अनन्त है । अतः आत्मज्ञान की तरङ्गों से युक्त तीर्थ-जल में सत्य की प्राप्ति के लिये सन्मति बनकर अवगाहन कर । तथा श्रद्धा और तप से युक्त होकर सत्सङ्गति कर । सत्यमार्ग का आश्रय ले, और शास्त्रोक्त वचनों पर चल । क्योंकि तेरी छोटी-सी आयु सर्वविध अनुभव में असमर्थ है ।।५७॥

उपर्युक्त वाक्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि—

यह जीवन कुछ इने-गिने श्वासवाला है । और कार्य तो बहुत बड़े तथा अनन्त हैं । अपनी अनुभूति से मनुष्य जब कार्यारम्भ करके लक्ष्य तक पहुंचता है, तब तक तो काल उसे अपना अतिथि बनाने के लिये सम्मुख आजाता है । और तब दूसरा आरम्भ करता है, वह भी उसी पथ का अनुसरण करता है । इस तरह अपने ही अनुभव के अवलम्बन से कार्य कभी पूरे नहीं होते ।।५८।।

अन्त में पश्चात्ताप करता हुआ कवि कहता है—

सूर्य के उदय अस्त के चक्कर में पड़कर हम मोहवश बड़े लाभ की इच्छा से, बड़ी-बड़ी धनलाभ की आशाओं के अंकुरों को प्राप्त करने के लिये बहुत

उपसंहरति—

अन्यायं कुरुते यदाऽर्थविमती[1] राजा सभा[2] वा पुमान्,
त विट्[3]स्वाश्रयते बलात् स्वकृतिभिर्विट् क्षोभमापद्यते।
क्षुब्धा विट् कुरुते सदाग्रहमरं[4], राज्ञो दुरन्ताम्लतां[5],
सोढ्वा 'तां कुरुते च तं[7] गतमदं, न्यायं विदस्तन्वते ॥६०॥

१—अर्थविमति:=कयाचित् स्वार्थसाधिकया नीतिविशेषया विकृतमति; कूटनीत्या वा। २—सभाशब्देन सर्वविधा: सभा ग्राह्या:। ३—विट्=प्रजास्तासु। ४—अरं=शीघ्रं। ५—अम्लताशब्दो व्यापकार्थमधिकृत्यात्र प्रयुक्त:। वैरभावं, क्रोधान्वितं प्रतिशोधं, उपेक्षाभावमित्यादय:, आदिशब्देन विविधयन्त्राणीति। ६—तां=दुरन्ताम्लताम्। ७—तं=राजानं, पुरुषं वा। सभापक्षे—'तां गतमदां' परिवृत्य पठनीयम्।



पीड़ित होकर सारी आयु ईश्वर से विमुख रहकर बिता रहे हैं। किन्तु दु:ख है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान कराने में समर्थ ऐसे सत्य के आचार-विचार रूपी भव्य-भवन में एक श्वास भी नहीं बिताया है। अर्थात् सत्याग्रह के लिये झुके ही नहीं ॥५९॥

उपसंहार—

राजा सभा अथवा कोई पुरुष जब किसी विशेष स्वार्थ-साधन से विकृत-बुद्धि होकर अन्याय करता है, और उस अन्याय को जनता पर बलात् लागू करने के लिये अपने सब प्रकार के हथकण्डे प्रयोग में लाता है, तब जनता क्षुब्ध होती है। फिर क्षुब्ध बनी हुई जनता शीघ्र सत्याग्रह के लिये कृतसङ्कल्प हो जाती है। तदनन्तर राजा, सभा, सामान्य प्रबन्धक-समितियां, लोकसभा, विश्वपरिषद् अथवा साधारण मनुष्य की कटुता को सहकर उस कटुता वा अत्याचार को एवं अन्यायकर्त्ता के मद को जनता क्षीण कर देती है। और अन्त में विज्ञ न्याय का ही सब ओर प्रसार करते हैं ॥६०॥



तृतीयाध्यायस्य 'षड्ऋतुवर्णनीयः' चतुर्थः पादः

तत्र तावद्वसन्तः—

वीरुद्वृक्षवरप्रतान-विभवाः पुष्प्यन्त्यहो ! माधवे,
हृद्यं कोकिल-कण्ठजं मधुरुतं वायुः पुनानो दिशः ।
नानाभाव-विभाव[1]-भावित-नृणां भावा विकासोन्मुखाः,
सोल्लासं सहकारमञ्जरिरपि स्वागन्तुमातिष्ठते ॥१॥

१—विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः । (नाटचशास्त्रे)

कारणान्यथ कार्याणि, सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके, तानि चेन्नाटचकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः, स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥
काव्यप्रकाशे उ० ४ । श्लो० २७,२८॥

चेतो-हर्षकरे वसन्तसमये सत्याग्रहं कुर्वते,
विद्वांसो नृपतेरनीति-वचनं व्याहन्तुमीशाश्रयात् ।
लोकाः! पश्यत देशजाति-मतयः कारासु सत्यप्रियाः,
स्वागच्छन्ति वसन्तमेव सततं प्राप्तव्यलिप्साकृतिम् ॥२॥

प्रसङ्गप्राप्तं विदुषो लक्षणं विवृणोति—

वसन्त-वर्णन—

वसन्त ऋतु के आगमन पर लता और सुन्दर वृक्षों का विस्तृत वैभव विकसित होता है । मनोहर कोकिल के कण्ठ का कूजन तथा दिशाओं को पवित्र करता हुआ पवन, विकास की ओर अग्रसर होने वाले विविध विचारों से परिपूर्ण मनुष्यों के भाव, एवं फूटती हुई आम्रमञ्जरियाँ उल्लासपूर्वक वसन्त का स्वागत करने को उपस्थित होती हैं ॥१॥

चित्त को प्रसन्न करनेवाले वसन्त के समय में परमात्मा के आश्रित होकर नृपति के अनीति-पूर्ण वचनों को दूर करने के लिये विद्वज्जन सत्याग्रह करते हैं। हे मनुष्यो ! देखो कि कारागृह में देश और जाति के उद्धार करने की बुद्धिवाले, और सत्य ही जिनको प्रिय है ऐसे सत्याग्रही अपने लक्ष्यसिद्धिरूप वसन्त का स्वागत करते हैं ॥२॥

प्रसङ्गप्राप्त विद्वान् के लक्षण प्रदर्शित करते हैं—

राष्ट्रं स्वजातिं निजसंस्कृतिं च, भाषां च भूषां परितो ह्रसन्तीम्।
दृष्ट्वोन्नयायैव निजं वयो यो, व्यासह्य कष्टं व्ययते स विद्वान् ॥३॥

प्रसङ्गागतां संस्कृतिं वर्णयति लक्षणतः—

आतृणात् सूर्यपर्यन्तं, यथाऽजः कलया[1]ऽसृजत्।
कर्माऽपि नुस्तथा तद्वद्,यया स्यात् संस्कृति[2]र्हि सा ॥४॥

१–कला=बुद्धिपूर्वकं विज्ञानमयं मनोहारि सौन्दर्यम् २–संस्करणं संस्कृतिः, संस्कार-भूषितमेव पुरुष-कर्म कला नाम बिभर्ति, तच्च बुद्धिपूर्वकं कृतं सत् मनोहारि सौन्दर्यमभ्युपैति।

ग्रीष्मर्तुवर्णनम्—

ग्रीष्मर्त्तौ तपनेन तप्तवपुषो वृक्षा वयो मानवा,
अन्ये चापि कु[1]सत्त्व-तत्त्व-बहुलाः प्राणान्न मुञ्चन्ति किम्?
लोके दुःखमिदं यदेति तपनं वातोऽपि जीवातुकः[2],
साहाय्यं महतः करोति च महान् मैत्रीं सदा दर्शयन्[3] ॥५॥

१–कुः पृथिवी तदीयं सत्त्वमिति श्लेषः, कुसत्त्वं=कुत्सितसत्त्व-शालिनश्च कीटादयः २–जीवातुर्जीवनौषधम्। ३–अर्थान्तरन्यासा-लंकारः।

जो राष्ट्र, स्वजाति, अपनी संस्कृति, भाषा और वेषभूषा को चारों ओर ह्रास को प्राप्त होती हुई देखकर उनकी उन्नति के लिये विविध कष्टों को सहकर आयु बिताता है, वही विद्वान् है ॥३॥

प्रसंगप्राप्त संस्कृति की परिभाषा दिखलाते हैं—

जैसे तृण से लेकर सूर्यपर्यन्त समस्त वस्तु को विधाता ने अपनी कला= बुद्धि से सर्जित किया है, और उसमें किसी भी प्रकार की त्रुटि अथवा सौन्दर्य-हानि नहीं होने दी, वैसे ही जिसके द्वारा मनुष्य का कर्म और उसकी कृति दोषरहित एवं मनोहर बने, उसको 'संस्कृति' कहते हैं ॥४॥

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन—

गर्मी के दिनों में सूर्य से सन्तप्त शरीरवाले वृक्ष, पक्षी, मानव, अन्य पृथ्वी के सत्व और तत्त्व धारण करने वाले अथवा कुत्सित सत्त्व एवं तत्त्व-धारी कीटादि निम्न योनि के अनेक प्राणी प्राणत्याग नहीं करते हैं क्या? अपितु करते हैं। तथा संसार में दुःख यह है कि सब स्थावर जङ्गम का जीवन प्रदाता वायु भी संतप्त हो जाता है, अर्थात् लूका के रूप में परिणत

राज्ञो दुर्दमनीं कृतिं च तपनं नित्यं भजन्त्यः प्रजाः,
नाशं यान्त्यथ पाहि पाहि वचनं श्रुत्वा विदः कुर्वते।
अन्यायं ह्रसितुं यथार्हतपसा सत्याग्रहेणोद्यता –
स्तापान्[1]सत्पुरुषा निजांश्च नृपजान् सोढ्वापि जीवन्त्यहो।।६।

१—अत्र तापो दुःखजनितस्तपनजनितश्चेति 'श्लेषः'।

लोकाः ! पश्यत सत्यदीप्तमनसः कारासु सत्यप्रियाः,
सोढ्वा क्लेशमहर्निशं विजहति प्राणान्न चित्रं न किम् ?
आशा जीवयति स्वलभ्यसुखदा स्वातन्त्र्यभावैर्युता,
क्षीयन्ते निजभूतिसाधनरता हृष्यन्ति तापंसहाः[1] ।।७।।

१—अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

वर्षा-निदर्शनम्—

ग्रीष्मर्त्तौ पशुपक्षि-वृक्ष-मनुजैर्व्याप्ते जगच्छान्तये,
सङ्घीभूय पयोद-विद्युदनिला गर्जन्ति वर्षन्ति च।

हो जाता है। क्योंकि महान्-वायु भी महान सूर्य सन्ताप के प्रति सदा अपनी मित्रता जतलाता हुआ गर्मी से उत्पन्न शोषण को बढ़ाने में सहायक होता है ।।५।।

राजा का दुर्दमनीय दमनचक्र रूप सन्ताप, और ग्रीष्मकाल का ताप इन दोनों को प्राप्त करती हुई प्रजा सदा नष्ट हो रही हैं, और उनके 'त्राहि त्राहि' वचनों को सुनकर विद्वज्जन सत्याग्रह करते हैं। तथा उसमें वे सत्यपुरुष यथायोग्य तपस्या से और सत्याग्रह से राजा के अन्याय का उन्मूलन करने के लिये उद्यत होते हुए अपने धर्म और सत्य का पूर्ण संरक्षण करने के लिये सहसा आये हुए ग्रीष्म ऋतु का ताप और राजा द्वारा दी गई पीड़ा इन दोनों को सहन करके ही सत्याग्रही जी रहे हैं, यह आश्चर्य है ।।६।।

हे मनुष्यो! देखो कि सत्य से उज्ज्वल अन्तःकरणवाले सत्याग्रही कारागारों में दिनरात क्लेश सहन करके भी प्राणत्याग नहीं करते, क्या यह आश्चर्य नहीं है ? किन्तु उनको अपने लक्ष्यपूर्तिरूप स्वातन्त्र्यभाव से विभूषित आशा ही जीवित रखती है। ऐसे समय में स्वार्थसाधक तो क्षीण हो जाते हैं, और परहित ताप सहन करनेवाले सत्याग्रही प्रसन्न होते हैं। इस में काव्यलिङ्गालङ्कार है ।७।

वर्षा का निदर्शन करते हैं—

ग्रीष्म ऋतु के पशु-पक्षी, वृक्ष और मनुष्यों में व्याप्त हो जाने पर जगत्

नृत्यन्तो विलसन्त्यणन्ति शिखिनो भेकाश्च मेघागमे,
वासः शाद्वलितं प्रधार्य पृथिवी कान्ति परां गच्छति ।।८।।

मेघे सिञ्चति तापहारिसलिले क्लिन्ना अपि प्रायश—
स्तप्ता एव भवन्ति साधुपुरुषा राज्ञोऽनयैर्दुःखदैः ।
शान्त्यर्थं तपनाकुलस्य जगतः कृत्वा तु सत्याग्रहं,
भित्त्वाऽनीतितमः प्रसार्य रुचिरां नीतिं प्रसीदन्ति ते ।।९।।

कारागृहे सत्याग्रहिणो भापयितुमागतानां विविधरूपवतां राजपुरुषाणां साम्यमुपकल्पयति छायेव –

नाना रूपमुपेत्य राजपुरुषः सत्येषु तेजः क्षिपन्,
सन्मार्गात् प्रविचालनाय कुरुते यत्नं यथा राक्षसः ।
भ्रातः ! पश्य पयोद-रूपमसकृन्नाशोन्मुखं खे स्थितं,
तद्वत्तु प्रभवत्यरूप-पवनो दुष्ट तथा सज्जनः[1] ।।१०।।

१–अत्र पवनेन सह धर्मक्रिययोः साम्यत्वादुपमाऽलङ्कारः । अरूपी सरूपं नाशयतीति चित्रम् । अथवाऽरूपी पवनस्तु यथाकथञ्चिदरूपत्वाद् गुप्तः प्रभवति, सत्याग्रही तु प्रकट समक्षमागतमपि निष्फलयतीत्युपमाऽलंकारेण व्यातिरेकध्वनिः ।

की शान्ति के लिये मेघ, बिजली और वायु एकत्र होकर गरजते और बरसते हैं । मयूर नाचते हुए शोभायमान होते हैं । मेघों के आने पर वर्षाकाल में मेंढक शब्द करते है, और भूमि हरियाली स्त्रियों का परिधान वस्त्र सारी= साढी धारण करके उत्कृष्ट कान्ति को प्राप्त हो रही है ।।८।।

ताप को दूर करने वाले मेघों के वर्षा करते हुए भी प्रायः साधु पुरुष राजा की दुःखद अनीति से सन्तप्त होने के कारण तपते ही रहते हैं । और सन्ताप से आकुल जगत् की शान्ति के लिये वे साधु पुरुष सत्याग्रह कर अनीतिरूप अन्धकार का नाश करके तथा धर्मानुकूल नीति का प्रसार करके प्रसन्न होते हैं ।।९।।

कारागृह में सत्याग्रहियों को डराने एवं फुसलाने के लिये आये हुए विविधरूपधारी राजपुरुष का छाया से साम्य दिखलाते हैं—

अनेकरूप में वहां कारा में राजपुरुष आकर सत्याग्रहियों को दबाता, रोब गांठता हुआ, उनको सन्मार्ग से डिगाने के हेतु राक्षस की तरह यत्न करता है । किन्तु हे भाई ! देख, जैसे विनाशोन्मुख एवं आकाश में स्थित

अस्तं गच्छन् यथा भानुर्मेघान् रञ्जयते करैः ।
देशभक्तस्तथा मृत्वा, भावै रञ्जयते जनान् ॥११॥

शरदमुपलक्षयति—

दृष्ट्वाऽगस्त्य[1]-मुखं पयोवहहरं मेघोऽम्बराल्लुप्यते,
कासाश्चापि विभान्ति चित्रचरिता घासे च पुष्पोन्मुखाः ।
कासारापगयोर्जलं सकमलं भात्यञ्जसा निर्मलं,
पूर्णेन्दुश्च जनान् सदा सुखयते भाभिः क्षितौ शारदे ॥१२॥

१—तारा

इत्थं शान्तिकरीमवाप्य शरदं कारासु सत्यप्रिया—
स्तप्ताः सन्ति निजाश्रयं[1] गतभयाः स्वायान्ति[2] शीताकृतिम् ।

मेघ के रूप को अरूपी पवन अनेक बार दूर हटाने में समर्थ होता है, वैसे ही सज्जन दुर्जन के विविध रूप को दूर हटाने में समर्थ होता है । यहां पवन और सत्याग्रही में धर्म और क्रिया का साम्य होने से पूर्णोपमालङ्कार है । अरूपी सरूपी को दूर हटाता है, यह आश्चर्य है । अथवा पवन तो अरूपी है, इसलिये लुक छिपकर अजान में वादलों को हटाता है, किन्तु सत्याग्रही सरूपी होकर सामने आये हुए राजपुरुषों की धमकियों को कुछ नहीं गिनता ! अतः इस उपमालङ्कार से व्यतिरेक ध्वनि निकलती है ॥१०॥

अस्ताचल को जाता हुआ सूर्य जैसे मेघों को अपनी किरणों से रंग देता है, वैसे ही देशभक्त मरकर स्वतन्त्रता के भावों से मनुष्यों को रंग देता है—अनुरागवाले बना देता है ॥११॥

शरद् ऋतु का वर्णन करते हैं—

इस शरद् ऋतु में मेघों को दूर करनेवाले अगस्त्य के तारे को देखकर मेघ आकाश से लुप्त हो जाते हैं । कास भी पुष्प से युक्त घास में विचित्र से शोभित होते हैं । तालाब और नदियों का जल शीघ्र ही कमल से सुन्दर और मल रहित होकर सुशोभित होता है । तथा पूर्ण चन्द्र निरन्तर अपनी किरणों से भूतल पर मनुष्यों को सुख-प्रदान करता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार शान्ति देनेवाली शरद् ऋतु को प्राप्त करके भी सत्याग्रही काराओं में तप्त हैं, वे निर्भय सत्याग्रही स्वतन्त्रतारूप शरद् ऋतु का स्वागत

धीरा लभ्यमुपेत्य धर्मनिभृनं[3] शान्ति परां यान्ति वै,
नैवालं जगतः पदार्थनिवहो ज्ञानां सखे ! शान्तये[4] ॥१३॥

१—स्वातन्त्र्यम् । २—स्वागतं कुर्वन्ति । ३—सत्यनिभृतमिति । ४—अर्थान्तरन्यासालंकारः ।

हेमन्तमुपश्लोकयति—

ग्रीष्मे प्राणभृतां यदर्क-किरणैः सत्त्वं हृतं साहसात्,
तस्यांशस्य पुपूर्षया प्रतिदिनं कान्तं तु शीतालयम् ।
हेमन्तं सकलेप्सितप्रदमहो ! को नात्र वाञ्छेन्नरः ?
पुष्टिं यान्ति [1]पयोऽथ सर्पिरशनैस्तैलोपदिग्धैर्जनाः ॥१४॥

हेमन्ते सकलेप्सिताप्तिसुखदे कारासु सत्यप्रियाः,
शुष्कान्नं लवणाम्लमारिचमयं तेजोंऽश-संहारकम् ।
भुक्त्वाऽप्याप्तबलाः प्रसन्नवदना यान्त्यक्षिमार्गं सदा,
विद्वन्! पुष्टिकरं किमस्ति वद तत्? स्वातन्त्र्यरूपं घृतम् ॥१५॥

१—'पयः' 'सर्पिः' उभयत्र शेषविवक्षाभावात् कृद्योगे षष्ठी न भवति ।

शिशिरं शब्दयति—

कर रहे हैं । क्योंकि धीर पुरुष सत्य-धर्मपूर्ण लक्ष्य को पाकर ही परम शान्ति को धारण करते हैं । क्योंकि—हे मित्र । (यह सत्य है कि) बुद्धिमानों को जगत् की वस्तुओं के भण्डार का समूह शान्ति देने में समर्थ नहीं है । इस पद्य में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥१३॥

हेमन्त की महिमा बतलाते हैं—

ग्रीष्म में सूर्य की किरणों ने जो हठपूर्वक प्राणियों का सत्वहरण किया उस अंश की पूर्ति की अभिलाषा से प्रिय और अत्यन्त शीतकारी हेमन्त का जो-कि सम्पूर्ण इच्छाओं का पूरक है—उसको प्रतिदिन यहां कौन नहीं चाहता? जिसके आने पर दूध, दही, घृत और तैल से रचित भोज्य पदार्थों से तथा विमर्दन से मनुष्य पुष्ट होते हैं ॥१४॥

उसी सर्वेप्सितदायी हेमन्त में सत्याग्रही कारागृहों में लवण, खटाई और लालमिर्च मिला हुआ तेज अंश को हरण करने वाला शुष्क अन्न खाकर भी बलशाली और प्रसन्नमुख दिखाई देते हैं । हे विद्वन् ! ऐसा पुष्टिकर वह क्या है ? स्वातन्त्र्यरूप घृत है ॥१५॥

शिशिर की प्रशंसा करते हैं—

शीते प्राणहराः प्रवान्ति पवनाः वस्त्रैर्वृतो जीवति,
पुष्टिं याति सुखोष्ण-भोजनपटुर्घर्मंत्वमग्नेर्युतः ।
स्वे स्वे कर्मणि सक्त एव सकलो लोको गृहान्तर्गतः,
शक्तान् प्रीणयते हिनस्ति कृशितान् पुष्णाति सर्वान् रविः ॥१६॥
इत्थं चक्रगतं विमृश्य शिशिरं कारासु सत्यप्रिया,
जीवन्त्यल्प-पटैश्च शोषजनकैः खाद्यै रवेरंशुभिः ।
आशा बृंहयति स्वदेश-सुखदा स्वाधीन-कर्मोचिता,
ध्यात्वर्तून् परिपूतसत्यमनसा सत्याग्रहं त्वं चर ॥१७॥

दक्षिणायनम्—

प्रीणाति सौम्यकैर्भावैर्जगत् सौम्यायनं यथा ।
तथा धर्म्ये युनक्तीशो धर्मात्मा न्यायवान् विशः ॥१८॥

उत्तरायणम्—

यथाऽऽदत्ते रविः स्नेहं, विश्वस्यैवोत्तरायणे ।
तथाऽऽदत्ते विशः स्नेहं, नृपः सत्यविवर्जितः ॥१९॥

इस शिशिर ऋतु में प्राणहारी वायु बहते हैं। जो वस्त्र ओढ़े हुए है वह सुखी है। यथेष्ट गरम भोजन करनेवाले का शरीर पुष्ट होता है। अग्नि तापने वाला गर्मी को प्राप्त होता है। सभी व्यक्ति घर के अन्दर अपने-अपने काम में संलग्न हैं। यह शिशिर ऋतु की ठंडी समर्थों को प्रसन्न पुष्ट रखती है और दुर्बलों को मानों मार डालती है। परन्तु सूर्य की धूप निर्धन-सधन दुर्बल-सबल, सबको पुष्ट करती है ॥१६॥

इस प्रकार चक्र-प्रक्रिया से आई हुई शिशिर ऋतु को जानकर कारागारों में सत्याग्रही थोड़े से कपड़ों पर रूक्षता पैदा करनेवाले भोजन से एवं सूर्य की किरणों से जी रहे हैं। तथापि यह उचित है कि—स्वाधीनता-प्राप्तिरूप स्वदेश को सुख देने वाली आशा उनको स्थिर रहने में प्रेरित कर रही है। अतः हे मित्र ! तू भी इन ऋतुओं का स्मरण करके पवित्र और सत्य मन से सत्याग्रह कर ॥१७॥

दक्षिणायन—

जैसे सौम्य भावों से यह दक्षिणायन जगत् को प्रसन्न शीतल स्वभाव वाला होते से तृप्त करता है। वैसे ही सौम्य भावों से धर्मात्मा और न्यायकारी राजा प्रजा को धार्मिक कृत्यों में नियोजित करता है ॥१८॥

उत्तरायण—

जैसे सूर्य स्थावर-जङ्गम जगत् के छह महिनों में सञ्चित स्नेह को

अथेदानीं प्रसङ्गतः कविना सह सत्याग्रहं कुर्वतां पञ्चशतानां सत्याग्रहिणामुत्साहपूर्वकं गमनं पौराणां च तैः साकं गमनं प्रदर्शनरूपतामुपागमत् । तस्य च 'उमरखेडा'तो द्विक्रोशान्तरं स्थिते 'मार्ले' ग्रामान्तरेऽन्तिमं शिविरमासीत् । अयं मार्ले-ग्रामो मध्यप्रदेशसीम्न्यासीत्; यतो नातिदूरं भाग्यनगरराज्यस्य सीमासीत् ।

तत्र तावद्रथवर्णनम्—

रथः सुपुष्पैस्तरु-पर्ण-रम्यै—रलङ्कृतः सन्मनुजैर्वरिष्ठैः ।
'ओ३म्' केतुनाऽगात् सुषमां विशिष्टां,
द्वाभ्यां बभासे पृथगासनाभ्याम् ॥२०॥

बलीवर्दनिरूपणम्—

प्रियौ युवानौ वपुषा बलिष्ठौ, गत्या विशिष्टौ ककुदा सुरूपौ ।
केनापि विज्ञेन सुशिक्षितौ तौ, शोभामधृष्यां ययतू रथोढौ ॥२१॥

रथगमनम्—

उत्तरायण में स्थित होकर खींच लेता है । वैसे ही सत्य धर्म रहित राजा प्रजा के स्नेह-सदाचार को खींच लेता है, अर्थात् नष्ट कर देता है ॥१६॥

अब प्रसङ्गवश कवि के साथ सत्याग्रह करने वाले ५०० पांच सौ सत्याग्रहियों का उत्साह पूर्वक जाना, पुर-वासियों का उनके साथ चलना, वह एक चल समारोह (जुलूस) सा हो गया था । उसका अन्तिम शिविर 'उमरखेड़ा' से दो कोस (चार माइल) की दूरी पर स्थित 'मार्ले' गांव में था, यह 'मार्ले' गांव मध्यप्रदेश की सीमा पर था । जहां से हैदराबाद राज्य की सीमा पास ही थी ।

प्रथम रथका वर्णन—

सत्याग्रह के चल समारोह में रथ अच्छे प्रिय पुरुषों से, उत्तम वृक्षों के विविध पत्तों से, अच्छे वरिष्ठ शिल्पी मनुष्यों द्वारा ओ३म्-कार के ध्वज से सजाया हुआ तथा दो आसनों से युक्त विशिष्ट शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥ २० ॥

उसके बैल जवान और शरीर से बलिष्ठ; गति में विशिष्ट, सुन्दर ककुदाथुही वाले किसी विद्वान् द्वारा शिक्षित, रथ में जोड़े हुए अतुलनीय शोभा को प्राप्त हो रहे थे ॥२१॥

रथगमन—

सितारुणौ श्रेष्ठतमौ प्रसन्नौ, रथं बलीवर्दवरौ प्रणुन्नौ।
शुभेक्षणावूहतुरप्रमत्तौ, यतिः स्थितो यत्र वनी च मुख्यः ॥२२॥

तस्याग्रतः खड्ग-विभूषिताङ्गौ, यातो हयाभ्यां धवलारुणाभ्याम्।
श्वेताश्वरोही वयसा युवैकः शोणाश्वरोही मनसा युवाऽन्यः ॥२३॥

बाला युवानः किमु वापि वृद्धा हर्षान्विताः स्फूर्तिभरं प्रपन्नाः। ?
हेलुङ्गशन्योन्यपुरः पुरस्तात्, केतून् समुन्नीय जयान् ब्रुवन्तः ॥२४॥

इत्थं व्रजन्तीं शुभवाहिनीं तां, दृष्ट्वा नराः सद्मनि सुप्रसन्नाः।
ऊचुः सुवाग्भिर्विजयः सदा वो; भूयाद्यथेष्टं यश एतु दिक्षु ॥२५॥

केचित्तु संयोज्य करौ प्रणेमुर्मूर्द्धाभिघातेन ववन्दिरेऽन्ये।
चेतःप्रसादेन निजां समीहां, विज्ञापयन्तश्च परे प्रजग्मुः ॥२६॥

वायुर्ववौ शीतल एव तत्र, रेजुर्निमित्तानि तदा शुभानि।
ओ३मङ्कितं केतुमुदात्तवंशमादाय नेता पुरतश्चचाल ॥२७॥

श्वेत और लाल, परमश्रेष्ठ, प्रसन्न-पुष्ट बैल रथ में जुते हुए हैं। जो कि अप्रमत्त हैं और सुन्दर आंखों वाले हैं। वे उस रथ को वहन कर रहे थे जिसमें मुख्य यति—संन्यासी और वनी (वानप्रस्थ) बैठे हुए थे ॥२२॥

उसके आगे खड्गधारी दो सत्याग्रही श्वेत और लाल घोड़े पर बैठे हुए चल रहे थे। विशेषता यह थी कि उनमें श्वेत घोड़े पर बैठने वाला आयु-प्रमाण से तरुण था और लाल पर बैठने वाला मन से युवा था। अर्थात् शरीर कुछ ढलती आयु का था ॥२३॥

उस चल समारोह में क्या बालक, क्या तरुण और क्या बुड्ढे सभी बड़े उत्साह से प्रसन्न होकर एक दूसरे के आगे-आगे हाथ में ध्वज लिये विविध जय ध्वनि करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥२४॥

इस प्रकार सत्याग्रहियों की सुन्दर सेना को जाती हुई देखकर अपने घरों में स्थित नागरिक अति प्रसन्न होकर कहते थे कि—'तुम्हारी सदा विजय हो, तुम्हारी कामना पूर्ण हो तथा तुम्हारा यश दिशाओं में फैले ॥२५॥

कोई हाथ जोड़कर प्रणाम करते थे, कोई मस्तक झुकाकर और कुछ प्रसन्न चित्त हो अपनी शुभकामना प्रकट करते हुए चले जा रहे थे ॥२६॥

उस समय शीतल समीरण बह रहा था शुभशकुन प्रत्यक्ष हो रहे थे। तथा उनके आगे ओ३म्-कार से अङ्कित ऊंचे बांस पर लगा हुआ ध्वज लेकर नेता चल रहा था ॥२७॥

सद्वृत्तपूर्णा विनिवृत्तपापा: सूक्तीर्व्यश्रृण्वन् विविधाः कवीनाम् ।
क्रोशद्वयेनावसितं[1] प्रदेशं, मार्लेऽभिसंज्ञं प्रययुः समस्ताः[2] ॥२८॥ तृतीया केन?

१—अवस्थितमिति । २—अत्र पद्ये वृत्त-पापशब्दयोर्द्व्यर्थकत्वात् श्लेष ।

केचित्तु पादत्र-निविष्टपादाः, नग्नाङ्घ्रयः केचन बालवृद्धाः ।
वृक्षोपवृक्षान्वितमेत्य मार्गं, सांकं चलन्ति स्म सदाग्रहास्ते[1] ॥२९॥

१—ते-पौरा इति शेषः ।

सोल्लास-चित्ताः परिनष्ट-तृष्णा, आजग्मुरानद्ध-विजेतृभावाः ।
'मार्ले'ऽभिसंज्ञे शिविरे तदानीं, मोक्तुं स्ववेगानभितो ययुस्ते ॥३०॥

पैनाख्य-गङ्गातटमेत्य पौरा, नीरेण वाञ्छां ततृपुर्यथेष्टाम् ।
गावः पपुर्नीरमसून् बिभर्तुं, सिष्णासवश्चक्रुरपां विनोदम् ॥३१॥

केचिन्नमज्जुः प्र च[1] तेरुरेके, पलायिताः केऽपि जले प्रविष्टाः ।
चिक्रीडुरन्ये जलमुत्समीयं, मनुं[2] जलस्थाः परिजेपुरन्ये ॥३२॥

१—'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' इति नियमादुपसर्गस्य व्यवहितः प्रयोगः । २—मनु-मन्त्रमिति ।

उत्तम छन्द और विषय मे परिपूर्ण यति दोष से रहित और पाप-भावना से रहित ऐसी कवियों की विविध सूक्तियाँ सुनते जा रहे थे । इस प्रकार दो कोस की दूरी पर स्थित मार्ले नामक ग्राम में सभी सत्याग्रही पहुंचे । इस पद्य में श्लेषालङ्कार है । क्योंकि वृत्त शब्द के छन्द और विषय तथा पाप शब्द के यतिभङ्ग, दग्धाक्षर और पाप-भावना ऐसे दो-दो अर्थ लिए गये हैं ॥२८॥

जब सत्याग्रही चल रहे थे तब कुछ तो पांव में जूते, चप्पल-खड़ाऊं पहनें हुए थे, कुछ नगे पैर ही थे । और वे सब आबाल वृद्ध पुरवासी सत्याग्रहियों के साथ वृक्षादि युक्त मार्ग में चल रहे थे ॥२९॥

उत्साह-सम्पन्न, निष्काम और एक मात्र विजय की भावना से पूर्ण वे सत्याग्रही 'मार्ले' गांव के शिविर में पहुंचे और तब वे अपने मूत्र-पुरीष के वेगों का परित्याग करके स्नानादि के लिये गये ॥३०॥

वहां 'पेनगङ्गा' नामक नदी के तट पर आकर पुरवासी उसके जल से अपनी तृषा को शान्त करने लगे । अपने प्राणों का पोषण करने के लिये बैलों ने पानी पिया । और स्नानार्थी जलक्रीड़ा करने लगे ॥३१॥

कुछ तो पानी में डुबकी लगा रहे थे, कुछ तैर रहे थे, कुछ पानी में डुबकी लगाकर भाग [illegible] दौड़ रहे थे । कुछ पानी उछाल कर खेल रहे

स्नानादि-कृत्याद्विनिवृत्त-कार्या, यज्ञं विधायान्नमुपासितुं च ।
सभ्यैः समं पङ्क्तिमुपाश्रयन्तः, प्रचक्रिरे मन्त्रपुरां[1] भुजिं ते ॥३३॥

१—वेदमन्त्रोच्चारणपुरस्सरामिति ।

तत्र भोजनम्—

सद्रोटिकाः शष्कुलयोऽथ भक्तमामाम्रशाकं 'पटुशर्करा'क्तम्[1] ।
आम्रोत्थशुक्तं किमु वा पलाण्डुर्वाञ्छानुकूलं ह्यमिलत् समग्रान् ॥३४॥

१—पटु—लवणम् ।

तोयस्य[1] पीत्यै मृद एव पात्रं, भोज्यस्य भुक्त्यै तरु-पर्णपात्रम् ।
सत्याग्रहिषानमिलत् प्रधौतं, विश्रान्तिमापुः परिपूर्णजग्धाः[2] ॥३५॥

१—पेनगगाजलस्य । २—जग्धमुदरम् । अद्यतेऽस्मिन्नधिकरणे क्तः ।

पौरा यथेष्टं त्वतिवाह्य कालं, नद्यास्तटे खेलन-गीत-वाद्यैः ।
सत्याग्रहस्यैव तु कालमग्र्यं,प्रतीक्षमाणा नियताश्च तस्थुः ॥३६॥

कर्तव्य-कृत्यानि समाप्य यत्नाल्लब्धोपदेशाः परिनिष्ठ-सङ्घाः ।
चर्व्यं सतोयं परिचर्व्य सत्या[1], यतिं[2] स्वनेतारमनु प्रचेलुः ॥३७॥

१—सत्याग्रहिणम् । २—वनप्रस्थिनम् ।

थे और कुछ पानी में बैठकर अथवा कटिप्रदेश तक खड़े होकर मन्त्र (अघमर्षण मन्त्र का) जाप कर रहे थे ॥३२॥

इस प्रकार स्नानादि-कृत्य से निवृत्त होकर तथा देवयज्ञ करके अन्नदेव (भोजन) की उपासना करने के लिये सभी सभ्यों के साथ पंक्ति में बैठकर मन्त्रोच्चारण पूर्वक भोजन करने लगे ॥३३॥

भोजन में रोटियां, पूरियां (जैसी जिसकी अभिरुचि थी, तदनुकूल, वा कच्चे-पक्के भोजन की दृष्टि रखकर) और भात, कच्चे आम की नमक और शक्करयुक्त रुचिकर शाक, आम का आचार, और प्याज आदि यथेच्छ प्राप्त हुए ॥३४॥

पानी पीने के लिये शुद्ध मिट्टी के पात्र (सकोरे) दिये गये थे और भोजन करने के लिये पत्रावलियों का उपयोग किया गया था । इस तरह सब सत्याग्रहियों ने परिपूर्ण भोजन करके विश्राम किया ॥३५॥

अन्य पुरवासी जन भी अपनी रुचि के अनुसार नदी के तटपर क्रीड़ा, गीत और वाद्य वादन करते हुए समय बिताकर सत्याग्रहियों के अग्रिम कार्य-क्रम की प्रतीक्षा में बैठ रहे थे ॥३६॥

इधर सत्याग्रही अपने अन्य आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हो अग्रिम कर्तव्य

पुष्पाणि पौरा ववृषुस्तदानीं, समूह्य वाद्यं जयमुत्समीर्य ।
दृष्ट्वाद्भुतं दृश्यमदृष्टपूर्वं, प्रावेश्य सीमां स्वगृहान् प्रतीयुः ॥३८॥

उपसंहरति—

प्रत्यक्षपश्येन मया सुपद्यैः, प्रदर्शनं प्रीतिकरं व्यलेखि ।
मर्त्या! हृदिस्थास्तु विनाश्य चिन्ताः, कर्तव्यमेकं परिपालयन्तु ॥३९॥

अथेदानीं प्रसंगप्राप्तं सत्याग्रहे गन्तुं प्रेरकस्याज्ञानान्धकारनिवारकस्य तपः-परिपूतकल्मषस्य श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासुमहोदयस्य गुणप्रकर्षं तथा च पाथेयधनप्रदातॄणां गुणोत्कर्षं कीर्त्तयति कविः । एताभ्यां विना काव्यस्यास्य प्रणयनं नाभविष्यत्—

वेदे तदङ्गे च कृतप्रयासस्तपःऽप्रभावाच्च विशुद्धसत्वः ।
धनाधिपा भूपसमाश्च मुख्या, यत्पावनं पादमुपस्पृशन्ति ॥४०॥ एकत्नमुद्रे जमानि

का सामूहिक उपदेश सुनकर, चर्व्यं गुण के साथ भुने हुए चने चबाकर तथा शीतल जल पीकर अपने वानप्रस्थ नेता के पीछे चलने लग रहे थे ॥३७॥

पुरवासियों ने उस समय पुष्प वृष्टि की, वाद्य बजाये और तुमुल जय नाद किया । एवं इस अदृष्ट पूर्व दृश्य को देखते हुए हैदराबाद-राज्य की सीमा तक सत्याग्रहियों को पहुंचा कर पुरवासी अपने-अपने घर लौटे ॥३८॥

मैंने (कवि ने) प्रत्यक्ष देखकर सुन्दर पद्यों में उस प्रिय सत्याग्रह के प्रदर्शन का यह वर्णन लिखा है । अतः हे सज्जनों ! आप भी अपनी मानसिक चिन्ताओं को छोड़कर एक मात्र (सत्य-रक्षण के) कर्तव्य का पालन करो ॥३९॥

अब प्रसङ्गवश सत्याग्रह में जाने की प्रेरणा देनेवाले गुरुवर्य परम तपस्वी 'श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु' महोदय का और हैद्राबाद तक जाने के लिये सत्याग्रहियों को मार्गव्यय देनेवाले के गुणोत्कर्ष का वर्णन कवि करता है । क्योंकि यदि प्रेरक और धनदाता न होते तो यह काव्य-निर्माण का कार्य असम्भव था—वेद और वेदाङ्गों में जिन्होंने पूर्ण प्रयास करके तद्गत ज्ञान उपलब्ध किया है, तपस्या के प्रभाव से जो विशुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, बड़े-बड़े धनिक एवं राज्याधिकारी जिनके चरणों की पवित्र रज अपने मस्तक पर लगाते हैं जो महात्मा हैं वैदिक धर्म में तत्पर हैं, जिन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के यजुर्वेद-भाष्य पर विवृति लिखी है ऐसे गुरुवर्य 'श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी' ने सत्याग्रह में जाने के लिये अपने सब शिष्यों को आदेश दिया

सोऽयं महात्मा श्रुतिधर्मनिष्ठो, महर्षिभाष्यं[1] यजुषो विवृण्वन्।
श्रीब्रह्मदत्तः सकलान् स्वशिष्यान्, समादिशद्यान्तु सदाग्रहाय[2] ॥४१॥

१—श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीप्रणीतम्। २—सत्याग्रहाय। तस्मिन्समये श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासोः 'विरजानन्द आश्रमः' 'लवपुरे रावी नद्याः परे तीरे 'शाहदरा' स्थाने विराजमान आसीत्। मया (स्वोपज्ञ स० नीति-काव्य-लेखकेन) 'श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासु—महोदयादेतद् ब्रह्मसूत्रं धृतम्। पाणिनीयवर्णसमाम्नायादारभ्य पातञ्जलमहाभाष्यान्तं साङ्गोपाङ्ग व्याकरणं प्राचीनतमानेक-भाष्योपबृंहितं निरुक्तञ्च पठितम्। एतत्-कृतज्ञताप्रकाशनमानृण्याय ज्ञानपरम्परा ज्ञापनाय चास्ति।

मार्गव्ययदातृन् कीर्त्तयति—

नियोज्य मां[1] नेतृपदे स्ववर्गे धनं ददुः श्रेष्ठिवराः कपूराः[2]।
श्रीरामलालस्य सुताः[3] समग्रं, पाथेयरूपं सुमुखाः प्रसन्नाः ॥४२॥

१—कविमिति। २—क्षत्रियाणां ज्ञातिविभेदिका भणिका। ३—श्रीमन्तो रूपलाल-हंसराज-ज्ञानचन्द प्यारेलालादयः।

अध्येतॄणां मनोरञ्जनाय भाग्यनगरस्य कारैकदेशस्थसत्याग्रहिणां संक्षेपतः शयनदृश्य दर्शयति—

यथादृष्टवशात् प्राप्तं, भोज्यं भुक्त्वा मुदान्विताः।
केऽपि प्रसुप्ताश्चान्ये तु, यच्चक्रुस्तन्निदर्श्यते ॥४३॥

उस समय इनका 'विरजानन्द आश्रम' लाहौर में रावी नदी के पार शाहदरा में बारहदरी पर स्थित था। कवि ने इन श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी से यज्ञोपवीत लिया और पाणिनीय मुनि के वर्णसमाम्नाय से लेकर पातञ्जल महाभाष्यान्त समग्र व्याकरण पढ़ा और अनेक प्राचीन भाष्यों सहित 'निरुक्त' सम्पूर्ण पढ़ा। इनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन अनृण होने के लिये तथा ज्ञानकी परम्परा बताने के लिये है ॥४०-४१॥

मुझ (कवि) को उस सत्याग्रहियों के समूह का नेता बना कर श्रेष्ठि-वर्य श्री रामलाल के पुत्र रूपलाल, हंसराज, ज्ञानचन्द और प्यारेलाल आदि कपूरवंश के धनिकों ने प्रसन्न होकर आवश्यक व्यय के अनुकूल धन दिया ॥४२॥

कवि पाठकों के मनोरञ्जनार्थ भाग्यनगर (हैद्राबाद) की कारा में एक स्थान पर रखे गये सत्याग्रहियों के शयनका दृश्य वर्णन करता है—।

अपने-अपने भाग्य के अनुसार भोजन करके प्रसन्नचित्त कुछ सत्याग्रही

कारैकदेशे वसतां, संख्या पञ्च शता ह्यभूत् ।
सर्वभागेषु संख्या तु, सहस्राण्यत्यवर्त्तत ।।४४।।

अत्र कारागारे स्वयं वसन् कविः स्वसमक्षं सकलस्य दृश्यस्य वर्त्तमानत्वात् वर्त्तमानकालिकक्रियया सर्वं वर्णयति—

जिघ्रन्ति केचित्सुमनः सुगन्धं, खादन्ति केचित् तुलसीदलानि ।
जल्पन्ति केचिन्निजदृष्टवृत्तं, कारां च केचित् परिलोकयन्ति ।।४५।।

केचित्स्वपन्त्येव चलन्ति चान्ये परे तु वार्तासु निशां व्ययन्ति । व्यय गतौ भूवादि
गायन्ति सम्भूय यथेष्टगानं केचित्तु तालं ¹तसलैर्ददन्ते ।।४६।।

१—'तसला' इत्यभिधायकं त्रापुषं भोजनपात्रम् ।

तो सोते थे और कुछ अन्य विनोद करते थे उसका निदर्शन किया जाता है ।।४३।।

उस कारा के एक भाग में (जहां कवि अपने दल के साथ रहता था, वहां) रहने वाले सत्याग्रहियों की संख्या पाँच सौ हो गई थी और सारे कारागार के सत्याग्रहियों की संख्या तो हजारों से भी आगे पहुंच चुकी थी ।।४४।।

यहां कवि नीचे लिखी सब घटना के अपने सामने घटने से और इस काव्य का निर्माण भी उसी समय होने से वर्तमान काल की क्रिया से सत्याग्रहियों की स्थिति का वर्णन करता है—

उन सत्याग्रहियों में कोई तो (कारा की शोभार्थ लगाए हुए पौधों से तोड़कर लाये हुए) पुष्पों की गन्ध ले रहे हैं । कोई तुलसीपत्र खा रहे हैं । कोई (देश-देशान्तर से आये हुए होने के कारण) अपने देखे हुए अपने ऊपर बीते हुए वृत्तान्त कह रहे हैं और कुछ तो उस कारागार का ही अवलोकन कर रहे हैं ।।४५।।

कोई सोये हुए ही हैं । कुछ दूसरे परस्पर वार्तालाप में रात्रि व्यतीत करते हैं । कुछ इकट्ठे होकर गीत गाते हैं और उनके अन्य साथी तसला (भोजन पात्र जो सीसा और जसद का बना हुआ था) से ताल दे रहे हैं ।।४६।।

यदृच्छया चतुर्दिक्षु, प्रान्तरालेष्वथापि वा ।
कृत्वा पादान् प्रकुर्वन्ति, शायनं शयने स्थिताः ॥४७॥

सर्वकायावृताः केचित्, केचिच्चार्धेन संवृताः ।
उत्तमाङ्गावृता अन्ये, केचिच्च मुखसंवृताः ॥४८॥

केचिदासन्न—वसनाः, केचिदाजङ्घमावृताः ।
भूमौ लुठन्ति केचिच्च, प्रास्तीर्यैव शणासनम् ॥४९॥

केचिदर्धं स्वकीयं तु, भूमावास्तीर्य कम्बलम् ।
अर्धेन च निजं देहं, त्रायन्ते शीत-वाततः ॥५०॥

स्वपन्ति प्रमिताहारा, निराहाराश्च केचन ।
कौपीन-वसनाः केचिद्, शिष्ट-गात्र-दिगम्बराः ॥५१॥

केचित् सङ्कोचमापन्नाः, पार्श्व—कुब्जाश्च केचन ।
उत्तान-जानुकाः केचित्, केचन जानुजानुकाः ॥५२॥

केचिज्जाग्रति पानाय, केचिन्मूत्राय जाग्रति ।
सुप्तान् पश्यन्ति वै केचित्, केचित् स्वप्ने वदन्त्यपि ॥५३॥

कुछ बिस्तर पर पड़े हुए ही चारों दिशाओं में अपनी इच्छा के अनुसार पैरों को लम्बे चौड़े फैलाये हुए सो रहे हैं ॥४७॥

उनमें भी कोई सारे शरीर को, कोई आधे शरीर को, कुछ केवल सिर को, और कुछ केवल मुख को आच्छादित किये हुए हैं ॥४८॥

कोई अपने पास में (ओढ़ने का) वस्त्र लिये हुए हैं। कोई जांघों तक ओढ़े हुए हैं। कोई भूमि पर लेट रहे हैं और कुछ शण का वस्त्र (टाट) बिछाकर सो रहे हैं ॥४९॥

कोई आधे कम्बल को बिछाकर उस पर सो रहे हैं और कुछ आधे से शीत और वायु से अपने शरीर की रक्षा कर रहे हैं ॥५०॥

कुछ सत्याग्रही परिमित आहार करके सोये हुए हैं। कुछ (असुविधा और पथ्यहीन भोजन होने के कारण) निराहार ही सो रहे हैं। कुछ केवल लंगोटी लगाकर सोये हुए हैं ॥५१॥

कुछ संकुचित होकर, तथा कूबड़े की तरह होकर, कुछ ऊंचे घुटने उठाकर, कुछ घुटना रखकर सो रहे हैं ॥५२॥

कोई जल पीने के लिये जगते हैं। कोई मल-मूत्र त्याग करने के लिये

केचित् स्वान्तस्ततं ब्रह्म, ध्यात्वा स्वापमुपाते।
केचिन्मिथो विवादात् स्वाद्, विरमन्ति सुषुप्सया ॥५४॥

बाहुमेवोपधानत्वे, केचिद् युक्ताः प्रयुञ्जते।
शर्कराणां[1] चयं केचित्, शिरसोऽधः प्रकुर्वते ॥५५॥

१—कंकरीट इति लोके।

केचित् तु लोमजं चाधः, प्रास्तीर्यैव निजासनम्।
निद्रार्थं सुधियः केचित्[1], व्यतियन्ति सुखेप्सया ॥५६॥

१—अत्र विनोदबाहुल्यात् 'केचित्' पदस्य भूयानेव प्रयोगः कृतः, तस्मान्न शङ्क्यः पुनरुक्तिदोषः। स्वभावोक्तिश्चत्रालंकारः।

भाग्यपत्तन-केन्द्रीये, कारावासे सुषुप्सताम्।
दृश्यं न्यस्तं यथा [1]भुक्तं, दार्ढ्याय धर्म-कर्मणि ॥५७॥

१—यथा स्वयमनुभूतमिति भावः।

जगते हैं। कोई सोये हुओं को देख रहे हैं। कोई नींद में ही बड़बड़ाते हैं ॥ ५३ ॥

सोने के समय कुछ तो अपनी अन्तरात्मा में विराजित ब्रह्म का ध्यान करके सोते हैं। और कुछ सोने की इच्छा से परस्पर छिड़े हुए विवाद से मौन होते हैं ॥५४॥

तकिये के अभाव में कोई अपनी भुजा का ही उपधान=तकिया बना लेते हैं। और कोई कुछ कंकरीट को इकट्ठी करके अपने सिर के नीचे लगा कर तकिये के अभाव की पूर्ति करते हैं ॥५५॥

कुछ व्यक्ति अपने ऊन के कम्बल को ही भूमिपर सुख की इच्छा से बिछाकर नींद लेते हुए रात्रि बिताते हैं ॥५६॥

[ऊपर के पद्यों में 'केचित्' पद का बहुधा प्रयोग विनोद की अधिकता प्रकट करने के लिये किया गया है। इसलिये पुनरुक्त दोष नहीं है। उपर्युक्त पद्यों में 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है।]

हैदराबाद के केन्द्रीय जेल में सोते हुए सत्याग्रहियों का दृश्य जो मैंने (कवि ने) देखा और अनुभव किया उसका यथार्थ चित्रण धर्म-कर्म में पाठकों की दृढ़ता के लिये यहां लिखा है ॥५७॥

उपसंहरति—

उक्तं नृलोके तपसाप्तविद्यैर्[1]-नाकाकयोश्चापि गतागतत्वम् ।
तस्मादृतार्थी सुफलं प्रपित्सुः,
सङ्कल्पशक्त्या समियात् स्वलभ्यम् ।।५८।।

१—नाकः=स्वर्गः, अकः=नरकः, तयोः सुखदुःखयोरित्यर्थः ।

उपसंहार करते हुए कवि कहता है कि—संसार में तपस्या से प्राप्त ज्ञान वाले विद्वानों ने स्वर्ग और नरक अर्थात् सुख और दुःख का जाना-आना अर्थात् परिवर्तनशील होना बतलाया है। अतः सत्फल की अभिलाषा वाला सत्याग्रही संकल्प शक्ति से अपने लक्ष्य की पूर्ति करे ।।५८।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

तत्र 'नानावर्षगणीयः' प्रथम पादः

तत्र तावद्दैवकर्मणोर्बलाबल-निरूपणम्—

'नानावर्षगणैर्विषक्तमिह नुः कर्मान्वितं जीवनं,
विद्या-बुद्धि-मनःक्रियासु चतुरो भूरि श्रमं संश्रयन्,
विघ्नैर्व्याप्तबलोऽप्युपैति समयेनाऽऽप्यं पदं संयमात्,
प्राग्भारं[2] समुपेयिवानिव सखे ! दैवाद् बली तद्व्रतम् ॥१॥

१—नानाजीवनवर्षगणैरिति । २—आरोहणम् (चढ़ाई इति प्राकृताः)
३—व्रतशब्दोऽत्र कर्मपर्यायः ।

योऽन्योऽभ्येति सुखेन निम्नगमनस्त्यक्त्वा बुधानां क्रियाः,
[1]स्वार्थासक्तमनाः कृतागमबुधानालोचयन् हर्षुलः ।

दैव—भाग्य, और कर्म का बलाबल निरूपण करते हुए कवि कहता है कि—

इस संसार में मनुष्य का जीवन नाना वर्षगणों से अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों से कर्मशृंखला में बंधा हुआ आ रहा है। अतः विद्या, बुद्धि, मन से युक्त क्रियाओं में चतुर मनुष्य श्रम करता हुआ विघ्नों से व्याप्त बल वाला होकर भी बहुत समय तक घोर परिश्रम के पश्चात्, और विशेष संयम से अपने प्राप्तव्य पद को प्राप्त करता है। जैसे—पर्वत पर आरोहण करता हुआ यात्री पूर्ण सतर्कता तथा अदम्य उत्साह से सब प्रकार की बाधाओं को सहता हुआ बड़ी कठिनता से बहुत समय में थोड़े-थोड़े मार्ग का आरोहण करके अपने अभीष्ट स्थान को प्राप्त करता है। हे मित्र ! यह उसके कर्म की बलवत्ता है ॥१॥

तथा इसके विपरीत जो निम्नगामी है वह सुख से विद्वानों की (धैर्य, शम, दमादि) क्रियाओं को छोड़ ऐन्द्रिय विषयासक्त बनकर शास्त्रज्ञों की आलोचना वा उनका उपहास करता हुआ कष्टसाध्य गन्तव्य को प्राप्त कर लेता है। जैसे नीचे की ओर जानेवाला रथ विना किसी परिश्रम के शीघ्रता से अपने

दुष्प्रापानभियाति दभ्रयतनो नीचैर्यथेयाद् रथो,
दैवं तस्य बलान्वितं भुवि सखे ! मेर्ष्यामियात् ते मनः ॥२॥

१—खानि-इन्द्रियाणि, अर्था विषयाः, तेषु आसक्तं मनो यस्य सः खार्थावसक्तमना इति।

कर्मैव कार्यं नहि कर्म हेयं, कर्मैव भाग्यस्य निदानमग्र्यम्[1]।
सद्भाग्यलिप्सुः शुचिकर्म कुर्यात्, कर्मानुगं भाग्यमुशन्ति[2] सन्तः ॥३॥

१—प्रधानम्। २—वश कान्तावित्यस्य लटि रूपम्।

दैवं पुरो यत्कृतमुच्यते तत्, तत् पौरुषं यत्त्विह कर्म दृष्टम्।
विद्वान् सदा दैवकृती[1] विलोक्य,सत्यं विचिन्वन् समियात् स्वराज्ये[2] ४

१—दैवं कृतिश्च ते, कृतिः कर्म। २—राजृ दीप्तावत्र धातुः, स्वाभीष्ट इत्यर्थः।

स्थल पर पहुंच जाता है। अतः हे मित्र ! उसका आरोहण रूप भाग्यवल है ऐसा मानकर उस पर तुम्हारा मन ईर्ष्यालु न बने। तात्पर्य यह है कि कोई तपः साधना से भाग्य बना रहा है और कोई सञ्चित पुण्य का फल भोग रहा है। यह समझ कर स्वयं भी साधना में लगा रहे और ईर्ष्या न करे। विशेष स्पष्टता के लिये निम्न उदारण प्रस्तुत है—जैसे एक ही समय और एक ही पथ में एक यात्री अवरोह (उतार) पर है और दूसरा आरोह (चढाव) पर है। तो उतार पर चलने वाला सरलता से विविध विचार, उपहासादि करता हुआ चला जाता है। वह पूर्व पुण्य का फल भोग रहा है और दूसरा परिश्रम से ऊपर चढ रहा है वह नूतन कर्म—नूतन भाग्य बना रहा है। अतः यहां भाग्य से कर्म बलवान् है तथा अवरोह में कर्म से भाग्य बलवान् है ऐसा समझना चाहिये ॥२॥

इसलिये कर्तव्य कर्म करना चाहिये और कर्म छोड़ना नहीं चाहिये। कर्म ही भाग्य का प्रधान कारण है। अतः सद्भाग्य चाहने वाला उत्तम कर्म करे। क्योंकि सज्जन पुरुष कर्मानुसारी ही भाग्य का निर्माण मानते हैं ॥३॥

जो कार्य प्रथम किया जा चुका वह भाग्य कहाता है और जो कर्म यहां किया जा रहा है वह पुरुषार्थ माना जाता है। इसलिये विद्वान् को चाहिये कि वह भाग्य तथा कर्म दोनों को समझकर सत्य का अनुसरण करता हुआ अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता रहे ॥४॥

इन्द्रियार्थेषु संसक्तो, दीनः सन् याति हीनताम्।
व्रतं कृच्छ्रम'यन्नादौ, दीप्तं भाग्यं प्रपद्यते ॥५॥

१—इट किट कटी गतावित्यत्र कटी धातौ कटि-ई इति विगृह्य तस्य प्रयोगः कृतः। अयन् प्राप्नुवन्निति।

कर्माधिकृत्य—

सहजानि नृणां लोके, दुःखानि च सुखानि च।
तेषां त्यागोपलब्ध्यै तु, यतेताशेषशक्तितः ॥६॥

प्रज्ञापराधजातानि, दुःखानि मुनयो जगुः।
तत्त्वविद्भिः सहास्याभिः' प्रज्ञां ज्ञानेन योजयेत् ॥७॥

१—सहस्थितिभिः सत्सङ्गतिभिरित्यर्थः।

अध्यात्ममधिदैवञ्च, तथैवात्राधिभौतिकम्।
लभमानः सुखदुःखं त्रैधमभ्येति ना सदा ॥८॥

आधिं जपेन दानेन, व्याधिं वैद्यस्य सङ्गमात्।
प्राप्तं दुःखं हरेद्यत्नान्मुग्ध्वा नो निष्क्रियो भवेत् ॥९॥

इन्द्रियों की लालसा में आसक्त पुरुष दीन बनकर हीनता-अपश्री को प्राप्त करता है। प्रारम्भ में कठिन तपस्या से शुभकर्म करने वाला मनुष्य तेजोमय उत्तमतम भाग्य को प्राप्त करता है ॥५॥

कर्म की विवेचना करते हुए कवि कहता है कि—

सुख और दुःख तो मनुष्यों के साथ ही उत्पन्न होते हैं। उनमें दुःख का त्याग और सुख की प्राप्ति के लिये पूर्ण शक्ति से प्रयत्न करे ॥६॥

मुनियों ने दुःखों को प्रज्ञापराधज अर्थात् बुद्धि के दोष पूर्ण होने से उत्पन्न बतलाया है। अतः तत्त्ववेत्ताओं की सत्सङ्गति से प्रज्ञा-बुद्धि को ज्ञान में लगावे। प्रज्ञापराध के सूक्ष्मविवेचनार्थ स. नी-काव्य के—अ. १ पाद २ श्लोक २२ पर टिप्पण में देखें ॥७॥

मनुष्य सदा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकारों के सुख और दुखों को भोगता है ॥८॥

आधि=मानसिक चिन्ताओं को जप और दान से तथा व्याधि=शारीरिक रोगों को वैद्य की संगति (अनुशासन) से यत्नपूर्वक दूर करे और मोहवश निष्क्रिय न बने ॥९॥

वृद्धो यन् पदसम्भ्रमात्तु पतितो मर्मण्यवाप्ता च रुक्,
तं खट्वामधिशाय्य [1]कच्चरपटेनावृत्य चण्डातपे ।
मूर्ध्न्यारोह्य वहन्ति वैद्य-निकटं यन्तः सहन्ते श्रम,
केचिद् यान्त्यनु धुलिधूसरपदा वोढ़ृन् विरन्तुं पथि ॥१०॥

सर्वे कृच्छ्रमिता[2] मिथश्च गहनं प्रायो भजन्ते हृदि,
तत् कृत्यं किमिहास्ति तात ! वद मे सूक्ष्मश्च भेदोऽत्र कः ?
अत्यन्ता गहना गतिस्तु न मतिर्मातुं कृतीनां क्षमा,
सर्वस्यात्र शुभाशुभस्य सदयो न्यायं[3] प्रभुर्बुध्यते ॥११॥

१—मलिनम् । २—कृच्छ्र-दुःखं, इताः-प्राप्ताः । ३—न्यायं—उक्तं च—
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः ॥ यजु० अ० ४० । मं० ८ ॥

नीडं यथा यान्ति वयांपि यत्नाद् [1]जग्ध्वाऽद्य[2]मात्मीयमितस्ततश्च ।
तथाऽऽत्मभोगान् मनुजः समाप्य, प्रारब्धहेतुं समुपैति मृत्युम् ॥१२॥

शिरस्यारूढयोर्लोम्नोरेकः श्वेतो सितः परः ।
व्यवस्था ज्ञायते नात्र, तथैषा कर्मणां गतिः ॥१३॥

कोई वृद्ध मार्ग में चलते हुए पाद विचलन से गिर गया । मर्म स्थान पर चोट आयी । उसको खटिया पर लिटाकर मलिन वस्त्र से ढक कर कड़ी धूप में सिरपर उठाकर वैद्य के निकट ले जा रहे हैं । जाते हुए सभी साथी पूरा-पूरा कष्ट सहन कर रहे हैं । और कुछ लोग धूल में सने पैरों से मार्ग में खटिया उठाने वालों को आराम देने के लिये उनके साथ चल रहे हैं । और वे प्रायः सभी परस्पर एक दूसरे से अपने आपको अधिक दुःखी समझ रहे हैं । अत हे भाई ! वह कर्म क्या है ? और उस में सूक्ष्म रहस्य क्या है ? वह मुझे बतलाओ । (तब उत्तर में कवि कहता है कि) कर्म की गति अत्यन्त गहन है, बुद्धि इसका माप करने में समर्थ नहीं है । सर्वान्तर्यामी प्रभु ही इस विश्व के प्राणियों के सूक्ष्मतम भेद-प्रभेद युक्त कर्म; और उन कर्मों के फल भुगताने की न्याय व्यवस्था को समझता है, क्योंकि वेद में कहा भी है—'कविर्मनीषी··· इत्यादि ॥१०-११॥

पक्षीगण इधर-उधर से, दूर तथा निकट से अपना दाना चुगकर अपने-अपने घोंसलों को चले जाते हैं । उसी प्रकार मनुष्य अपने भोगों को समाप्त करके प्रारब्ध से प्रेरित होकर मृत्यु को प्राप्त करता है ॥१२॥

जैसे सिर के केशों में (एक ही स्थान पर) कोई बाल श्वेत है और

शाखासमूहभाग् वृक्षो, निःशाखः स्थाणुरुच्यते ।
कर्मशाखामयो मर्त्यश्छिन्नसङ्गो यतिर्भवेत् ॥१४॥

१—भुक्त्वा । २—अत्तुमर्हम् ।

निर्धनतामधिकृत्य—

चिन्तया दग्धगात्रोऽपि, निर्धनः कुरुते क्रियाम् ।
सधनः सुखतः शेते, मृतोऽप्यग्नौ तु निष्क्रियः ॥१५॥ किमुक्तं भवति?

प्राकृतस्याथ राज्ञो वा, कस्यचिद्धनजस्य वा
निर्धनस्तु वशे यातो, विना शोषं न मुच्यते ॥१६॥

निर्धनो धन-लब्ध्यर्थं, कर्माण्यारभते पृथक् ।
तानि चार्थहराण्यस्य, निर्धनत्वं विपत्स्थलम् ॥१७॥

दुःस्वास्थ्यं निर्धनो गच्छेत्, श्राम्यंस्तु द्रविणाप्तये ।
धनं नाप्नोति दुर्मेधा, देहोऽस्त्य[1]र्थ्याश्रितो यतः ॥१८॥

१—अर्थेन प्राप्तुमर्ह्यं =अर्थ्यं, अर्थ्येन भोग्यपदार्थेन आश्रित इति । ?

कोई कृष्ण है । उनकी व्यवस्था नहीं जान सकते हैं, वैसे ही कर्म की गति गहन है—अज्ञेय है ॥१३॥

शाखा और पत्र पुष्पों से युक्त वृक्ष कहलाता है, शाखाहीन होने पर वृक्ष ठूंठ कहा जाता है । कर्मरूपी शाखा से युक्त मनुष्य कहलाता है, और कर्म-संग रहित मनुष्य यति कहलाता है ॥१४॥

कवि निर्धनता का विवेचन करते हुए कहता है कि—

निर्धन चिन्ता से दग्धगात्र होकर भी क्रिया करता है । और धनवान् तो मर कर अग्नि में भी सुख से निष्क्रिय बनकर सोता है, अर्थात् उसके शव पर भी चन्दन-घृत केसर तथा अन्य सुगन्ध द्रव्यों का प्रयोग होता है ॥१५॥

किसी सामाजिक के, राजा के अथवा किसी धनिक के वश में पड़ा हुआ निर्धन तो विना शोषण को प्राप्त हुए नहीं छूटता ॥१६॥

निर्धन धन की प्राप्ति के लिये बहुत से कर्मों को करता है । किन्तु वे कर्म भी उसके लिये धन के हरण करनेवाले हो जाते हैं । अतः निर्धनता विपत्ति का स्थल है ॥१७॥

निर्धन द्रव्यप्राप्ति के लिये अहरह परिश्रम करता हुआ रुग्ण बन जाता है । फिर भी उस भाग्यहत बुद्धिवाले को धन नहीं मिलता । क्योंकि यह शरीर तो पौष्टिक भोज्य-पदार्थों पर आश्रित है, वे धन से प्राप्त होते हैं ॥१८॥

निर्धनस्य गुरुर्बन्धुर्माता भ्राता पिता स्नुषा ।
भार्या देहो मनश्चात्मा, प्रायेणैति विपर्ययम् ॥१९॥

निर्धनस्य बलं नास्ति, निःश्रीकस्य न बान्धवाः ।
निःस्वकस्य न भार्याऽस्ति, नष्टार्थस्य न चेतना ॥२०॥

सद्बुद्धिशिक्षितं कर्म, निर्धनेन समीहितम् ।
सार्थैर्नाभ्यर्च्यते लोके, तस्मादर्जेद्धनं सदा ॥२१॥

१—अर्थेन सहितैरिति ।

निर्धनं व्याधि-सङ्कीर्णं, हा-हा कुर्वन्तमातुरम् ।
औषधं सजलं पथ्यं, न प्राशयति नीरुजः ॥२२॥

धनेन हीनं पुरुषं समीक्ष्य, सम्मोदमानो धनिकः प्रयाति ।
गृहं क्षितिं गां' तु निजां करिष्ये, ततो धनार्थं सततं यतस्व ॥२३॥

१—पशोरुपलक्षणम् ।

व्यङ्ग्यानि धिक्कोपवचांसि शृण्वन्, ब्रूते न किञ्चिद्धनकर्षितो ना ।
तस्माद्धनाप्त्यै सततं प्रयत्यं, संवर्द्ध्य राष्ट्रस्य हिते नियोज्यम् ॥२४॥

निर्धन के गुरु, बन्धु, माता, भाई, पिता, वधू, स्त्री, शरीर, मन और आत्मा प्रायः विपरीत हो जाते हैं, अर्थात् उसका साथ छोड़ जाते हैं ॥१९॥

निर्धन बलहीन होता है, जिसकी लक्ष्मी=शोभा नष्ट हो गई है उसके कोई बान्धव नहीं है । निर्धन की स्त्री भी उसकी नहीं होती, और धन नष्ट हो जाने से उसकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है ॥२०॥

निर्धन के द्वारा सद्बुद्धिवाला कर्म किया जाने पर भी वह संसार में धनिकों से अभिनन्दित नहीं होता, अतः द्रव्य का सञ्चय करे ॥२१॥

व्याधि से पीड़ित रोगी और हाय हाय करते हुए भी निर्धन को नीरोग मनुष्य औषध जल और पथ्य भोजन नहीं देता है, अर्थात दूर से ही परे हट जाता है ॥२२॥

धनहीन पुरुष को देखकर धनिक उत्तमर्ण श्रेष्ठी प्रसन्न होता है कि अब मैं उसके घर, भूमि और पशुओं को अपने बना लूंगा । अतः धन के लिये नित्य यत्न कर ॥२३॥

धनहीन व्यक्ति धनमदान्धों के धिक्कार और क्रोधयुक्त वचनों को सहता हुआ कुछ भी नहीं बोलता (क्योंकि किस आधार पर बोले ?) ।

कुतः—

विद्याऽप्यधीता न च कार्य-कर्त्री, लोके भवत्यर्थ-विहीनजन्तोः ।
ऊष्मैव पित्तं भुवि वित्तजं तत्, पित्ताच्च मन्यु¹स्तदनु प्रकाशः ।।२५।।

१—मन्युमन्तं सरस्वत्याजगामेति वृद्धाः ।

द्रव्योष्मणा विरहिताय प्रियाय भर्त्रे,
भार्यास्य शुद्ध्यै न ददाति तोयम् ।
मित्राणि यान्ति धनिनः खगवद् भ्रमन्ति,
जीवन्मृतो भवति ना धनलेशहीनः ।।२६।।

पाठं पाठं जगति विपुलं ग्रन्थराशिं प्रयत्नात्,
सेवं सेवं सकलयतनान्निर्मलान्तःक्रियांश्च ।
नानाभावोद्भवमतियुतः सम्पदं प्राप्तुकामो,
द्रव्यारण्ये भ्रमति च समं शास्त्रवित् प्राकृतेन ।।२७।।

इसलिये धन-प्राप्ति के लिये अनवरत प्रयत्न करना चाहिये, और धन को बढ़ा कर राष्ट्रहित में लगाना चाहिये ।।२४।।

अर्थहीन मनुष्य की सुपठित विद्या भी लोक में उपयोगी नहीं होती। क्योंकि शरीर में जो ऊष्मा=गर्मी है वह पित्त का धर्म है। और वह पित्त भोज्य पदार्थों से बनता है, वे भोज्य पदार्थ धन से वा श्रम से प्राप्त होते हैं। पित्त के अनन्तर मन्यु=बुद्धि में स्फूर्ति लाने वाला जो कि पित्त का एक विशेष कार्य है, उत्पन्न होता है, उस के अनन्तर बुद्धि में प्रकाश होता है ।।२५।।

अर्थ की उष्णता से रहित-धनहीन प्रिय पति को उसकी स्त्री मुख धोने के लिए (मांगने पर) पानी भी नहीं देती है। मित्र दूर रहते हैं, और धनी उत्तमर्ण=श्रेष्ठीजन गीधों की तरह घूमते हैं। अतः धनहीन जीवित भी मरा हुआ है ।।२६।।

विपुल ग्रन्थों को प्रयत्न से पढ़-पढ़कर और नियमपूर्वक समस्त प्रयत्न से निर्मल अन्तःकरण वाले तथा निर्मल क्रियावाले गुरुजनों की उपासना कर-करके, नाना प्रकार की ऊहापोह युक्त बुद्धिवाला शास्त्रवित् सम्पत्ति की प्राप्ति की कामना से मूर्ख के समान द्रव्य के वन में=बाजारों में घूमता है ।।२७।।

निर्धनता नैकान्ततो निन्द्या—

धनं नरं चेष्टयते क्रियासु, धनं नरं सज्जयते विवादे।
धनान्वितो ब्रह्मसहायमस्त्वा[1]ऽहम्भावमभ्येति विमूढभावः ।।२८।।

१–अस्त्वा=त्यक्त्वा ।

परं धनोष्मा[1]रहितस्तु मर्त्योऽहम्भावमुत्सृज्य विभुं स्मरंस्तु ।
नमन् जगद् याति स संवृताङ्गो,नैकान्ततो निर्धनताऽस्ति निन्द्या ।२९।।

१–ऊष्मणा आ समन्ताद् रहितः ।

उपसंहरति—

दारिद्रयं प्रततं समीक्ष्य मतिमान् हर्तुं धनञ्चार्जयेत्,
न्याय्यं मार्गमपास्य [1]कक्षकमपि प्राप्तुं न यत्नं चरेत् ।
देहोऽयं यदि शोषमेति; तरुवत् शुष्येद् व्रजेद्वा चितां,
धीरो धैर्यधिया सहेत निखिलं धर्मो हि जीवानुग. ।।३०।

१–कक्षस्तृणं, कक्ष एव कक्षकः । कख इत्यपभ्रंशः ।

कालस्तत्स्वरूपं च—

पुरस्ताल्लम्बकेशोऽयं, पृष्ठतश्चेन्द्रलुप्तवत् ।
आलम्ब्याग्रं नयेत् पृष्ठे, गतः कालो न भूतिदः ।।३१।।

निर्धनता सर्वथा निन्दनीय नहीं है—

क्योंकि धन मनुष्य को क्रिया में लगाता है। धन ही मनुष्य को वाद-विवाद में प्रवृत्त करता है। धनवाला ईश्वर के आश्रय को त्याग कर मूढबुद्धि और उद्दण्ड हो जाता है ।।२८।।

परन्तु धन की गर्मी से रहित मनुष्य अहङ्कार का परिसंवरण=त्याग कर प्रभु को स्मरण करता हुआ जगत् के प्रति झुकता हुआ चलता जाता है,अर्थात् नम्र हो जाता है। अतः निर्धनता सर्वथा निन्द्य ही है, ऐसी बात नहीं ।।२९।।

मतिमान् अपने दारिद्रय को बढ़ा हुआ देखकर उसको मिटाने के लिये धन का उपार्जन करे। किन्तु अन्याय से तो तृण भी लेने का प्रयत्न न करे। और यदि ऐसा करते हुए यह शरीर वृक्ष की तरह सूख जाये अथवा चिता में प्रवेश भी हो जाये, तो भी धीर पुरुष धैर्य से सब सहन करे। क्योंकि धर्म ही जीव के साथ जानेवाला है ।।३०।।

काल और उसका स्वरूप दिखलाते हुए कवि कहता है कि - यह काल

कालमहिमा—

कालस्य बलमारुह्य, सर्पिरायाति लोष्ठताम् ।
अयोऽपि कालसंक्षुण्णं, यात्येव द्रवतां क्वचित् ॥३२॥

प्राणिनो ग्रसते कालः, सबलान् निर्बलांस्तथा ।
कालवेग-समुद्विग्ना, वसुधाऽपि प्रवेपते ॥३३॥

कालं नरः प्रतीक्षेत, नूनमुत्कर्ष-वाञ्छया ।
कालेनोपहतं कृत्यं, सहसा नाचरेत् सुधीः ॥३४॥
अकाले कर्म चेत् कश्चित्, ना कुर्यात् सहसाऽन्वयम् ।
संक्षीणशक्ति-द्रव्योऽसौ, याति लोके प्रहास्यताम् ॥३५॥
रजस्तमःसमुत्थानः, प्रमादो हृदि तिष्ठति ।
छिद्रमासाद्य तत्कालं, कालो भुङ्क्तेऽस्य वैभवम् ॥३६॥

विघ्नं छिनत्त्यात्मयशो विलिप्सु[1]र्विघ्नोऽन्यरूपः पुनरेति चाग्रे ।
प्रायो नरो विघ्नविषण्णसत्त्वोऽवजीयते[2] विघ्नशतैरनेकैः ॥३७॥

१—विशेषेण लब्धुमिच्छुरिति यावत् । २—विघ्नास्तं पराजयन्तीति भावः ।

आगे से लम्बे केशोंवाला है, और पीछे से रुण्ड मुण्ड सब केश उड़े हुए हैं। अतः अग्रिम अलकों को पकड़ कर समय को काम में लावे। क्योंकि बीता हुआ समय कुछ काम का नहीं ॥३१॥

काल के बल से घृत ढेले के समान कठिन हो जाता है। काल के प्रभाव से ही लोहा भी कभी-कभी गल जाता है। अग्नि के योग से लोहा पानी की भांति पिघल जाता है ॥३२॥

काल सबल और निर्बल सभी प्राणियों को ग्रस लेता है। काल के वेग से घबड़ाई हुई पृथ्वी भी कांपती है ॥३३॥

उन्नति को चाहनेवाला मनुष्य अवश्य ही काल की प्रतीक्षा करे। और बुद्धिमान् जब काल प्रतिकूल हो, तब सहसा कोई कार्य न करे ॥३४॥

परम्परावश यदि कोई मनुष्य सहसा असमय में कार्य कर भी लेता है, तो वह शक्ति और द्रव्य से हीन होकर लोक में हंसी का पात्र बनता है ॥३५॥

रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न प्रमाद जब हृदय में रहता है, तब काल छिद्र=अवकाश देखकर उसी समय उस प्रमादी के वैभव को नष्ट कर देता है ॥३६॥

अपने विशेष यश को चाहनेवाला एक विघ्न को काटता=दूर करता है,

तथापि धर्मं न 'रहेद्‌तार्थी, तप्तो विपद्भिः सततं सुशक्यम् ।
विजेतुमुत्साह-शमार्चनाभिर्यतेत धृत्यात्मनि चाप्रमत्तः ।।३८।।

१—'रह त्यागे' इत्यस्य धातो रूपं, त्यजेदिति यावत् ।

उपसंहरति—

[युग्मकम्]

कालः पुमांसं नहि दण्डहस्तो, गोपालवद्रक्षति हेयमार्गात् ।
'यन्तून्निनीषूर्भवतीह कालस्तं सम्मिमीते मृदुभावनाभिः ।।३९।।
न्यक्कर्तुमीहेत यमो यमत्र, हितेऽहितं पश्यति तस्य बुद्धिः ।
तस्माज्जविष्ठं प्रवदन्ति कालं, सर्वं ग्रसन् याति विनाप्तवाक्यात् ।।४०।।

१—यं तु उन्निनीषुरिति च्छेदः ।

कालेनानुकृतं सर्वं, कालो भर्जयते प्रजाः ।
सत्य-धर्मौ न शक्यौ स्तो, भोक्तुं कालमहात्मना ।।४१।।

किन्तु वही विघ्न दूसरा रूप लेकर पुनः आगे आकर खड़ा हो जाता है । विघ्न से दुःखी उकताया हुआ मनुष्य प्रायः उन समय की प्रतिकूलता से प्राप्त सैंकड़ों विघ्नों के बाधक बन जाने के कारण पराजित हो जाता है ।।३७।।

तथापि सत्याग्रही विपत्तियों के समूह से ऊबता हुआ भी प्राणान्त तक सत्यधर्म का त्याग न करे । और उत्साह, शक्ति, धैर्य तथा सेवा-शुश्रूषा के द्वारा अपने आप में अप्रमत्त बनकर विघ्न-बाधाओं पर विजय पाने के लिये प्रयत्न करता ही रहे ।।३८।।

काल मनुष्य की हेय मार्ग से हाथ में डण्डा लेकर पशुपालक की भांति रक्षा नहीं करता है । किन्तु जिसको उन्नति पर लेजाना चाहता हैं, उसको मृदु=सत्यभावनाओं से युक्त कर देता है । यह काल जिस पुरुष को तिरस्कृत करना चाहता है, उस पुरुष की बुद्धि हित में अहित देखती है । इसीलिये काल को (विद्वज्जन) अधिकतम वेगवान् कहते हैं । यह काल आप्त पुरुषों की सूक्तियों के अतिरिक्त शेष सारे चराचर जगत् को कवलित करता हुआ चलता जाता है ।।३९-४०।।

काल ने सबको अपने अनुगत कर रखा है । काल प्रजा को भूनता= पीड़ित करता है । किन्तु सत्य और धर्म को तो महात्मा काल भी मिटाने में समर्थ नहीं होता है ।।४१।।

भृति-कुत्सनम्—

भृतिं मा भज धर्मात्मन्निहामुत्र सुखेप्सया।
सौख्यहन्त्रीं यशोहन्त्रीमात्मोत्थानविनाशिनीम् ॥४२॥

मृत्युं प्राप्नुहि हर्षेण, घासं पत्रादि भक्ष वा।
आत्मोत्थान-प्रणाशिन्या, भृतेरीहां न त्वं कुरु ॥४३।

भृतिकर्त्रा स्वको भावः, सत्यं वक्तुं न शक्यते।
जायते प्रीणनोऽप्यस्मै, परस्मै क्लेशदोऽथवा ॥४४॥

शैशवं क्रीडने नीतं, यौवनं भृतिकर्मणि।
सारहीने समायाते, वार्धक्ये किं करिष्यसि? ॥४५॥

युवभिः स्वाश्रयं कर्म, कार्यं वृद्धोपसेवनैः।
विमुखं वृद्धसेवाया, यौवनं तूलपथं नयेत् ॥४६।

भृतिमिच्छसि चेत् कर्तुं, सत्यासत्ये परित्यज।
अन्तरात्मानमेकान्ते, नागदन्तेऽवलम्बय ॥४७॥

अब भृति=नौकरी की निम्नता पर कवि अपने विचार प्रकट करता है—

हे धर्मात्मन्! इस जन्म तथा परजन्म में सुख-प्राप्ति की इच्छा से सुख का नाश करनेवाली, यश को मिटानेवाली और आत्मोन्नति का हनन करने वाली नौकरी मत कर ॥४२॥

प्रसन्नता से मृत्यु का आलिङ्गन कर, अथवा घास और पत्ते खाकर जीवन बिता। पर आत्मोत्थान में बाधा पहुंचानेवाली नौकरी की इच्छा मत कर ॥४३॥

निश्चय ही नौकर अपने सच्चे भाव को कहने में समर्थ नहीं होता। क्योंकि वह सत्यकथन किसी के लिये हितकर है, तो दूसरे के लिये तन-मन में आग लगा देनेवाला होता है ॥४४॥

बाल्यकाल खेलने में खोया; जवानी में नौकरी की, फिर सारहीन बुढ़ापे के आने पर तू क्या करेगा? ॥४५॥

तरुणों को चाहिये कि वे अपने अनुभवी पुरुषों की उपासना—इस कार्य को कैसे करना चाहिये; ऐसा करने में क्या हानि है, इत्यादि जिज्ञासाएं वृद्धों के पास पहुंच कर, उनका प्रियाचरण करके, या पत्रव्यवहारादि से शान्त करें। एवं जानकर वृत्ति के लिये स्वावलम्बी सत्पुरुषों से अनिन्दित कार्य करें ॥४६॥

यदि नौकरी ही करनी है, तो सत्य और असत्य के विवेचन को त्याग

भृतिदात्रर्थ-सिद्धिश्च, यद्गुणेन प्रसिद्ध्यति ।
तस्यैवात्र भवेन्मूल्यं, गुणानन्यान् किमीक्षसे? ॥४८॥

अश्विनो:[1] पितृसून्वोर्वा, भृतिकर्म मिथः कृतम् ।
तयोः पुटं तथा भिन्द्याद् यथा घातोऽनिलद्विषः[2] ॥४९॥

१—गुरुशिष्ययोः । २—अनिलद्विट्=वातादः ।

भृतिः श्ववृत्तिरित्येषा, कल्पना नास्ति शोभना ।
स्वच्छन्दश्चरति श्वाऽत्र, भृतकः परशासितः[1] ॥५०॥

१—भृत्या श्ववृत्तिर्रतिरिच्यत इति व्यतिरेकः ।

भूशय्या ब्रह्मचर्यं च, [1]जागर्तिर्लघु भोजनम् ।
किङ्करस्य यतेस्तुल्यं, विशेषः पापधर्मजः ॥५१॥

१—सर्वदा जागरूकतेत्याकूतम् ।

कुर्वतः स्वाश्रयं कर्म, यद्यन्नं नीरसं मिलेत् ।
तद् विद्धि सरसं बल्यं, सेवया नीरसायते ॥५२॥

दे । और कहीं एकान्त में खूंटी पर अपने अन्तरात्मा की ध्वनि को लटका दे ॥४७॥

हे गुणज्ञ! भृति देनेवाले का अर्थ=प्रयोजन जिस गुण से सिद्ध होता है, वह उसी गुण का मूल्य आंकता है । और शेष गुणों का कुछ मूल्य नहीं, ऐसा क्यों सोचते हो ? ॥४८॥

अश्विनी=गुरु-शिष्य, स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र आदि इनकी परस्पर भृति बनी हुई है । इनके पुट को यह भृति वैसे ही फोड़ देती है, जैसे बादाम के अभिन्न पुट को पत्थर की चोट ॥४९॥

'नौकरी श्ववृत्ति=कुत्ते की वृत्ति के समान है' यह कल्पना भी ठीक नहीं है । क्योंकि कुत्ता तो अपनी इच्छानुसार स्वच्छन्द घूमता है, और नौकरी करनेवाला तो दूसरे की आज्ञानुसार ही कार्य करता है । यहां 'व्यतिरेक' अलङ्कार है ॥५०॥

पृथ्वी पर सोना, ब्रह्मचर्य से रहना, सदा जागरूक=सावधान रहना, और थोड़ा आहार करना, इन क्रियाओं मे यति और किङ्कर में समानता है । तथापि एक धर्म से सम्बन्ध रखती है, और दूसरी पाप से ॥५१॥

स्वाधीन कर्म करते हुए यदि नीरस अन्न मिले, तो वह भी सरस और बलदायक होता है । और सेवा से मिला हुआ हो, तो सरस भी नीरस हो जाता है ॥५२॥

अथ व्यञ्जन-सिक्तेषु, रुचिं कृत्वा रसेप्सया।
रंक्ष्यसे भृति-कृत्ये चेन्, नैम्न्यमेष्यति ते मन: ।।५३।।

शास्त्राण्यधीतानि मया गुरूणां,
शुश्रूषयानेकविधानि सम्यक्।
मत्वेत्यहङ्कारयुतो न भृत्यै,
व्ययस्व कालं कुरु कर्म नैजम्[1] ।।५४।।

१—नैजम्-स्वीयम्, निजाश्रयं च।

भृतिं सस्वरूपां धिक्कारयति—

नहि भृति: सुखदा नहि मानदा, सततमेव भयं विरहावधि।
भृतिद-वाक्यशरैर्हृदयं भृशं, व्यथत एव मतिश्च विनश्यति।।५५।।
मतिरदर्श[1]मुपेत्य जनं सदा, नयति निम्न-कृतौ स च हीयते।
मलिन-बोधरत: सुतरां तदा, पतति नोर्ध्व-पथं व्रजतीति हा! ।।५६।।

१—नाशम्।

यदि विविध मसालों से युक्त भोजन की लालसा करके नौकरी से अनुराग करेगा, तो तेरा मन निश्चय ही निम्नता को प्राप्त होगा ।।५३।।

मैंने गुरु-शुश्रूषा से अनेक-प्रकार के विमल शास्त्रों का अध्ययन किया है, इस मोह से अभिमान में मस्त होकर नौकरी करने या नौकरी ढूंढने के लिये इधर-उधर घूमकर व्यर्थ समय मत व्यतीत कर, अपितु स्वाधीन कर्म कर ।।५४।।

नौकरी न तो सुख देनेवाली है, और न सम्मान देनेवाली है। अन्त तक इसके छूट जाने या हटाये जाने का भय बना रहता है। नौकरी देनेवाले के वाग्बाण से हृदय सदा ही दु:खित होता रहता है, और बुद्धि नष्ट हो जाती है ।।५५।।

बुद्धि नष्ट होकर मनुष्य को नीचे की ओर ले जाती है, अर्थात् वह स्वोपज्ञबुद्धि-प्रवाह से वञ्चित रह जाता है, और अपने आपको स्वामी के बुद्धिवैभव से हीन-क्षीण और न्यून समझने लगता है। निम्नता की भावनाओं में लगा हुआ वह और भी निम्नाभिमुख हो जाता है। इस पर भी महान् दु:ख यह है कि वह स्वाधीनतारूपी तथा स्वोपज्ञतारूपी ऊर्ध्वपथ को प्राप्त नहीं होता है ।।५६।।

उपसंहार में कवि कहता है कि—

उपसंहरति—

भृतौ निबद्धो नर एति यश्च, सत्याग्रहं स्वात्मयशोऽभिलाषी ।
स दूषयत्येव सतां समाजं, वृत्तिर्धने तस्य यतोऽस्ति सक्ता ।।५७।।

मृत्युः—

व्यात्तानने तीक्ष्ण-रदावकीर्णे, विजृम्भमाणेऽन्तकरे नृशंसे ।
मुखे[1] प्रविष्टोऽपि मतोर्थ-कामी, नरो न केनाऽस्ति वितर्कणीयः? ।५८।।

१—कालस्येति शेषः ।

स्वस्थं मनोज्ञं सबलेन्द्रियं च, सुखासनं काल-मुखोपपन्नम् ।
सरट् पतङ्गं निमिषेण भुङ्क्ते, जगत्तथादोऽस्ति मुखेऽन्तकर्तुः ।।५९।।

प्राप्स्यामि नाके स्थितमात्म-पुत्रं, प्रियं मनोज्ञं बहु-दार-पुत्रम् ।
इतीहया मृत्युमुपासमाना, मृतापि माता लभते न सूनुम् ।।६०।।

कालः प्रतीक्षां कुरुते न नूनं, कृताकृतं कर्म नरस्य पश्यन् ।
तस्मात् सदा कर्म-पथं प्रपन्नः, कृत्यानि कुर्वन्नभयः शयीत ।।६१।।

जो मनुष्य अपने यश की प्राप्ति की अभिलाषा से नौकर होकर, या नौकरी तो लगी हुई है, या नौकरी तो मिलनी ही चाहिये, इत्यादि भावों में बंधा हुआ सत्याग्रह को करता है, वह सच्चे निर्लिप्त सत्याग्रहियों के समाज को दूषित कर देता है। क्योंकि उसकी वृत्ति तो नौकरी से प्राप्त होनेवाले धन में फंसी हुई है, न कि अन्याय के विरोध-निमित्त से मिलनेवाले कष्टों को महर्ष तितिक्षा से झेलने में सुख अनुभव करती हुई कर्तव्य-पालन-परायणा होती है ।।५७।।

बड़े-बड़े तीक्ष्ण दांतों वाले, अत्यन्त क्रूर काल के फैलाए हुए वृहत्तर मुख में प्रविष्ट हुआ भी जो मनुष्य नानाविध लौकिक अर्थों की प्राप्ति के निमित्त उन्मत्तसा हो रहा है, वह किसके द्वारा आलोचना का पात्र नहीं बनता ? अर्थात् सभी उसके सम्बन्ध में चर्चाएं करते हैं ।।५८।।

स्वस्थ, सुन्दर, इन्द्रियों के बल से परिपूर्ण, और सुख से बैठे हुए पतङ्ग को काल निकट आ जाने पर जैसे छिपकली एक क्षण में अर्थात् देखते ही देखते खा जाती है, वैसे ही जगत् भी काल के मुख में प्रविष्ट है ।।५९।।

'मैं स्वर्ग में स्थित स्त्री पुत्रादि परिवारवाले अपने प्रिय पुत्र को देखूंगी', इस इच्छा से मृत्यु चाहती हुई माता मरकर भी पुत्र से नहीं मिल पाती है ।।६०।।

निश्चय ही काल मनुष्य के कृत-अकृत, पूर्ण-अपूर्ण कर्म को देखता

केचित्त्वकाले मरणं नरस्य, केचित्तु काले मरणं नरस्य ।
विवादमग्ना भ्रमयन्ति नूनं, धर्मोऽथ धर्म्याः किल सेवनीयः ॥६२॥

दारा नरं लौकिक-भाव-लब्ध्यै, तङ्कन्ति क्षिण्वन्ति रुजो बलञ्च ।
मृत्युर्नरं पूर्वमरिष्ट-चिह्नैः, संसूच्य सभ्यैरिव याति नीत्वा ॥६३॥

मृत्योर्मनो यत्र नरे निविष्टं, स तं विना नास्तम[1]भिप्रयाति ।
न मन्त्र-पाठान् न च दान-यज्ञान्, शृणोति गृह्णाति यियासुरस्तम् ॥६४॥

१—अस्तं=गृहमिति यावत् ।

[1]क्ष्मान्तःप्रविष्टो दिवि वा गतो ना, भीत्वान्तकादात्मविलोप्तुकामः ।
करोतु कर्माण्यसकृत् प्रसह्य, गौर्वत्सवत्तान्यनुसंश्रयन्ति ॥६५॥

१—क्ष्मा=पृथिवी ।

हुआ, अर्थात् वह इसका अपूर्ण कर्म पूर्ण हो जावे तब इसको ग्रसूंगा इत्यादि प्रतीक्षा नहीं करता । अतः मनुष्य सदैव धर्ममार्ग में प्रवृत्त होकर शुभ कर्म करता हुआ निर्भयतापूर्वक सोवे ॥६१॥

कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य का मरण अकाल में होता है । कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य की मृत्यु काल में अर्थात् नियत समय में ही होती है । इस विवाद में पड़कर वे अपने आपको तथा दूसरों को भ्रम में डालते हैं । अतः हे धार्मिको ! मेरा तो यही कहना है कि धर्म=सत्य और न्याय, की ही उपासना करनी चाहिये ॥६२॥

स्त्रियाँ लौकिक पदार्थों की आवश्यकताओं (अब यह चाहिये, अब वह आदि) की पूर्ति के लिये मनुष्य को तङ्ग करती हैं, अर्थात् अनुरोध बनाये रखती हैं । रोग मनुष्य के बल को घटा देते हैं । मृत्यु अपने आने से पहले मृत्यु-विज्ञापक अरिष्ट चिह्नों से मनुष्य को सूचना देकर सभ्य पुरुषों की भांति समय आने पर हाथ पकड़ कर ले जाती है ॥६३॥

मृत्यु का मन जिस मनुष्य में लग गया है, अर्थात् जिसका मरण-समय उपस्थित हो गया है, उसे साथ लिये बिना अपने घर को नहीं लौटती । अपने घर की ओर प्रतिगमन की इच्छावाली वह आयु की रक्षानिमित्त किये गये वेदमन्त्रों के पाठों को नहीं सुनती, न यज्ञों को ही देखती हैं, और नाही अन्न वस्त्र गाय द्रव्य मुद्रा आदि को लेती, अर्थात् मृत्यु किसी तात्कालिक उपाय से प्राणी को छोड़ती नहीं ॥६४॥

मृत्यु से डरकर मनुष्य चाहे पृथ्वी के अन्दर प्रवेशकर अथवा आकाश में पहुंचकर अपने को छिपाने की इच्छा से बार-बार हठयुक्त कर्म करे, तो भी जैसे

जगत् स्वनाम्नैव गतिं व्यनक्ति, जगत् स्वनाम्नैव मृतिं दधाति ।
जगत् स्वनाम्नैव नरं प्रशास्ति, मृत्युः समश्नन् गमयत्यदभ्रम् ।।६६।।

किं जन्म भव्यं किमु वापवर्गः, [1]किञ्जन्म भव्यं किमु वापवर्गः ।
स्थिरं वचोऽदः परिपश्य[2] मृत्युं, नवं नवं देहमुपैति देही ।।६७।।

१–'किं क्षेपे' (पाणिनीयाष्टके अ० २।१।६४) अत्र समासः, कुत्सितयोनिजं जन्म इति भावः । २–दृशोर्लोटि मध्यमपुरुषैकवचनम् ।

म्रियमाणं नरं सौम्य ! न कश्चित् प्रतिरोदिति ।
आत्मनस्तु [1]सुखं स्मृत्वा, नरः शोचति मुह्यति ।।६८।।

१–जातावेकवचनम् ।

उपसंहरति—

आत्मानं सततं नियम्य विविधैर्वेगैः क्षणध्वंसिभिः,
दुर्वाक्यं सहते परं प्रतिवचो ब्रूते सदा सुश्रवम् ।

गौ को उसका बछड़ा प्राप्त हो जाता है, वैसे ही मनुष्य के कर्म अच्छे या बुरे अपने-अपने परिपाक के रूप में उसी कर्त्ता को सुखी या दुःखी करने के निमित्त प्राप्त होते हैं ।।६५।।

इस संसार का पर्य्यायवाची नाम जगत् है—क्योंकि 'गच्छतीति जगत' इसकी निरुक्ति है । अतः जगत् अपने नाम से ही गतिमत्ता को व्यक्त कर रहा है । जगत् स्वनाम (गच्छतीति जगत्) से मृत्यु को धारण कर रहा है । जगत् अपने इस जगत् नाम से ही मनुष्य को शिक्षा देता है कि हे मनुष्य ! मृत्यु इस सारे महान् संसार को उत्पत्ति-स्थिति के चक्कर में धकेले जा रही है ।।६६।।

'उत्तम जन्म हो वा अपवर्ग प्राप्त हो, चाहे निकृष्ट योनिज जन्म हो वा अपवर्ग मिले, हे मनुष्य ! तू मृत्यु को देख । सत्य बात तो यह है कि आत्मा नये-नये शरीरों को धारण करता ही है ।।६७।।

हे सौम्य ! मरते हुए मनुष्य को देखकर कोई नहीं रोता, किन्तु मनुष्य अपने सुख का स्मरण करके शोक करता है, और मोह को प्राप्त होता है ।।६८।।

उपसंहार—

ऊपर के विचार को ध्यान में रखकर ही धर्म सत्य बुद्धिवाला सत्याग्रही

निर्दण्डोऽपि हतः प्रघात-पटुभिर्मर्मच्छिदैश्चार्दितो,
मृत्वाऽऽप्नोति यशः क्षयं न भजते सत्याग्रही धर्मधीः ।।६९।।

कविः सामान्यतया सर्वं जीवनमालक्ष्य, विधिमाक्रोशयंश्च द्वाभ्यां पद्याभ्यां जीवनचित्रं चित्रयति—

[युग्मकम्]

जातोऽज्ञः क्रमशो बलान्वितवपुर्नानागुणावाप्तये,
संशुश्रूष्य गुरून् यथार्हमसकृत् स्मृत्वाऽपि शास्त्राण्यरम् ।
नाना तर्कवितर्कलब्धधिषणो ब्रूतेऽथ वाच्यान् बहून्,
विज्ञो याति सभासु लब्धसुयशास् तर्क्याणि संतर्कयन् ।।७०।।

अपने आप को क्षण-भंगर वेगों से नियन्त्रित=बचा करके दूसरों द्वारा तिरस्कार पूर्ण दुर्वाक्यों को सहता है। प्रतिवचन में सदा प्रिय वचनों को बोलता है। बिना किसी प्रकार का प्रहार-साधन=दण्ड आदि हाथ में लिये मर्माघातपटु=गुप्त चोट लगाने में दक्ष मनुष्यों द्वारा पीडित किया जाता हुआ मरकर यश को प्राप्त होता है, मरता नहीं। अपि तु यशःशरीर से जीवित ही रहता है ।।६९।।

दो पद्यों द्वारा सारे जीवन पर एक दृष्टि डालता हुआ कवि आश्चर्य प्रकट करता है—

जातक अज्ञानी उत्पन्न होता है, अर्थात् लोक तथा वेदज्ञान से शून्य उत्पन्न होता है। वह पुनः होरा-दिन-मास-वर्षानुक्रम से शरीर से बलिष्ठ होता हुआ, नाना प्रकार के गुणों की प्राप्ति के लिये, गुरुजनों की अपनी शक्तिभर बहुत समय तक सेवा-शुश्रूषा से शास्त्रों को शीघ्र ही स्मरण तथा आत्मसात् करके, नाना शास्त्रों के ज्ञान से ऊहा-उपोहा से युक्त हो नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान को वाणी द्वारा कहता है—प्रकाशित करता है—प्रचारित करता है। वह ज्ञानसंपन्न जातक युवा हुआ-हुआ यशस्वी होकर सभाओं में जाता है। और उन सभाओं में अपने प्रौढ तर्कों से खण्डनीय सिद्धान्तों का खण्डन करता हुआ विचारता है—'मैं अब इस विश्व में विचरने घूमने-फिरने के योग्य हूं। मुझे पराजित करने की कौन शक्ति रखता है?' इस प्रकार प्रौढ=परिपक्व ज्ञानी सत्याग्रही जो कि क्रमशः साठ वर्ष से भी ऊपर आयु वाला हो चुका है उसको हा! शोक!! महा शोक!!! अन्तकृत् मृत्यु झटिति ही मार देती है, तो कवि सत्यदेव कहता है कि मैं तो इस मृत्यु के कर्म को विधि की कल्पना ही मानता हूं। क्योंकि जब ज्ञानी विश्व के

योग्योऽहं भुवनेऽधुना विचरितुं, मां कः क्षमो धर्षणे,
इत्थं प्रौढमतिं तु सत्यपथिकं, षष्ठ्युत्तरं चायुषा ।
सन्तं ह्यन्तकरो निहन्ति तरसा, मन्ये विधेर्वञ्चनम्,
एवं सत्यपि नैव जागृतिमियात्, मत्तस्य सक्तं मनः ॥७१॥



चतुर्थाध्यायस्य 'सन्मित्राश्रयीयः' द्वितीयः पादः

मित्रमधिकृत्य—

मित्राणि कुर्यान् मनुजो बहूनि, क्वचित् सहायेन समेति धैर्यम् ।
यथाऽऽप्लवे संप्लवमान आर्त्तस्तृणाश्रयेणापि तटं समेति ॥१॥

उदार-वृत्तानि भवन्ति लोके, मित्राण्यभिन्नानि गुणान्वितानि ।
तस्मान्नराः सभ्यतमानि नित्यं, वाञ्छन्ति मित्राणि विपत्स्थिराणि ॥२

परीक्षकाः सम्प्रवदन्ति लोके, मित्रं प्रियास्यं हित-युक्त-वाचम् ।
यदापदाभिश्च परास्यमानं, नरं समुद्धर्त्तुमिह क्षमं स्यात् ॥३॥

सत्यासत्य कर्म-विकर्म योग्य-अयोग्य को समझकर विश्व में रहने योग्य होता है, तब मृत्यु उसको ठग लेती है । ऐसा होने पर भी परम आश्चर्य तब होता है, जब यह जानते हुए भी कि सबने मरना है, संसार में सक्त प्रमादी मनुष्य के मन में ज्ञान का उदय नहीं होता, अर्थात् वह लोक-सग्रह में ही लगा रहता है ॥७०-७१॥



मित्र को लक्ष्य करके कवि कहता है—

मनुष्य अपने जीवन में अनेक मित्र बनाये । क्योंकि कभी किसी भी मित्र की सहायता से विपत्ति में धैर्य प्राप्त हो सकता है । जैसे डूबता हुआ दुःखी मनुष्य तिनके के सहारे से ही तट को प्राप्त कर लेता है ॥१॥

संसार में उदार विचारवाले, गुणवान् और भेदभावशून्य (अभिन्न-हृदय) मित्र होते हैं । इसलिये मनुष्य विपत्ति में स्थिर और सभ्य मित्रों की अभिलाषा करते हैं ॥२॥

परीक्षक लोग उसी को मित्र कहते हैं जो प्रसन्न-मुख हो, हित की ही बात कहनेवाला हो, तथा जो विपत्ति से पराभूत मित्र का उद्धार करने में समर्थ हो ॥३॥

[युग्मकम्]

सम्पत्सहायस्य[1] नरस्य लोके, भवन्ति मित्राणि सुखाशयानि।
सन्मित्रसादृश्यमिहाशु लोकान्, प्रख्यापयन्तः पुरतो भ्रमन्ति ॥४॥
हेयानि मित्राणि तु तादृशानि, मित्रब्रुवाण्येव यतो भवन्ति।
चाटुत्वसन्दर्शनजो विकारस्तेषां स्वभूत्यर्थमिहाभ्युपैति ॥५॥

१–सम्पत् सहाया यस्यासौ सम्पत्सहायो विभूतिमान्।

यस्येह मर्त्यस्य न मित्रमस्ति, धिग्जीवनं तस्य गत-प्रभस्य।
तस्माद् गुणाढ्यं विदधीत मित्रं, नरो हितार्थी बहुमानयुक्तम् ॥६॥
मित्रं विपत्तिं सहते दुरन्तामापद्गृहीतो व्यथते न किञ्चित्।
ददाति वक्ति प्रकरोति सर्वं, स्नेहातिरेकात् वृणुते मृतिं च ॥७॥
न चास्ति लोकाः! क्षणभङ्गुरत्वं. मैत्र्याः कदाचित् परमत्र दृष्टम्।
तावत्तु मित्रं कुटिलं न यावत्, कौटिल्य-युक्तोऽप्यनुजोऽनुजो वै ॥८॥

सम्पन्न मनुष्य के संसार में अनेक सुखार्थी मित्र बन जाते हैं। और समाज में कहते फिरते हैं कि वह हमारा मित्र है, वह हमारा आत्मीय है। किन्तु ऐसे मित्रों का त्याग कर देना चाहिये। वे मित्र नहीं हैं, अपितु मित्रम्मन्य (नाम के मित्र) हैं। और उनकी चाटुकारिता भी निज-स्वार्थ-पूर्ति के लिये ही है ॥४-५॥

जिस मनुष्य का कोई मित्र नहीं, उस हतप्रभ (निकम्मे) का जीवन भी धिक्कार का पात्र है। इसलिये हितार्थी मनुष्य गुणसम्पन्न तथा जिसका मान-सम्मान बहुत है, उसको मित्र बनावे ॥६॥

जो सच्चा मित्र होता है, वह अनन्त विपदाओं को सहन करता है। आपत्ति में पड़कर भी कभी दुःखित नहीं होता। अपने मित्र पर सङ्कट आने पर आवश्यक वस्तु देता है। उसके पक्ष में बोलता है, जो भी करने योग्य कार्य है वह करता है। यहां तक कि उसके प्रेमाधिक्य से मृत्यु का भी आलिङ्गन करने को सन्नद्ध रहता है ॥७॥

हे मनुष्यो! इस जगत् में मित्रता से अधिक क्षण-भंगुर वस्तु कोई नहीं देखी गई है। क्योंकि मित्रता तब तक ही जीवित है, जब तक हृदय में कुटिलता उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् अनेक वर्षों की एक दांत-रोटी की मित्रता हृदय में विकार आते ही खतम हो जाती है। परन्तु अन्य भ्रातृत्वादि सम्बन्ध

सम्बोधयेन्नैव कदापि लोके, विपत्सु सीदन्नपि दुर्वचोभिः ।
मित्रं विशुद्धं निज-जीव-तुल्यं, विद्यात् सदा देह-विभक्तमात्रम् ॥६॥

द्वैते विनष्टे नहि दुर्वचोऽस्ति, कौटिल्य-युक्ते च न मित्रशब्दः ।
पश्यन्ति रूपाणि यथाऽचले के[1], क्षुब्धे जले तानि न मित्रतैवम् ॥१०॥

१—कम्=जलं तस्मिन् के ।

समान-शील-व्यसनस्य सख्यं, मनःप्रसादं कुरुते न कस्य ?
स्वार्थातुरेणाचरितं सुहृत्त्वं, प्रवञ्चकं स्यात् क्षणभङ्गुरं वा ॥११॥

उपसंहरति—

पीडार्त्तस्य जनस्य जीवन-वने, सन्मित्रमेवाश्रयो,
दुःखाव्यामथ सुखवामपि दशां, कर्तुं च वागाश्रयाम् ।
सन्मित्रे हृदयं कृतं भगवता, मर्त्ये दयां कुर्वता,
नीचोच्चैरभिवक्ति योऽस्य पुरतो, यात्याप्य धैर्यं पदम् ॥१२॥

कुटिलता उत्पन्न हो जाने पर भी वैसे के वैसे ही बने रहते हैं, अर्थात् भाई-भाई ही रहता है । वह मेरा सहोदर नहीं, ऐसा नहीं कहा जाता है ॥८॥

संसार में विपत्तियों से खिन्न होने पर किसी भी समय मित्र को दुष्ट-वचनों से सम्बोधित न करे । मित्र की आत्मा को अपनी विशुद्ध आत्मा के समान समझे, केवल एक ही आत्मा दो शरीरों में बंटी हुई है, ऐसा जाने ॥६॥

जब द्वैत=पारस्परिक भेदभाव नष्ट हो गया, तो फिर दुर्वचन नहीं है (क्यों कि अपने आपको दुर्वचन कौन कहे ?)। और जहां कुटिलता है, वहां 'मित्र' शब्द भी उपयुक्त नहीं होता । जैसे निश्चल जल में स्वरूप-दर्शन होता है और चञ्चल (चलायमान) जल में नहीं, वैसे ही मित्रता में समझना चाहिये ॥१०॥

समान शील और समान व्यसन जिनका है, उनके साथ मैत्री किसको आनन्दित नहीं करती ? अर्थात् सबको आनन्दित करती है । किन्तु स्वार्थ-वश की गई मित्रता या तो धोखा देनेवाली होती है, अथवा क्षण-भंगुर होती है ॥११॥

उपसंहार—

दुःखी मनुष्य के जीवनरूपी वन में सन्मित्र ही एकमात्र सहारा है । जिसको प्राप्त करके दुःखी अपने दुःख की अथवा सुख की दशा (गाथा=अवस्था) को सुनाने के लिये उत्साहित होता है । भगवान् ने मनुष्य पर दया

वस्त्रमधिकृत्य—

न चोद्धतं वाससमाददीत, मलान्वितं नापि जरोपरूढम् ।
वृद्धा विधिज्ञा बहुशो जनं तं, निन्दन्ति नन्दन्ति न सत्समाजे ॥१३॥
यथा प्रदिष्टं स्वकुलानुरूपं, मानाऽनुकूलं बुधसम्मतं वा ।
तथा पवित्रं मनुजो मनस्यं, वासः शुभं यद् भुवि धारयेत्तत् ॥१४॥
ह्रिया विहीनस्तदिहाचरेन्ना, यद् युक्तियुक्तं हि भवेत् प्रयुक्तम् ।
युक्त्यर्थहीनं तु नरः प्रगृह्णन्, नूनं भवत्येव स हास्य-पात्रम् ॥१५॥
कायः परो जन्मवतोऽत्र वासः, प्रदिश्यते विज्ञजनैः सदातः ।
त्यागं च संगं कुरुते यतो ना, निरन्तरं देहमिवैव[1] तस्य ॥१६॥

१—उक्तं च गीतायामपि—'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' इत्यादि ।

यथेन्द्रियाणां विषयाः प्रदिष्टाः, तथैव वासो विषयस्त्वचस्तु ।
न तत्र सक्तिं विदधीत मोहान्नराः प्रनष्टा धन-यौवनाभ्याम् ॥१७॥

करते हुए सन्मित्र में ऐसा हृदय रखा है, जिसके आगे अपने ऊंच-नीच=वाच्य-अवाच्य प्रकाश्य-गोप्य भावों को कहता है। जिसके सुझाव के अनन्तर वक्ता धैर्य प्राप्त करके लौट जाता है। सारांश यह है कि अभिन्न-हृदय मित्र के विना दुःखी अपने दुःख-सुख को किसी के भी आगे सुनाने को प्रस्तुत नहीं होता ॥१२॥

वस्त्र के सम्बन्ध में कवि कहता है—

मनुष्य उद्धत अथवा उन्मत्त की भांति मैले-कुचैले वा फटे पुराने वस्त्र धारण नहीं करे। क्योंकि उससे वृद्ध और गुणिजन उसकी निन्दा करते हैं, तथा साधुजनों के समाज में प्रतिष्ठा नहीं होती ॥१३॥

जिस को अपने कुल के अनुरूप, मान के अनुकूल, विद्वानों से सम्मत, पवित्र, मन को प्रफुल्लित करनेवाला कहते हैं, वैसा शुभ वस्त्र मनुष्य धारण करे ॥१४॥

लज्जा त्यागकर जो युक्तियुक्त विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त कर्म हो, उसको मनुष्य निर्भय होकर करे। क्योंकि जो संसार में युक्ति और अर्थ रहित=निन्द्य है, उस कर्म को करनेवाला मनुष्य हंसी का पात्र बनता है ॥१५॥

विज्ञजनों के द्वारा सदा से ही वस्त्र मनुष्य का दूसरा शरीर कहा गया है। क्योंकि मनुष्य जैसे इस पाञ्चभौतिक शरीर का यथासमय त्याग अथवा आदान करता है, वैसे ही वस्त्र का भी यथासमय त्याग अथवा ग्रहण करता है ॥१६॥

जैसे देखना, सुनना, सूंघना आदि इन्द्रियों के विषय कहे गये हैं, वैसे

वस्त्रेषु भूयः सचतो नरस्य, तेजः क्षयं यात्यतिसूक्ष्म-भावैः ।
सुखं स्वशक्तेर्व्यय एव निष्ठं, दन्त्यास्त्रमस्थिन स्वदते यथा श्वा ।।१८।।

तस्मात् सुमेधा न भजेत् प्रसक्ति, गात्राणि शीतोष्णत एव रक्षेत् ।
देहस्य रक्षैव पटस्य कर्म, तत्सक्तचेताश्च्यवते स्वमार्गात् ।।१९।।

क्वचित् प्रसक्ति भजते मृदुत्वात्, क्वचित्तु रागादथ चैत्रक्याद् वा ।
क्वचित् प्रसक्ति युगपत् समीक्ष्य, यथा शिखां दीपभवां पतङ्गाः ।।२०।।

सत्याग्रही सत्य-विशुद्ध-चेतास्तद्देश-सम्भूत-पटं वसीत ।
स्वां केवलं तर्पयितुं त्वच नो[1], सक्तश्च वस्त्रेषु भवेत् स दीनः ।।२१।।

१—नो अत्र निषेधार्थे ।

ही त्वगिन्द्रिय का वस्त्र विषय है । अतः मोहवश वस्त्राभूषणों में आसक्त न बने । क्योंकि वस्त्राभूषणों में आसक्त जन अपने धन तथा यौवन को गवा बैठते हैं ।।१७।।

वस्त्रों के परिधान में आसक्त मनुष्य के तेज=शक्ति का नाश अतिसूक्ष्म-रूप=अप्रतर्क्य-रूप से हो जाता है । अर्थात् जैसे ही मनुष्य ने परिधृत सुन्दर वस्त्रों को देखकर 'अहा, हा' का अनुभव किया, वैसे ही शक्ति का क्षय हो गया । क्योंकि सुख तो अपनी ही शक्ति के व्यय में है । जैसे कुत्ता अपने ही दांतों के रक्त के आस्वादन में सुख अनुभव करता है ।।१८।।

अतः बुद्धिमान् मनुष्य वस्त्र में आसक्त न होवे । अपितु ठण्ढ और गर्मी से अपने शरीर के रक्षण के लिये उचित वस्त्र धारण करे । शरीर की रक्षा करना ही वस्त्र का कर्म है । जो उसमें आसक्त हो जाता है, वह अपने मार्ग से च्युत हो जाता है ।।१९।।

कहीं या कभी तो मनुष्य वस्त्र की कोमलता देखकर उसकी ओर खिचता है, और कहीं उस पर की गई चित्रकारी को देखकर उसकी ओर खिचता है । तथा कहीं दोनों अर्थात् वस्त्र की मृदुता और चित्रकारी को देखकर उसकी ओर खिचता है, जैसे पतङ्ग दीपक की लो पर आसक्त होते हैं ।।२०।।

सत्याग्रही को चाहिये कि वह सत्य से विशुद्ध अन्तःकरणवाला बनकर, सदैव अपने देश का बना हुआ वस्त्र अपने शरीर की रक्षा के लिये धारण करे । और कभी वस्त्रों में आसक्ति करके दीन न बने ।।२१।।

दीनस्य हृत्स्थं च्यवतेऽथ तेजः, तेजो-विहीनस्य न धैर्यमस्ति ।
धैर्येण हीनो विषयार्पितात्मा, तथ्यं सुपथ्यं च जहाति मोहात् ।।२२।।

वस्त्रेण किं स्यादिति नैव वाच्यं, वस्त्रं नरं रूप-यशो-धनैश्च ।
संवर्ध्य संयोज्य करोति सभ्यं, सभा-समाजेषु यथा सुवाणी ।।२३।।

उपसंहरति—

जीर्णं शीर्णमथापि कच्चरपटं नो नाऽऽत्मविद् धारयेत्,
शुद्धं यत्तु मनः-प्रसाद-जनकं कार्योचितं वा भवेत् ।
तेनाभूष्य वपुः सभां विजयते स्वीयन्ति[1] तञ्चामरा;
आधि-व्याधि-जराः स्पृशन्ति न च तं जीवेत्समानां शतम् ।।२४।।

१—स्वीयन्ति=स्वं कुर्वन्ति,स्वमिवाचरन्तीति वा ।



चतुर्थाध्यायस्य 'आप्तविद्यीयः' तृतीयः पादः

विद्यार्थी—

[1]तदात्व-शङ्कामुक आत्ममानी, विद्याभिलाषी परिहेय एव ।
समान-कालं वहतावमू नो, विद्या पृथक् शर्मपदं च भिन्नम् ।।१।।

१—तस्मिन् काले तदा, तस्य भावस्तदात्वम्, तदात्वे शंकामुक इति ।

दीन के हृदय में स्थित तेज क्षीण हो जाता है। तेजोहीन मनुष्य को धैर्य नहीं रहता । धैर्यहीन मनुष्य विषयी वन कर मोहवश तथ्य एवं सुपथ्य का भी परित्याग कर देता है ।।२२।।

'वस्त्र से क्या होता है' ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि वस्त्र ही मनुष्य को रूप और धन से युक्त करके सभाओं में तथा समाज में सभ्य एवं वाग्मी वनाता है ।।२३।।

जीर्ण-शीर्ण अथवा मैला वस्त्र बुद्धिमान् कभी धारण नहीं करे। अपितु जो वस्त्र शुद्ध हो, मन को आनन्दित करनेवाला हो, तथा समयानुकूल हो, उससे अपने शरीर को विभूषित करके मनुष्य सभा में विजय प्राप्त करता है। अमर=देव-जन उसको अपनाते हैं। आधि-व्याधि-जरा आदि उसका स्पर्श भी नहीं करते। तथा वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है ।।२४।।



विद्यार्थी—

यदि प्रारम्भ में ही सुखाभिलाषा और आत्माभिमान करे, तो वह

सूतो यथा वागुरिणाऽश्वयातिं, जानाति तद्वन्मनसः प्रवृत्त्या ।
विद्यार्थि-विद्यात्ममनोहितानि, ज्ञेयाद् गुरुः सोऽस्ति सदैव वन्द्यः ॥२॥

योऽज्ञस्य शिष्यस्य तमो हृदिस्थं, ज्ञानेद्धया दूरयते गुरुः सः ।
कीर्त्या च तं वृद्धसमं विधत्ते, यशोऽर्थभाक् सोऽस्ति न भूरिदम्भः ॥३॥

प्रसंगप्राप्तं गुरुं प्रति त्रिभिः पद्यैः—

शिष्याद् गुरुः शिष्यमसत्यबुद्धिं, सुधार्द्रहृत्पाणिवचोमनोभिः ।
हन्यान्न रज्ज्वा न च वेत्रयष्ट्या,न चाप्युपाह्ना न च शम्भुरन्ध्रे[1] ॥४॥

१—शिरसि शिवरन्ध्रस्य सद्भावात् तत्सन्नियोगेन शिरोऽत्र ग्राह्यम् ।

न ताडयेच्छोधधिया कदाचिन्न मर्मदेशे न हि चाङ्गतोडम्[1] ।
अतोऽन्यथा दण्डनिपातकस्य, सुखं यशोऽर्थश्च विनाशमेति ॥५॥

१—तुड तोडने (भ्वा. प.)

विद्यार्थी त्याज्य है । क्योंकि ये दोनों=सुख तथा विद्या-प्राप्ति विद्याभिलाषी को एक काल में प्राप्त होने असम्भव हैं । विद्या और सुख दोनों का स्थान पृथक्-पृथक् है ॥१॥

सूत=सारथी जिस प्रकार वल्गा=लगाम के द्वारा घोड़े की गति को पहचानता है, वैसे ही जो मन की प्रवृत्ति से विद्यार्थी के विद्या आत्मा मन तथा हित को जाने, वही गुरु सदैव वन्दनीय है ॥२॥

जो गुरु अज्ञ शिष्य के अज्ञानान्धकार को ज्ञान के प्रकाश से हटावे, वह गुरु कहलाने का अधिकारी है । तथा जो उस बाल-छात्र को विद्या-कीर्ति के द्वारा गुण-वृद्धों के समान कीर्त्य बना देता है, वही गुरु यहां यश एवं धन का भागी बनता है, न कि अनेक दम्भों अर्थात् वाह्य दिखावोंवाला ॥३॥

प्रसङ्गवश कवि गुरु के प्रति कहता है—

गुरु=अध्यापक को चाहिये कि असत्य-बुद्धि छात्र का सुधार करने के लिये अपने अमृतभरे हृदय हाथ वाणी एवं मन से छात्र का ताडन करे । रस्सी से न मारे, न बेंत से मारे । न जूतों से मारे,न जूतों को सिर में मारे । न सिर में साधारण रूप से भी मार मारे ॥४॥

गुरु को चाहिये कि छात्र को बदला लेने की बुद्धि से पाठ का या अन्य प्रकार का व्याज करके न मारे । न मर्म स्थान में मारे, न ऐसी मार मारे जो अङ्ग भङ्ग कर दे । यदि कोई अहम्मन्य गुरु इस प्रकार की मारें मारता है,तो उस अध्यापक का सुख यश तथा धन नष्ट हो जाता है ॥५॥

चुम्बन्ति ये कामवशेन बालान्, ये चापि तान् गूढमुपस्पृशन्ति ।
युञ्जन्ति ये निन्द्यपदानि शास्तौ, तेऽध्यापकाश्छात्रजनैर्न सेव्याः ॥६॥
प्रायेण छात्राः कुलतः समृद्धा, विद्यां न चिन्वन्ति धनस्य गर्वात् ।
ते वै वराका व्यसनं लभन्ते, विद्याविदो यान्ति यशो धनञ्च ॥७॥
तस्माद्विजित्यैव चलं मनः स्वं, विघ्नोपनोदं श्रमयेत् स्वशास्त्रे ।
आबालवृद्धं सुतरां प्रसिद्धिः, विद्यां रटन् वारि खनन्नुपैति ॥८॥
रारटचमानस्य नरस्य भूयानुत्त्रस्यते साधक-संज्ञि पित्तम्
वातादमज्जां व्युषितां जलेन, प्रातः समश्नन् पुनरेति शक्तिम् ॥९॥
रसं कषायं बहुशश्च तिक्तं, न स्वादु भूयांसमथापि मिष्टम् ।
हितं मितं कान्तिकरञ्च भोज्यं, संयम्य जिह्वां सुतरां जिघत्सेत् ॥१०॥
ऋषिप्रणीतेषु यतेत भूयो, ग्रन्थेष्वनार्षेषु वयो ह्रसेन्न ।
आर्षेषु विद्यातिशयः स्वभावाच्छेते यथाब्धौ किल रत्नराशिः ॥११॥

जो अध्यापक काम-बुद्धि से बालकों का चुम्बन लेते हैं, एवं जो उनका एकान्त में सेवन करते हैं, तथा जो अपने शासन=शिक्षाकाल में निन्द्यपदों =गालियों का प्रयोग करते हैं। छात्रों को चाहिये कि वे उन अध्यापकों को छोड़ दें ॥६॥

जो छात्र कुल और धन से समृद्ध हैं, वे प्रायः धन के गर्व से विद्याध्ययन में निपुण नहीं होते। अपि तु वे वेचारे [विद्यालयों में जाकर भी अपनी उपेक्षा-बुद्धि के कारण] व्यसनी वन जाते हैं। और यह तो स्पष्ट ही है कि विद्यावान् ही धन और यश को प्राप्त करते हैं ॥७॥

अतः चञ्चल मन को जीतकर, तथा विघ्नों को दूर करके छात्र स्वशास्त्र में श्रम करे। क्योंकि—'विद्या अभ्यास से आती है, और पानी खोदने पर मिलता है' यह कथन सर्वसाधारण में प्रचलित है ॥८॥

वार-वार रटने से छात्र का साधक नामक पित्त बहुत बढ़ जाता है। अतः बादाम की गिरी को रात्रि में भिगोकर प्रातः जल के साथ सेवन करके पित्तोद्रेक शमनपूर्वक मेधाशक्ति को फिर से प्राप्त कर लेता है ॥९॥

अधिक कषाय रस, अधिक तीखा, अधिक स्वादु तथा अधिक मिष्ट वस्तुएं विद्याभिलाषी न खावे। अपि तु जिह्वा पर नियन्त्रण रखकर हित और मित भोजन करने की इच्छा करे। जो भोजन शरीर-कान्ति एवं मेधा को बढ़ानेवाला हो ॥१०॥

विद्यार्थी को चाहिये कि वह निरन्तर पूज्य महर्षि-प्रणीत ग्रन्थों के

उत्तमसाधनसेवनमाचष्टे—

निःसाधनो ना सबलोऽपि हीयते, सत्साधनः सन्नबलोऽपि चीयते ।
उच्चैर्यियासुः पदमत्र निश्चितं, सेवेत सभ्यानि सुसाधनानि सः ॥१२॥

छात्र-दुर्गुणान् संक्षेपतः संगृह्णाति—

आलस्य-मोहौ मद-चापले वै, गोष्ठिश्च दर्पित्वमचेष्टता च ।
अत्यागिता छात्रजनैः [1]सदुक्ता, दोषा इमे सप्त सदैव हेयाः ॥१३॥

१—सद्भिरुक्ताः सदुक्ता इति ।

विस्तरेण गर्हितगुणांश्छात्रान् संगृह्णाति—

निरन्तरं भोजनमाप्तुकामाः, स्वाध्यायकाले बहुधा लपन्तः ।
निजोदरापूरणलग्न-चित्ताश्छात्रब्रुवा लोकममुं चरन्ति ॥१४॥

स्वल्पं पठित्वा बुधमानिनो ये, तथा हि भव्याशयवर्जिता ये ।
येऽध्यापकं मित्रवदाचरन्ति, छात्राधमास्ते परिवर्जनीयाः ॥१५॥

अध्ययन का प्रयत्न करे । तथा अनार्ष ग्रन्थों के पढ़ने में अपनी आयु क्षीण न करे । क्योंकि जैसे समुद्र में रत्न-राशि निहित हैं, वैसे ही आर्ष ग्रन्थों में वास्तविक ज्ञान निहित है ॥११॥

कवि उत्तम साधन सेवन का वर्णन करता है—

निःसाधन मनुष्य सबल होने पर भी कुछ नहीं कर सकता । एवं साधन-वाला निर्बल होने पर भी सब कार्य साध लेता है । अतः निश्चित उन्नत पद-प्राप्ति की अभिलाषावाला सभ्य एवं उत्तम साधनों का उपयोग करे ॥१२॥

छात्र के दुर्गुणों का संक्षेप में संग्रह करके कवि कहता है कि—

छात्रजनों को निश्चय ही आलस्य, मोह, मद, चपलता, और गोष्ठी करना, गोष्ठियों में अभिमान प्रकट करना, अकर्मण्यता तथा लोलुपवृत्ति=त्यागशीलता का न होना ये सात दोष सदैव छोड़ देने चाहियें ॥१३॥

कवि निन्दनीय गुणोंवाले छात्रों का विस्तृत वर्णन करते हैं कि—

सदा भोजन में अभिरुचि रखनेवाले, अध्ययन के समय व्यर्थ की बातें करनेवाले, अपनी उदरपूर्ति में एकचित्त लगे रहनेवाले, छात्रम्मन्य इस लोक में बहुत घूमते हैं ॥१४॥

थोड़ा-सा अध्ययन कर लेने पर अपने को पण्डित माननेवाले, उदार भावना से रहित, और जो अध्यापक के साथ मित्रतुल्य व्यवहार करते हैं, वे छात्राधम वर्जनीय हैं ॥१५॥

स्वाध्यायकाले निजमञ्जुकेशान्, वेषांश्च गन्धेन विलासयन्ति ।
वृथाकथाभिः समयं व्ययन्ते, विद्यार्थिनस्तेऽप्यथ निन्दनीयाः ॥१६॥
हास्यं मृषोक्तिं परदोषवीक्षां, गुरोश्च ये न्यक्करणं लषन्ति ।
सूर्योदये जाग्रति येऽसमिद्धा'स्ते चापि विद्याध्ययने न नेयाः ॥१७॥
१-असमिद्धास्त्यक्तसमिधाधानाः, अर्थात् आध्यात्मिककर्मपराङ्मुखाः ।
वृथाभिमानास्तपसो निरस्ता, ये चापि शृङ्गारविषक्तसत्त्वाः ।
धनस्पृहाः पाठविलुप्तसंज्ञा, ये तांस्तु वर्ज्यान् कवयो वदन्ति ॥१८॥
मद्यादिपाने पिशिताशने वा द्यूतेऽथ वादे वनितादिनृत्ये ।
विद्यार्थिनो दत्तधियस्तु ये स्युः, कुर्वन्ति नष्टं निजजीवनं ते ॥१९॥
विद्यास्वरूपं वर्णयति—
भवेददुष्टं सुखदं नराणां, ज्ञानं विशिष्टं तदिहात्र विद्या ।
पराऽपराभेदवशात् पृथक् सा, सदैव तस्मात् समुपासनीया ॥२०॥

जो स्वाध्याय के समय अपने मञ्जुल केशों और वेषों को तैल एवं इत्र आदि से सुगन्धित बनाते हैं, तथा व्यर्थ की बातें बनाकर अपना समय बिताते हैं, वे छात्र भी निन्दनीय हैं ॥१६॥

जो हास्य, झूठ बोलने, दूसरों के अवगुण देखने और अपने गुरु के अपमान की इच्छा रखते हैं, तथा जो आध्यात्मिक संध्या-हवन-जप आदि की उपेक्षा करके सूर्योदय होने पर जागते हैं, अर्थात् सूर्योदय तक सोते रहते हैं, वे छात्र भी विद्याध्ययन में ग्राह्य नहीं हैं ॥१७॥

जो झूठा दम्भ करनेवाले, तपस्या से विरत रहनेवाले, शृंगार करने में आसक्त चित्तवाले, लोभी और अध्ययन में ध्यान न देनेवाले छात्र हैं, वे भी विद्वानों के द्वारा वर्ज्य कहे गये हैं ॥१८॥

जो विद्यार्थी मद्यपान, मांसभक्षण, जूआ, वाद और वनिताओं के नृत्य में दत्त-चित्त होते हैं, वे अपने जीवन को नष्ट कर देते हैं ॥१९॥

विद्या के स्वरूप का वर्णन—

जिससे मनुष्यों को निर्दोष एवं सुखद विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो, वही ज्ञान विद्वानों के द्वारा 'विद्या' के नाम से कहा गया है। वह विद्या परा और अपरा नामक दो भेदोंवाली होती हैं। अतः सदा ही विद्या की उपासना करनी चाहिये ॥२०॥

उपसंहरति—

आत्मानं सततं नियम्य विविधाद् वेगात् क्षणध्वंसिनो,
विद्याऽन्तस्तलमेतु संयतधिया शास्त्रं निरग्रः स्मरेत् ।
श्रद्धा-सत्य-तपः-प्रपूतमभितश्चारित्र्यमुद्वर्धयन्,
संशुश्रूष्य गुरुं यशोऽधिकतमं प्राप्याप्तविद्यो भवेत् ॥२१॥

सत्याग्रहिभिर्वर्ज्यंभावानुपदिशति—

सत्याग्रही सत्यविधूतसत्त्वो, लक्ष्यं विलिप्सुः परिहर्तुमिच्छेत् ।
प्राज्ञेतरैः साधितसख्यभावं, तथाऽलसैः सूचनतत्परैश्च ॥२२॥

वाक्यं च यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः[1], प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलभाषी, शिष्यः स हेयो गुरुणा तदैव[2] ॥२३॥

१—शासितुमर्हः । २—तस्मिन्नेव काल इति ।

सङ्क्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं, मिथ्यापरं चास्थिर-भक्तिकञ्च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं च, नयंस्तु नेता स्वदले लघुः स्यात् ॥२४॥

उपसंहार में कवि कहता है कि—

उपर्युक्त कारणों को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को चाहिये कि वह क्षणिक एवं नश्वर विविध आवेगों से अपने आपको सतत नियन्त्रित कर, संयत बुद्धि से विद्या के अन्तस्तल तक पहुंचे । और समग्र शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करे । तथा श्रद्धा सत्य एवं तपस्या से परिपूत सार्वत्रिक चारित्र्य को उन्नत बनाता हुआ, गुरु की सेवा करके अधिकतम यश को प्राप्तकर आप्तविद्य बने ॥२१॥

निम्नलिखित चार पद्यों से सत्याग्रहियों द्वारा वर्ज्य भावों को बतलाते हैं—

अपने लक्ष्य की सिद्धि चाहनेवाला, तथा सत्य से जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है, ऐसा सत्याग्रही चुगलखोर, आलसी और मूढजनों से साधे गये मैत्रीभाव को दूर करने की चेष्टा करे ॥२२॥

जो शिष्य आज्ञा का पालन नहीं करता, किसी प्रकार का आदेश करने पर उसका प्रतिवाद करता है, और जो पण्डितमानी एवं प्रतिकूलभाषी है, वह शिष्य उसी समय गुरु द्वारा त्याज्य है ॥२३॥

इसी प्रकार नेता अपने दल में कठोरकर्मी, अतिप्रमादी, मिथ्यावादी, अस्थिर भक्तिवाले, ईर्ष्यालु एवं पटुमानी व्यक्ति का समावेश करके लघुता का

लुब्धाः सूचक-पापवृत्त-वचना ग्राम्योपहासाश्च ये,
धूर्ताः शत्रुजनोपसेवनरता हिंस्राश्च्युता धर्मतः।
वृद्धिं वीक्ष्य परस्य तप्तहृदया निन्दारताः सर्वदा,
नैतान् मा कलहप्रियांश्च मनुजान् सेवेत धर्मार्थ-धीः ॥२५॥

प्रशंसास्पदानाधेय-गुणान् प्रदर्शयति—

सत्पथं दीपयन्त्येते, प्रज्ञा वंशो दमः श्रुतम्।
विक्रमो मितभाषित्वं, वृद्धवाक्यसमादरः ॥२६॥

अपृष्टः परवार्त्तासु, ब्रूते यः स्वल्प-धीर्नरः।
आत्म-हानिमसम्मानं, लभते च विडम्बनाम् ॥२७॥

न ब्रूते परुषं वाक्यं, न ब्रूते मर्म-पीडकम्।
हितं मितं प्रियं वक्ति, स भवेल्लोकवल्लभः ॥२८॥

अप्रियं हित-संस्पृष्टं, हितेच्छुः परुषं वचः।
ब्रुवन्नपि यशोऽभ्येति, तज्जयं चेहते जगत् ॥२९॥

भागी बनता है—अर्थात् ऐसे व्यक्ति को दल में लेने से नेता का भी पतन हो जाता है ॥२४॥

धार्मिक अभिरुचि वाले मनुष्य को चाहिये कि वह लोभी, चुगलखोर, दुश्चरित्रवादी, ग्राम्य उपहास करने वाले, धूर्त, शत्रुओं के सहयोगी, हिंसक, धर्मभ्रष्ट, दूसरों की उन्नति पर जलनेवाले, सदा निन्दा में तत्पर और कलह-प्रिय मनुष्यों के सहवास में न रहे ॥२५॥

प्रशंसनीय एवं धारण करने योग्य गुणों को दिखलाते हैं—

प्रज्ञा, वंश, इन्द्रियों का संयम, शास्त्रीय ज्ञान, शुभ कार्य में पराक्रम, मितभाषिता और वृद्धों के वचनों का आदर ये सज्जनों के मार्ग को दीप्त करते हैं ॥२६॥

जो मन्दबुद्धि मनुष्य बिना पूछे दूसरों के वार्तालाप में बोलता है, वह आत्महानि, अनादर और विडम्बना को प्राप्त करता है ॥२७॥

जो मनुष्य कठोर अथवा कटुवचन नहीं कहता, न किसी को मर्मभेदी बोल बोलता है, अपितु हितकारक, सीमित एवं प्रिय वचन ही कहता है, वह लोकप्रिय हो जाता है ॥२८॥

जिसमें भलाई छिपी हो, ऐसी अप्रिय और कठोर वाणी को कह कर भी हितेच्छु मनुष्य यश का भागी होता है। और जगत् उसकी विजय-कामना करता है ॥२९॥

अपृष्टो यः प्रियं वक्ति, मित्रं चापदि सम्पदि ।
नेहते तत्पराभूतिं, 'हितैषी' स किलोच्यते ।।३०।।

विपत्तौ जुह्वति प्राणान्, त्रायन्ते विपदो जगत् ।
आत्मानं न विधित्सन्तो, भाष्यन्तेऽत्र हितैषिणः ।।३१।।

केचित प्रीतिकरं वाक्यं, केचिदुद्वेगकारकम् ।
ब्रुवन्ति भज रोषं मा, यतो बुद्धिस्त्रिधा[1] मता ।।३२।।

१—सत्त्व-रजस्तमोभेदैरिति—

धनुष्मता शरो मुक्तः, केवलं लक्ष्य-भेदकः ।
वागिषुः श्रुतिमार्गेण, मर्म विध्यति दारुणम् ।।३३।।

अदृश्याद्धनुषो बाणानदृश्यान् मुञ्च मा सखे !
क्षत-संहारकं वाक्यं, ब्रूहि लोक-वशीकरम् ।।३४।।

यस्माद् बिभ्यति भूतानि, मृग-व्याधान्मृगा इव ।
लोके धिग् जीवितं तस्य, तस्मान्नित्यं प्रियं चरेत् ।।३५।।

जो आपत्ति और सम्पत्ति (दोनों ही समयों) में मित्र को विना पूछे ही उचित वाक्य कहता है, तथा जो उसका पराभव कभी नहीं चाहता, वह निश्चय ही 'हितैषी' कहा जाता है ।।३०।।

जो विपत्ति में प्राणों की आहुति दे देते हैं, जगत को विपत्ति से छुड़ाते हैं, और अपने स्वार्थ की पूर्ति कभी नहीं चाहते, वे यहां 'हितैषी' कहलाते हैं ।।३१।।

कोई प्रियवचन बोलते हैं, तो कोई उद्वेग (क्षोभ) उत्पन्न कर देनेवाले वाक्य बोलते हैं । उन क्षोभकर वचनों को सुनकर गुस्सा मत कर, क्योंकि बुद्धि वात पित्त कफ इन तीन दोषों के कारण तीन प्रकार की होती है । अथवा सात्त्विक राजसिक और तामसिक मानी गई है, क्योंकि यह दोषों का कार्य है, वक्ता का नहीं । इसलिये श्रोता अपनी स्थिरता न गंवावे ।।३२।।

धनुर्धर के द्वारा छोड़ा गया वाण केवल लक्ष्य का ही भेद करता है । किन्तु वाणीरूपी वाण तो कानों के मार्ग से प्रविष्ट होकर हृदयमर्म को निर्दयता से बींध देता है ।।३३।।

अतः हे मित्र ! अदृश्य धनुष से अदृश्य वाण मत चला । अपि तु ऐसा वाक्य बोल कि जो घाव के भरनेवाला और लोक को वश में करनेवाला हो ।।३४।।

व्याध से जैसे मग डरते हैं, उसी प्रकार जिस मनुष्य से प्राणी डरते

धनाश्व-शस्त्र-नागेन्द्रैर्मल्लैरथ पदातिभि: ।
साफल्यं नाप्यते यत्र, तत्र बुद्धि प्रयोजयेत् ॥३६॥
तां बुद्धि लब्धुमर्हन्ति, सन्तस्तद्विद्य-संश्रयात् ।
सेवया प्रणिपातेन, प्रश्नेनाथ पुन: पुन: ॥३७॥
निपुणोऽपि यथा काक:, पिकेन परिवञ्च्यते ।
तथाऽतिकर्म कुर्वन्ना, वञ्च्यतेऽतीहया स्वया ॥३८॥
सम्मतेन स्वमर्यादा, नोल्लङ्घ्या विधिवर्जिता ।
प्राकृताश्छिद्रमासाद्य, नूनं कुर्वन्त्यधस्पदम् ॥३९॥
ऋताग्रहा वृद्ध-जनानुवर्तिनो, बुधोपदिष्टेन पथा प्रयान्ति ये ।
भवन्ति ते भव्यवच:प्रभाविनस्तरन्ति चैतं विपद: कदम्बम् ॥४०॥



हैं, उसका जीवन संसार में धिक्कार के योग्य है । अत: नित्य प्रिय उच्चारण करना चाहिये ॥३५॥

जहां अनेक अश्व, शस्त्र गजराज मल्ल=पहलवान और पैदल सेना से कार्य-सिद्धि नहीं होती, वहां बुद्धि का प्रयोग करें ॥३६॥

उपर्युक्त कार्य सिद्धि करानेवाली बुद्धि को सज्जन तज्ज्ञ विद्वानों के आश्रय से, सेवा से, प्रणिपात से और नैकविध प्रश्नों से प्राप्त कर सकते हैं ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार कौआ चतुर होने पर भी पिक के द्वारा ठगा जाता है, उसी प्रकार अतिक्रान्त कर्म करनेवाला मनुष्य अप्राप्य कामना करने से ठगा जाता है [लोक में यह प्रसिद्ध है कि कोकिला अपने गर्भजात शिशु को पालनार्थ कौए के घोंसले में रख देती है । और उसका वर्णसाम्य होने से काक-वधूटी अपना ही मान कर उसका पालन करती है । किन्तु बड़ा होने पर जब वह अपनी मधुर वाणी सुनाता है, तब ज्ञान होता हैं कि वह ठगी गई है ।] ॥३८॥

सत्पुरुष को अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए । क्योंकि विधिवर्जित प्राकृत=मूढजन छिद्र=सामान्य दोष को देखकर निश्चय ही उसको नीचे गिरा देते हैं ॥३९॥

वृद्धजनों का अनुवर्तन करनेवाले जो सत्याग्रही, बुधजनों से उपदिष्ट मार्ग पर चलते हैं, उनके भव्य वचनों का जनता पर प्रभाव पड़ता है । और वे आये हुए विपत्ति के समूह को पार कर जाते हैं ॥४०॥



चतुर्थाध्यायस्य 'धर्माभिधः' चतुर्थः पादः

अथ धर्मः—

अर्थाश्रिता लौकिक धर्मयोगास्तच्चार्जयेद् धर्मपथं प्रपन्नः ।
स्थिरायते सा चपलाऽपि लक्ष्मीः, स्थिरस्य धर्मस्य समास-योगात् ॥१॥

आत्मीयवर्गोऽपि रुजा न रुज्यते, सन्तप्यतेऽन्तःकरणं न तस्य ।
स्थिरायते सा चपलाऽपि लक्ष्मीः, पौत्रोत्तरांश्चापि समीक्षते सा ॥२॥

नूनं विपन्नोऽपि गिरीशभक्त्या, धर्मार्थकामाननुसंश्रयीत ।
स्थिरायते सा चपलाऽपि लक्ष्मी हिमायते वारि चलं यथैव[1] ॥ ३ ॥

१—अत्र पद्ये श्लेषालंकारः ।

नाभेरराणाञ्च यथाऽस्ति बन्धः, सनातनो यानकृते प्रसिद्धः ।
तथैव धर्मस्य च धर्मकर्तुः, सनातनं सख्यमुदीरयन्ति ॥४॥

धर्म और लौकिक कर्मयोग द्रव्य के आधीन है । इसलिये मनुष्य धर्ममार्ग पर चलता हुआ धन का संग्रह करे । क्योंकि स्थिर धर्म के सहयोग से चपल लक्ष्मी भी स्थिर रहती है ॥१॥

[यदि धर्म का आश्रय लिया जाये, तो] आत्मीय वर्ग कभी रोगी नहीं बनता, और न कभी उसका अन्तःकरण ही सन्तप्त होता है । साथ ही [धर्म के प्रभाव से] चपला भी लक्ष्मी स्थिर हो जाती है, और पौत्र-प्रपौत्रों तक वह अखण्ड-रूपेण चलती रहती है ॥२॥

विपन्न मनुष्य भी निश्चय ही गिरीश=भगवान् शङ्कर की भक्ति करता हुआ धर्म अर्थ और काम का आश्रय लेवे । क्योंकि [भगवदनुग्रह और धर्माराधन से] जैसे चञ्चल जल बर्फ के समान स्थिर हो जाता है, वैसे ही चपला लक्ष्मी भी स्थिर हो जाती है ॥

[दूसरा अर्थ—]

सांसारिक बाधाओं से सन्तप्त होने पर भी मनुष्य हिमालय जैसे पवित्र स्थान पर बैठकर आत्मचिन्तनपूर्वक धर्म अर्थ और काम का आश्रय ले= प्राप्त करे, तो चञ्चल जल तुल्य मन हिम के समान निश्चल, हिमालय-सा उन्नत, पवित्र उज्ज्वल और स्थिर हो जाता है ॥३॥

जैसे रथ के पहिये में मध्यनाभि और आरों का सम्बन्ध रथ के लिये सदा प्रसिद्ध है, वैसे ही धर्म और धर्मकर्त्ता की सनातन मैत्री विद्वज्जन बतलाते हैं ॥४॥

पिपीलिका खाद्यचयेऽप्रमत्ता, निरन्तरं यत्नशतानि युङ्क्ते ।
तथा नृभिर्धर्म-कथाः क्रियाश्च, श्रव्याः प्रचेयाः सततोत्थयत्नैः ॥५॥

सत्याग्रही सत्यपदं प्रपित्सुर्वेदान्त-सारं हृदि संस्मरंस्तु ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं विलुम्पेद् श्वसनस्य मोहात् ॥६॥

नित्यो धर्मः सौख्य-दुःखे त्वनित्ये, देही नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
हित्वाऽनित्यं प्रश्रयेन्नित्यमेव, यस्मान्नित्ये नित्यधर्मा रमेत ॥७॥

रथः सिनं नुः पुरुषो नियन्ता, खान्यश्व-तुल्यानि मनश्च रश्मिः ।
बुद्धिः प्रणेत्री विषयाश्च मार्गाः, सत्याग्रही संयमनाङ्कुशः स्यात् ॥८॥

१—शरीरमिति ।

प्रज्ञापराधाद् विपथे प्रयान्तं, त्यजन्ति वेदाः सुहृदाञ्च वाचः ।
यथा वने भ्रान्तपथं, त्यजन्ति, तस्यैव धामानि तरं तमेव ॥ ९ ॥

तथा चोक्तम्—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥

चींटी जिस प्रकार अपनी खाद्य-सामग्री के संग्रह करने के लिये अप्रमत्त बनकर दिनरात सैकड़ों यत्न करती है, वैसे ही मनुष्यों को चाहिये कि निरन्तर धर्म कथाएं सुनें, और प्रयत्नपूर्वक पुरुषार्थ करें ॥५॥

सत्य-पद को चाहनेवाला सत्याग्रही वेदान्तसार का हृदय में स्मरण करता हुआ, काम भय लोभ अथवा जीवन के मोह से भी कभी भी धर्म का लोप न करे ॥६॥

धर्म नित्य है, और सुख-दुःख अनित्य हैं । आत्मा नित्य है, और इसके हेतु अनित्य हैं । इसलिये अनित्य को छोड़कर नित्य का आश्रय लेवे । जिससे कि नित्य धर्मवाला जीव नित्य=परब्रह्म में रमण कर सके ॥७॥

मनुष्य का शरीर रथ है, उसका नियन्ता पुरुष है । इन्द्रियां घोड़ों के समान हैं, मन उनकी लगाम है । बुद्धि चलानेवाली है, और विषय मार्ग हैं । अतः सत्याग्रही उन पर संयम का अंकुश रखे ॥८॥

प्रज्ञापराधों के कारण कुमार्ग पर जानेवाले को वेद एवं मित्रों की उचित वाणी वैसे ही त्याग देती है, जैसे वन में भटके हुए मनुष्य को उसके ही घर आदि त्याग देते हैं ॥९॥

और कहा भी है कि—वह सभा ही नहीं कि जहां वृद्ध न हों । वे वृद्ध

तस्मात् सत्यं निश्छलं सेवनीयं व्याप्ताः सत्ये सर्वलोक-प्रचाराः ।
सत्याचर्यात् स्वर्गमापुर्मनुष्याः, सत्यं धर्मं पावनं दुश्चितीनाम् ॥१०॥

रूपं जरा हन्ति वदन्ति केचिद्, यूनः स्वरूपं तु मृषोक्तिरात्त ।
वृद्धाय रूपं प्रददाति सत्यं, सत्यं स्वरूपेण बिभर्ति लोकान् ॥११॥

क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा, कामो ह्रियं लाभपथं तु दर्पः ।
मृत्युस्तु प्राणानथ हन्तुमीशो[1], नालं तु सत्यं[2] विनिहन्तुमत्र ॥१२॥

१—अत्र प्रत्येकमीश इति सम्बध्यते । तद्यथा—क्रोधः श्रियं हन्तुमीश इत्यादि । २—अमरत्वं सत्यस्येति भावः ।

धर्म्यं विपश्चिद् यमुपैति मार्गं, लोकस्तमेवानुकरोति नूनम् ।
तस्माद्विजानन्न चरेद्विमार्गं, संरक्षितुं चाल्पधियां तु बोधम् ॥१३॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा, वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय धर्म्याम् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वाः, सत्याग्रही स्यादभयः सदैव ॥१४॥

ही नहीं कि जो धर्म-सम्मत न बोलें । वह धर्म ही नहीं कि जिसमें सत्य न हो और वह सत्य ही नहीं कि जो छलपूर्ण हो ।]

इसलिये निश्छल सत्य का सेवन करना चाहिये । संसार के सर्वविध प्रचार=व्यापार सत्य में ही व्याप्त हैं । मनुष्यों ने सत्य के आचरण से ही स्वर्ग को प्राप्त किया, और दुर्बुद्धियों=पापियों को पवित्र करनेवाला धर्म सत्य ही है ॥१०॥

'मनुष्य के रूप को जरा=बुढापा नष्ट कर देता है,' ऐसा कथन अज्ञानियों का है । क्योंकि रूप-यौवनसम्पन्न युवक के रूप को तो असत्य-भाषण खा जाता है । अर्थात् झूठ बोलने से सुरूप का रूप म्लान हो जाता है । जबकि नीरूप=निस्तेज वृद्ध सत्य के सहारे से दमदमा उठता है । इससे स्पष्ट है कि सत्य ने वृद्ध को रूप=तेज प्रदान किया । इसलिये सार यह है कि सत्य स्व रूप से सारे जगत् को रूपान्वित कर रहा है ॥११॥

क्रोध लक्ष्मी को, अनार्य सेवा शील को, काम लज्जा को, अभिमान आय के मार्ग को, और मृत्यु प्राणों को नष्ट करने में समर्थ हो सकती है, पर सत्य को मिटाने में कोई समर्थ नहीं हो सकता । अर्थात सत्य अजर अमर है॥१२॥

बुद्धिमान् जिस धर्मसम्मत मार्ग पर चलता है, समाज भी ठीक उसी का अनुकरण करता है । अतः अल्पबुद्धिवालों के ज्ञान की रक्षा के लिये कभी भी जान बूझ कर पण्डित कुमार्ग में प्रवृत्त न होवे ॥१३॥

इसलिये सत्याग्रही पुत्रों को उत्पन्न करके, उनको ऋणरहित बनाकर,

विहितमविहितं वा कुर्वता कृत्यजातं,
सकल-यतन-योगात् तत्फलं चिन्तनीयम् ।
अतिरभसकृतानां निश्चितेऽर्थेऽस्ति शङ्का,
तपति विविध-चिन्तरस्तत्फलान्तं प्रतीक्षी ॥१५॥

उपसंहरति—

कृत्याकृत्यविधौ सदा दश जना नालं विवेकाय वै,
लुब्धो भीत-बुभुक्षितौ त्वरितकृत् कामी भ्रमेणान्वितः ।
श्रान्तः क्रोधयुतः प्रमत्त-हृदयश्चोन्मत्त-भावाश्रयो,
ब्रह्मघ्नश्च ततोऽवलोक्य विकृतिं स्वान्तं न सञ्चालयेत् ॥१६॥



धर्म-सम्मत वृत्ति पर उनको नियुक्त करके, कुमारियों को सुयोग बना तथा उनकी भी आवश्यक पाणि-ग्रहणान्त क्रियाओं से निवृत्त होकर सदा के लिये निर्भय बने ॥१४॥

विहित और अविहित प्रत्येक कृत्य को करते हुए सभी प्रयत्नों से कर्म का फल चिन्तन करना चाहिये। क्योकि शीघ्रता से किये गये निश्चित कार्य में भी शङ्का बनी रहती है [कि देखें क्या बनता है न जाने ऐसा वा अन्यथा] अतः अन्तफल की प्रतीक्षा करनेवाला अनेकविध चिन्ताओं से सन्तप्त होता रहता है ॥१५॥

उपसंहार में कवि कहता है कि—

कृत्य और अकृत्य के विधान में लोभी, डरपोक, भूखा, शीघ्रकारी कामी, भ्रान्त, श्रान्त, क्रोधी, प्रमादी, उन्मत्त और ब्रह्मघ्न ये दस व्यक्ति विवेक-पूर्वक निर्णय नहीं दे सकते। अतः किसी भी कार्य में इनके द्वारा हुई विकृति देख कर चित्त को विचलित न करे ॥१६॥



अथ पञ्चमोऽध्यायः

तत्र 'सत्यविभूतिनामा' प्रथमः पादः

रजस्तमोभ्यां तु मनोऽनुबद्धं, विहाय सत्यं भजतेऽनृतं तत् ।
स्वभावतो निम्नपथाभिसारि, मनस्तथा वारि यथैत्यधोऽधः ॥१॥

रजस्तमोभ्यां तु मनोऽनुबद्धं, ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः ।
गति-प्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं, मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥२॥

गोलार्धनाम्ना हि दिनं निशा च, हृन्निष्ठयोः सत्यमसत्यमाख्ये ।
रजस्तमोभ्यां तु मनोऽनुबद्धं, सत्यं विहायान्धतमस्त्वमेति ॥३॥

सत्वं हि सत्यं, नहि तत्र दोषः, सत्वे स्थितं शुद्धमुशन्ति सन्तः ।
पुनः पुनस्तज्जप-दान-यज्ञैः, सत्वायते [1]वर्षगणैरनेकैः ॥४॥

१—वर्षगणः=एकं जन्म यावत् ।

जैसे जल स्वभाव से ही निम्न मार्ग का अनुसरण करनेवाला है, वैसे ही मन भी निम्न मार्गगामी है। और वह मन अपने रजस् एवं तमस् दोषों से बंधकर सत्य को छोड़ झूठ का, अथवा असत्यमिश्रित सत्य का सहारा लेता है ॥१॥

सत्वगुण बहुल ज्ञान के बिना रजोगुण और तमोगुण से बंधा हुआ मन सब प्रज्ञापराधों का अधिष्ठान है। इसलिये सदोष मन तथा ऐहलौकिक कर्म वा पूर्व जन्म का बलवान् कर्म ही जीव की सद्गति अथवा दुर्गति की प्राप्ति में तथा उत्तम वा निकृष्ट कर्मों की ओर प्रवृत्त करने में निमित्त कहा गया है ॥२॥

इस भूगोलार्ध का नाम दिन और रात है। हृदयस्थ सत्य का नाम दिन और असत्य का नाम रात्रि है। रजोगुण और तमोगुण से युक्त होकर मन सत्य रूपी दिन को छोड़ कर अन्धतमस्=असत्य रूपी रात्रि का आश्रय ग्रहण करता है, अर्थात् श्रेयोमार्ग को छोड़ प्रेयमार्ग की ओर झुक जाता है ॥३॥

सत्य निश्चय ही सत्वगुणयुक्त है, क्योंकि इस सत्वगुण में कोई दोष नहीं है। जो सत्व में स्थित है, उस ही को विद्वान् शुद्ध कहते हैं। अतः उस सत्य के बार-बार जप, दान और यज्ञ से अनेक जन्मों के पश्चात् मन सात्त्विक बनता है ॥४॥

सत्यं '१विरूपं सदसत्सु गूढं, सत्यस्तमावन्' क्षपयत्यसत्यम् ।
तथा यथा क्षीरनिगूढतोयं, हंसोऽश्नुते व्यज्य पयो न चाम्बु ॥५॥

१-सत्यं विगतरूपमस्ति, अर्थात् लोष्ठपिण्डवत् सत्यस्य रूप न केनापि दर्शयितुं शक्यते, इति कृत्वोक्तं—सत्यं विरूपमिति ।

२-आ+अवन्=आवन्, अभितो रक्षन्, अभितः प्राप्नुवन्नभितस्तेजोमद्भवन् ।

'अंहो हन्ति, ज्ञानवृद्धिं विधत्ते, धर्मं धत्ते, काममर्थञ्च सूते ।
मुक्तिं दत्ते, सर्वदोपास्यमानं, सत्यं नूनं सत्यभावप्रयुक्तम्' ॥६॥

१-शालिनी वृत्तम् ।

नक्तन्दिनं स्मरतु सत्यपदं पवित्रं,
व्यात्ताननोऽन्तकर एष पुरः स्थितोऽस्ति ।
बालो यति-र्गृहपतिर्महतां पतिर्वा,
सत्ये निधाय मन एति महेशधाम ॥७॥

हा हन्त ! सत्यपदवीं परिहाय मोहाद्,
दम्भैरनेकविधकैरपि वर्त्तमानः ।
जन्मान्तराध्युषित-कर्म-विपाक-बन्धं,
कामं वहन्नपि नरो भजने न सत्यम् ॥८॥

जिस प्रकार हंस दूध में छिपे हुये पानी को पृथक् करके दूध पी जाता है और पानी छोड़ देता है, वैसे ही सत्यार्थी, जिसका मृत्पिण्ड के समान कोई रूप नहीं है, और जो नश्वर तथा अनश्वर दोनों रूपों में व्याप्त है, उस सत्य की रक्षा प्राप्ति और अभिलाषा करता है। एवं असत्य=पाप को दूर भगाता है ॥ ५ ॥

सच्चे भाव से प्रयुक्त सत्य पाप का नाश करता है। ज्ञान को बढ़ाता है, धर्म का पोषण करता है। काम एवं अर्थ को उत्पन्न करता है, और निरन्तर उपासना करने पर मुक्ति को देता है ॥ ६ ॥

हे मनुष्य ! यह काल-यमराज अपना मुख फाड़े हुए तेरे सामने खड़ा है। इसलिये तू दिन रात पवित्र सत्यपद का स्मरण=ध्यान कर। क्योंकि बालक, यति, गृहस्थी, राजा अथवा कोई भी हो, वह अपने मन को इस सत्य में लगाकर ही सर्वोत्तम महेश-धाम=स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

बड़े खेद की बात है कि मनुष्य मोहवश सत्य के मार्ग को छोड़ कर

मृत्योर्मुखं प्रपतितो नर आयुरर्थी,
नाप्नोति जीवनमसौ धन-भू-प्रदानैः ।
लोकाः ! स्मरन्तु किमतः परमत्र दुःखं,
प्रेयोऽर्जने व्ययितमेतदलभ्यमायुः ॥९॥

सत्याग्रहं भज सदा त्यज लोकवादं,
सेवस्व शास्त्र-निपुणं त्यज मूर्ख-सङ्गम् ।
दोषान् विविच्य मनसो[1] वपुषश्च[2] नित्यं,
नम्रत्वमात्मनि निधाय रमस्व लोके ॥१०॥

१—मान-द्वेषादयः । २—रोगाः ।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते,
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतत्यनुमृत्यु यावत्,
सत्याग्रहाय, विषयाः खलु सर्वयोन्याम् ॥११॥

अनेक प्रकार के दम्भ करता हुआ भी, जन्म-जन्मान्तर के कर्म-विपाक के बन्धन को अहरह पूर्णरूपेण वहन करता हुआ भी मूर्खतावश उसको सुख मानता है, परन्तु सत्य का आश्रय नहीं लेता ॥ ८ ॥

मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ दीर्घायु का इच्छुक मनुष्य धन भूमि अथवा उत्कृष्टदान के आश्रय से दीर्घायु प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् तात्कालिक धनदान भूदान, गोदान, अथवा अन्य प्रकार के दान मृत्यु के टालने में असमर्थ होते हैं। अतः हे मनुष्यो ! कुछ विचार करो कि इस अलभ्य आयु को धन भूमि आदि प्रिय वस्तुओं के अर्जन में ही बिता दिया। और अन्त समय के परिरक्षक श्रेयोमार्ग का अवलम्बन नहीं किया। इस से बढ़कर दुःख की बात क्या हो सकती है ? ॥ ९ ॥

हे मानव ! सदा सत्य में आग्रह कर, लोकवाद छोड़ दे। शास्त्रज्ञ विद्वान् की सेवा कर, मूर्ख की संगति मत कर । मन के मान-द्वेषादि तथा शरीर के रोगादि दोषों का विवेचन करके अपने में नम्रता प्रतिष्ठापित कर, और पश्चात् विश्व में विचर ॥ १० ॥

धीर व्यक्ति अनेक जन्मों के पश्चात् सुदुर्लभ इस सारभूत अनित्य भी मनुष्य-जन्म को पाकर मृत्यु के मुख में गिरने से पूर्व ही सत्याग्रह के लिये यत्न करे। क्योंकि विषय=पंचेन्द्रियसुख तो अन्य योनियों में भी प्राप्य है, पर सत्य तो इसी जन्म के लिये है ॥ ११ ॥

सत्ये रताः सत्यमनुस्मरन्ति, रात्रौ च सत्यं पुनरुत्थिता ये ।
ते सत्यनिष्ठाः प्रविशन्ति सत्ये, हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे ॥१२॥

ये मानवा विगतरागपरावरज्ञाः, सत्याग्रहं गुणनिधिं सततं चरन्ति ।
सत्याग्रहेण परिपूतमनोविकारा, नैवाधिशेरत इदं जठरं जनन्याः ॥१३॥

कायेऽस्थि-मांस-रुधिरेऽभिमतिं विमुञ्च, ऽ: ?
जाया-सुतादिषु मृषा ममतामपेहि[1] ।
पश्यानिशं जगदिदं परिवृत्तिशीलं,
तस्मादृताप्ति-नियतो भव सत्यनिष्ठ ! ॥१४॥

१–अपेहि अपगमय, अन्तर्भावितण्यर्थः ।

नो चेद् यियासा निरयाब्धितोये, सत्यं प्रयत्नाद् हृदि धारयैकम् ।
पापाब्धितस्तारकमत्र सत्यादन्यं न पश्यामि, 'कविर्यतस्तत् ॥१५॥

१–'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' यजुः ४०।८ इत्यादिश्रुतिर्लिंगाद् ब्रह्मैव सत्यम् ।

सम्पत्तिलाभे सुवचं महद्वचो, विपत्तिलाभे सुवचं च सद्वचः ।
मृतेर्विभीतावपि सद्वचोब्रुवा, भवन्ति सत्याग्रहवन्त आर्याः ॥१६॥

जैसे मन्त्रोच्चारण-पूर्वक आहुति में दिया गया हविष्य अग्नि में लीन होता है, वैसे ही जो सत्यनिष्ठ सदा सत्य में रत रहते हैं, तथा सोते-जागते अहर्निश सत्य का ही स्मरण करते हैं, वे सत्य में ही लीन होते हैं ॥ १२ ॥

जो मनुष्य रोग-द्वेष के ओर-छोर से परे रह कर नित्य गुणों के सागर-रूप सत्याग्रह को करते हैं। वे सत्याग्रह के कारण मनोविकार से रहित होकर पुनः माता के गर्भ में नहीं आते । अर्थात् उनकी मुक्ति हो जाती है ॥ १३ ॥

हे सत्यनिष्ठ ! हाड मांस और रक्त से पूर्ण इस देह का अभिमान छोड़ दे। पत्नी और पुत्रादि की झूठी ममता का त्याग कर। और देख, यह संसार नित्य परिवर्तनशील है। इसलिये सदैव सत्यप्राप्ति का अभिलाषी बन ॥ १४ ॥

हे मित्र ! यदि नरकरूपी समुद्र में डूबने की इच्छा न हो, तो प्रयत्न-पूर्वक एक सत्य को ही हृदय में धारण कर। क्योंकि पाप-समुद्र से पार करने-वाला इस संसार में सत्य के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई नहीं दिखता। केवल यह सत्य ही कवि, मनीषी, सर्वत्र व्यापक, स्वयम्भू ब्रह्म है ॥ १५ ॥

सम्पत्ति मिलने पर सत्य बोलना सुगम है, और विपत्ति आजाने पर भी सच्ची बात कहना सरल हो सकता है। किन्तु मृत्यु का भय आने पर भी सत्य बोलनेवाले तो श्रेष्ठ सत्याग्रही ही होते हैं [अन्य नहीं] ॥ १६ ॥

अनृत-वचन-लिप्ते काम-रोषादि-सिक्ते,
विषय-भुजग-कीर्णे मोहके काञ्चनादौ ।
विमल-सुखद-रूपं सत्यदेवस्य वाञ्छन्,
न वहति खलु चेतः सत्यरूपं विषक्तः ॥१७॥

भक्तिः स्थिरा विगत-दम्भ-भयादिका चेत्,
सत्ये विशुद्ध-सुखदे परमार्थ-तत्त्वे ।
मुक्तिः स्वयं हि समियाद् धृत-दास्यभावा,
धर्मार्थ-काम-गतयश्च भवन्ति दास्यः ॥१८॥

शृण्वन्नृताग्रह-कथा गुण-कीर्त्तनानि,
सत्त्वे न यस्य दृढता रिपुहाऽऽत्मदीप्तिः ।
जागर्त्ति नो विविध-युग्म[1]-सहिष्णुता च,
धिक्कर्तुमर्हमिह जीवनमस्य पुंसः ॥१९॥

१—युग्मशब्दो द्वन्द्वपर्यायः ।

पुण्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन, सत्याप्तये किल यदा यततेऽत्र धीरः ।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारा, नश्यन्ति तस्य हृदयाल्लभते च शर्म ॥२०

झूठे वचनों में लिप्त, काम-क्रोध से युक्त. तथा विषय-वासनारूपी सर्प से ग्रस्त, एवं मन को लुभानेवाले काञ्चन और कामिनी में निर्भय सुखदायी सत्यदेव का रूप देखने की इच्छावाला मन निर्मल सत्य के स्वरूप को नहीं पा सकता ॥ १७ ॥

विशुद्ध, सुखद और परमार्थतत्त्वरूप सत्य के प्रति यदि दम्भ-भयादि से रहित स्थिर भक्ति हो, तो मुक्ति दास्यभाव को धारणकर स्वयं उसके पास उपस्थित होती है। तथा धर्म अर्थ और कामादि गतियां उसकी दासियां बन जाती हैं ॥ १८ ॥

सत्याग्रह की कथा और गुण-कीर्त्तन को सुनते हुए जिसके सात्त्विक मन में सत्य के प्रति दृढता न हो, और शत्रुनाशिनी आत्मदीप्ति एवं विविध द्वन्द्व सहन करने की शक्ति जागरित न हो, उस मनुष्य का जीवन इस संसार में धिक्कार के योग्य है ॥ १९ ॥

अनेक जन्मों से अर्जित पुण्योदय से जब धीर व्यक्ति सत्यप्राप्ति के लिये ही यहां यत्न करता है, तब अज्ञानवश किये गये मोह-मद-मात्सर्यादि उसके हृदय से नष्ट हो जाते हैं, और वह कल्याण का भागी बनता है ॥ २० ॥

केचिद् वदन्ति धन-हीन-जनो जघन्यः,
केजिद् वदन्ति गुण-हीन-जनो जघन्यः।
आनन्तरामि[1]रसकृन्मतमेतदीत्ते,
सत्याग्रहेण रहितः पुरुषो जघन्यः ॥२१॥

१—आनन्तरामिः कविः सत्यदेवो वासिष्ठः प्रबन्धलेखकः।

हृष्यन्ति लोक-विभवाप्तधियस्तु मध्याः,
क्लिश्यन्ति भाग्यरहिताश्च विपद्गृहीताः।
सत्याग्रहे विचरतां समता सदैव,
सम्पद्विपच्च चरतः परिपीडने स्वे ॥२२॥

वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः, शुष्कं सरः सारसाः,
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा, दग्धं वनान्तं मृगाः।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति भृतका, भ्रष्टश्रियं मन्त्रिणः,
श्रद्धा-सत्य-मुचं नरस्य हृदयं, देवो न मुञ्चेत् कथम् ? ॥२३॥

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
सत्यासत्यस्य वृत्तेन, मित्रामित्र-समुद्भवः ॥२४॥

कुछ लोग कहते हैं कि धनहीन मनुष्य जघन्य=निम्न कोटि का है। और कुछ लोग कहते हैं कि गुणहीन मनुष्य जघन्य है। किन्तु अनन्तरामजी का पुत्र कवि सत्यदेव तो बार-बार यही कहता है कि सत्याग्रह से रहित मनुष्य ही जघन्य है ॥ २१ ॥

लौकिक वैभव की इच्छावाले मध्यम लोग लौकिक वैभव प्राप्त होने पर प्रसन्न होते हैं। और भाग्यहीन विपत्ति से पीड़ित होकर दुःखित होते हैं। किन्तु सत्याग्रह में विचरण करनेवालों के मन में तो सदैव सुख-दुःख की समानता रहती है। क्योंकि उनको यह विदित है कि सम्पत्ति और विपत्ति तो अपने परिपीडन-चक्र में घूमती रहती हैं ॥ २२ ॥

पक्षी क्षीण फलवाले वृक्ष को, सारस सूखे सरोवर को, भँवरे पर्युषित=बासी फूल को, मृग जले हुए वन को. नौकर निर्धनपुरुष को, तथा मन्त्री भ्रष्ट-राज्यलक्ष्मीवाले राजा को छोड़ देते हैं। तब श्रद्धा और सत्य को छोड़नेवाले मनुष्य के हृदय को देवता क्यों न छोड़ें ? ॥ २३ ॥

किसी का कोई न मित्र है, और न शत्रु है। यह मित्र-शत्रु का होना तो सत्य और असत्य के कारण होता है ॥ २४ ॥

मिथ्याजिह्वो जनस्त्याज्यो, गुणानामाकरोऽपि सन् ।
मिथ्या-वागिषु-विद्धो ना, सम्भ्रमं शोकमृच्छति ॥२५॥

सर्पः प्राणहरः प्रोक्तः, स वश्यो मन्त्र-भेषजैः ।
मिथ्याजिह्वो न वश्यः स्यात्, सत्या लोकेऽस्ति वागियम् ॥२६॥

सत्याग्रह-गता[1] सम्पत्, पुनः सेवितुमीहते ।
सत्यसन्धं[2], मृषाचाराद्[3]—यियासुः स्यात् सदैव सा ॥२७॥

१—सत्यमागृह्णतो नरस्य सम्पदं विरोधिनः पुरुषा हरन्ति, राजा वा स्वाधीनां कुरुते, तस्मादिदमुच्यते । २—सत्यं समेकीभावाद्धातीति सत्यसन्धस्तं सत्यसन्धं सत्याग्रहिणमित्यर्थः । अथवा—सत्ये सन्धा=प्रतिज्ञा यस्य, तमिति । ३—मृषा आचरणं यस्येति ।

असत्यं कुरुते सत्यं, सत्येऽसत्यं निवेशयेत् ।
दैव-दग्धस्य पुंसोऽत्र, मतिरेषा प्रवर्तते ॥२८॥

विश्वस्य शाम्भव[1]-मखे, सुधियः ! क्रियाः स्वाः,
सत्यान्विताः सकल-यत्न-वशादुपेयाः ।

जो व्यक्ति सदा मिथ्याभाषी हो, वह गुणों का निधान भी हो, तो भी त्याज्य है । मिथ्याभाषी व्यर्थ के [हां, हां, अभी लो, ऐसा ही होगा, कल दूंगा, परसों करूंगा] अपलाप से बिंधा हुआ सहसा शोक को प्राप्त होता है । क्योंकि वह मिथ्याभाषण धोखा देने के लिये ही होता है ॥ २५ ॥

सर्प प्राणहारी कहा गया है । वह भी मन्त्र और भेषज से वश में किया जाता है । किन्तु मिथ्यावादी कभी वश में नहीं होता, यह बात लोक में प्रसिद्ध है ॥ २६ ॥

सत्याग्रह में राजा अथवा शासन के द्वारा छीनी गई सम्पत्ति पुनः सत्याग्रही के पास आने की इच्छा करती है । परन्तु मिथ्या आचरणकारी के पास से तो वह सम्पत्ति सदा ही जाना चाहती है ॥ २७ ॥

असत्य को सत्य बनादे, और सत्य को असत्य बनादे । ऐसी बुद्धि हत-भाग्य मनुष्य की बनती है ॥ २८ ॥

हे सुधीजनो ! विश्व के इस शाम्भव मख में अपनी समस्त क्रियाएं सर्वविध प्रयत्नों से सत्य से परिपूर्ण करनी चाहियें । क्योंकि मनुष्य स्वयं दैव=भाग्य का बनानेवाला है । और सदाचार से शुद्ध मनुष्य का भाग्य ही

दैवस्य चैष घटकः स्वयमेव देही,
आचारतप्तजनुषः शुभ एव दैवः ॥२९॥

१—सर्वमेतत् नियमनियतं चराचर दृश्यमदृश्यं च । यच्च अ-उ-म् इत्यनेन व्याख्यातम्—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता, यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ऋक्० १०।१९०।३॥

इत्यादि विविधवचोभिर्वेदेषूक्तं तत् 'शाम्भवं मखात्मकं कर्म' ।

केचिद् वदन्ति मुनयो [1]ग्रहचक्रमेतत्,
केचिद् वदन्ति सुधियो [2]ग्रहचक्रमेतत् ।
नूनं वदामि बहुधा सुपरीक्ष्य चाहं,
आचार-तप्त-जनुषः शुभ-भेषु[3] जन्म ॥३०॥

१—ग्रहैर्भ्रामितोऽयं सत्यासत्यमाचष्टे करोति च । २—यद्येन यस्माल्लेयं देय चास्ति, तद्वशात् सत्यासत्यमाचष्टे करोति च ।

३—भः=लग्न-नक्षत्र-ग्रह-राशि-भावानां बोधकोऽत्र ग्राह्यः ।



पञ्चमाध्यायस्य 'परमायुषीयः' द्वितीयः पादः

जीवन्ना परमायुरेतु सबलः सत्त्वात्म-देहान्वित-
स्तस्माद्वक्तुमिहार्ह्यते नयवचो नानाविधं तद्विदा ।

शुभ होता है ॥ २९ ॥

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कथन है कि सत्य वा असत्य बोलना जन्म-लग्न-स्थ ग्रहों के कारण होता है । अन्य कुछ बुद्धिमान् कहते हैं कि लेन-देन के कारण मनुष्य सत्यासत्य बोलता है । किन्तु मैं=कवि निश्चय-पूर्वक पूर्ण परीक्षण के पश्चात् कहता हूं कि आचार से शुद्ध मनुष्य का जन्म शुभ लग्न, नक्षत्र, ग्रह, राशि और भावादिक में होता है । [इसीलिये वह लेन-देन वा अशुभ ग्रहों के कारण भी अशुभ असत्यनिष्ठ कर्म करने के लिये प्रेरित नहीं होता ।] ॥ ३० ॥



मनुष्य जीवन में सत्त्व=मन, आत्मा और देह से युक्त होकर शतञ्जीवी बने, तदर्थ आयुर्वेद के विद्वान् को उसके सम्बन्ध में इस नीति-प्रबन्ध में स्वस्थवृत्त एवं ऋतु-चर्या का विधान कहना उचित ही है । जिस को जान-

ज्ञात्वा यत् सुखसम्पदा च सहिताः स्वस्था भवेयुर्नराः,
स्वास्थ्यायालमिहास्ति वृत्तमुदितं पाल्यं नरैः सर्वदा[1] ॥१॥

१—'जीवेम शरदः शतम्, भूयश्च शरदः शतात्' इति यजुः ३६।२ श्रुतिलिंगात्।

उत्सृज्यात्म-मनः-शरीर-घटितं दारिद्र्यमोजोहरं,
यत्नान् स्वास्थ्यकरान् भजेन्नहि नरो मोहात् त्यजेत्तान् क्वचित्।
ये कौपीनधराश्चरन्ति पुरुषास्तेषां कृते संयमो,
विद्याभ्यास-रतस्य शास्त्र-रटनं मन्ये परं स्वास्थ्यदम् ॥२॥

नीतिवाक्षु स्वस्थवृत्तोपदेशेन किं प्रयोजनमित्याशङ्कमानः समन्वयति—

[युग्मकम्]

शरीरपुष्टो रिपुभिर्वृतो यस्तं सत्यदेवो नहि पुष्टमीर्ते।
द्विषद्विहीनो विहतश्च रोगैस्तं वह्निवेशो[1] नहि सुस्थमीर्ते ॥३॥

१—'अग्निवेशः' चरकतन्त्रप्रणेता।

रोगैर्विहीनं रिपुभिश्च हीनं, श्रिया च साध्व्या सततं समेतम्।
श्रीकृष्णपौत्रः[1] किल सुस्थमीर्ते, तस्माच्च मान्यं द्विविधं मयोक्तम् ॥४॥

१—कविः सत्यदेवो वासिष्ठः प्रबन्धलेखकः।

कर सुख-सम्पत्ति से पूर्ण होकर मनुष्य स्वस्थ बनें। ऐसी बातों का स्वास्थ्य के लिये मनुष्य को अवश्य पालन करना चाहिये ॥ १ ॥

मनुष्य आत्मा मन और शरीर से सम्बद्ध ओजोहारी=ओज को हरण करने वाले दारिद्र्य को छोड़कर स्वास्थ्य बढ़ाने वाले यत्नों को करे, और मोह से कभी भी उनका त्याग न करे। क्योंकि जो लँगोटी लगाने वाले साधु पुरुष हैं, उनके लिये संयम ही स्वास्थ्यकारक है। और जो विद्याभ्यास में रत विद्यार्थी हैं, उनके लिये शास्त्राध्ययन ही परम स्वास्थ्यकर है ॥ २ ॥

नीति के वचनों में स्वास्थ्य की बातों की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए कवि दो पद्यों में कहता है—

जो शरीर से पुष्ट है, किन्तु शत्रुओं से घिरा हुआ है, उसको कवि सत्यदेव पुष्ट नहीं मानता। तथा जो शत्रुरहित है, किन्तु रोगग्रस्त है, उसको अग्निवेश=चरकशास्त्र प्रणेता स्वस्थ नहीं मानते। अतः जो रोग से और रिपुओं से रहित है, एव न्यायोचित लक्ष्मी से युक्त है, उसको ही श्रीकृष्ण जी का पौत्र=कवि सत्यदेव स्वस्थ मानता है। यही कारण है कि यहां दोनों प्रकार के मत व्यक्त किये हैं ॥ ३-४ ॥

विद्यार्थिभिः सदा पाल्यं, ब्रह्मचर्यमतन्द्रितैः ।
विद्याभ्यास-श्रमायासं, हरत्येवाप्रमादत: ।। ५ ।।

पुमान् कदापि नो गच्छेत्, नारीणां ज्ञान-मन्दिरे ।
विद्यालये नराणां वा, नारीमात्रं न चाव्रजेत् ।। ६ ।।

विद्याशालासु छात्राणां, कुमारीणामथापि वा ।
अन्तरं बहु कर्तव्यं, पश्येतां न परस्परम् ।। ७ ।।

समासतो नित्यकर्माभिदधाति—

सत्याग्रहिन् ! ब्राह्म-मुहूर्त-मात्र, उत्थाय सूक्तं जप 'प्रातरग्निम्'[1] ।
कारा वियत्[2] प्राप्य समुड्डयन्ते, पतत्रिणो जागृहि वाशमानाः[3] ।।८।।

१—'प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे' ऋक्० ७।४१।१।। इत्यादि । २—भाग्यनगरस्य केन्द्रियकारागृहे लिखितत्वादस्य काव्यस्य 'कारा-वियत्'इति पदं कवेः कारायां यावदाकाशमानमासीत् तावतेव सम्बन्धयति । कुतः ? बहिरागमनस्याशक्यत्वात् । ३—शब्दं कुर्वन्तः ।

विद्यार्थियों को सदा सावधानी से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये । क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास से होने वाले परिश्रम को सरलता से दूर कर देता है ।। ५ ।।

स्त्रियों के विद्यालय में पुरुष कभी न जावें, और पुरुषों के विद्यालय में स्त्रियां न जावें । [अर्थात् आजकल जो सहशिक्षा प्रचलित है, उसके प्रति कवि अपनी अरुचि प्रदर्शित करता है ।] ।। ६ ।।

बालक और बालिकाओं की विद्याशाला में इतना स्थान-व्यवधान होना चाहिये, जिससे वे एक दूसरे को परस्पर न देख सकें । ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये ।। ७ ।।

प्रत्येक को नित्यकर्म का पालन करना चाहिये, इस से कवि सत्याग्रही को लक्ष्य करके निर्देश करता है कि—

हे सत्याग्रहिन् ! ब्राह्ममुहूर्त के रहते-रहते ही निद्रा त्यागकर 'प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे' इस सूक्त का पाठ करो । कारागार के आकाश में [इस काव्य का निर्माण हैदराबाद के कारागार में ही हुआ था । और वहां के पक्षी अथवा सत्याग्रही बाहर जाने में असमर्थ थे । अतः 'कारागार के आकाश में' ऐसा कहा गया है ।] पक्षी 'जागो जागो' ऐसा शब्द करते हुए उड़ रहे हैं ।। ८ ।।

हित्वात्मतन्द्रां परिशोध्य कायं, सन्ध्याऽग्निहोत्रं भज गात्र-मर्दम्[1]।
धर्मानुगं स्वार्थचयं च कृत्वा, सत्याग्रहिन् ! गच्छ सतां समाजे ।।९।।

१—व्यायामम् ।

अथ प्रसंगप्राप्तं प्रातः सायञ्च व्यापकार्थेन सम्बन्धयति—

प्रातः पुरो यत् परमत्र सायं, यथा जरोषः[1] परमत्र सायम् ।
सायं विशुद्धं स्वकमाप्तिकामः, प्रातः प्रयत्नेन विशोधयेत् स्वम् ।।१०।।

१—इह जन्मनि जरा सायंकाल इव, परं सैव जरा परजन्मापेक्षया प्रातःकाल इव, परजन्म च जरां प्रति सायंकाल इव, पूर्वं पूर्वं परस्य परस्यापेक्षया प्रातर्भवति । पर परं च पूर्वापेक्षया सायं भवति । सेयं प्रातः-सायं-कल्पना सर्वकालं भवति । जरा-उषः, इति विग्रहः ।

अथेदानीं व्यासतो नित्यकर्माभिदधाति—

शय्यां त्यजेद् ब्राह्ममुहूर्त एव, जप्यं जपित्वा निज-सत्त्व-शुद्ध्यै ।
व्रजेच्च दूरं मल-मूत्र-हेतोरायुष्यदा ब्रह्मणि वातसेवा ।। ११ ।।

हे सत्याग्रहिन् ! अपने आलस्य का परित्याग कर, कायिक शुद्धि शौच-स्नान व्यायामादि से निवृत्त होकर सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर । तदनन्तर धर्मानुकूल द्रव्यसञ्चय करके सज्जनों के समाज में जा ।। ९ ।।

प्रसङ्गवश यहां प्रातःकाल और सायङ्काल का व्यापक अर्थ दिखलाते हुए कवि कहता है कि—

जो पहले है वह पर की अपेक्षा प्रातःकाल है, जो पर है वह पूर्व की अपेक्षा सायंकाल है । जैसे इस जन्म की जरावस्था इस जन्म के प्रति सायंकाल होती हुई भी परजन्म के प्रति प्रातःकाल है, और परजन्म अपने जन्म के प्रति प्रातःकाल होता हुआ भी पूर्वजन्मस्थ जरा के प्रति सायंकाल रूप है । अतः जो सायङ्काल को विशुद्ध देखना चाहता है, वह अपने प्रातःकाल को पहले विशुद्ध बनावे ।। १० ।।

मनुष्य अपना नित्यकर्म किस प्रकार सम्पन्न करे, यह स्पष्ट करते हुए कवि शास्त्र एवं अनुभव से पुष्ट नियमों का निदर्शन करता है—

ब्राह्ममुहूर्त में शय्या छोड़कर अपनी सात्त्विक शुद्धि के लिये प्रातः-पठनीय 'प्रातरग्निम' आदि वैदिक मन्त्रों अथवा 'प्रातः स्मरामि' प्रभृति श्लोकों को स्मरण करे । तदनन्तर दूर जंगल में मल-मूत्र विसर्जन के लिये जावे, जिससे प्रातःकालिक वायुसेवन भी हो जाय । प्रातःकाल का वायुसेवन आयुष्यवर्द्धक कहा गया है ।। ११ ।।

उषःपानम्—

प्रायशः सर्व-रोगाणां, निहन्तृ सुधियः ! सदा।
उषःपानं प्रयुज्यन्तां, येनायुः सुस्थिरं भवेत्'॥ १२॥

१—तथा चोक्तम्—

अर्शः-शोथ-ग्रहण्यो ज्वर-जठर-जरा-कोष्ठ-मेदोविकाराः,
मूत्राघातांशु-पित्त-श्रवण-गल-शिरः-श्रोणि-शूलाक्षिरोगाः।
ये चान्ये वातपित्त-क्षयज-कफ-कृता व्याधयः सन्ति जन्तो—
स्तांस्तानभ्यास-योगादपहरति पयः पीतमन्ते निशायाः॥

दन्तधावनम्—

नव्यं क्लिन्नं सुशाखाग्रं, कषाय-कटु-तिक्तकम्।
दन्त-पूर्ति जमेत् प्रातर्दन्त-मांसान्यबाधयन्॥ १३॥

निहन्ति गन्धं वैरस्यं, जिह्वा-दन्तास्यजं मलम्।
दन्तपूतिरपाकृष्य, रुच्युत्साहौ प्रयच्छति॥ १४॥

उषःपान—

हे सुधीजनो ! प्रायः सर्वरोगों का नाश करनेवाले उषःपान का प्रयोग किया करो, जिससे आयु स्थिर बने। [इसके सम्बन्ध में आचार्यों ने कहा है कि—अर्श, शोथ, सग्रहणी, ज्वर, पेट की जलन, अपच, मेद का विकार, मूत्रव्याधि, आंशिक पित्त व्याधि, कान गला सिर और कमर में होने वाले शूल, तथा जो भी वात पित्त कफ से उत्पन्न व्याधियां मनुष्य को होती हैं, वे ब्राह्ममुहूर्त में अभ्यासपूर्वक जलपान करने से शान्त हो जाती हैं]॥ १२॥

दन्तधावन—

कषाय, कटु, तिक्त, ताजा वा आर्द्र हरी शाखा के अग्रभाग को लेकर, प्रातःकाल में दांतों के मांस को पीड़ा न पहुंचे, इस ढंग से दन्तधावन करे॥ १३॥

दन्त धावन मुंह की दुर्गन्ध, विरसता, जिह्वा दन्त और मुख के मैल को नष्ट करता है। तथा दांतों के रोगों को दूर करके रुचि एवं उत्साह को बढ़ाता है॥ १४॥

दन्त-पवनार्हान् वृक्षान् संगृह्णाति—

न्यग्रोधार्क-करञ्ज-निम्ब-कटुका[1] जाती[2] कदम्बाम्रका,
बिल्वोदुम्बर-दाडिमानि बदरी चाम्पेयको[3] मर्कटी[4] ।
गायत्री[5] तगरं तथा शुकतरुः[6] शुद्धौ रदानां द्रुमान्,
बब्बूलं ककुभं[7] तथा च कुटजं शंसन्ति वै मञ्जनम्[8] ।। १५ ।।

१—कुटकी, २—चमेली, ३—चम्पा, ४—कौंचलता अपामार्गो वा, ५—खदिरः, ६—पलाशः, ७—अर्जुन-वृक्षत्वक्, ८—विविधौषधानां सलवणो विलवणो वा चूर्णितयोगो मञ्जनं, तच्चासंख्यातप्रकारम् ।

दन्तकाष्ठस्पर्शनेऽनर्हान् संगृह्णाति—

हृन्नेत्ररोगी मुखपाक-शोषी,
नूत्नज्वरी वारि-तृषी वमी च ।
ताल्वोष्ठ-जिह्वा-गल-दन्त-मूर्च्छा—
हिक्कार्दितः श्वासरुजी मदी च ।। १६ ।।

हृतप्रभो जीर्णरुजी श्रमी च, क्लमी च पानेन सकर्णशूली ।
काष्ठं स्पृशेन्नैव सुखं प्रपित्सुर्दन्त-प्रमृज्यै स्पृश मञ्जनानि ।। १७ ।।

दतौन के लिये किन किन वृक्षों की टहनियां उपादेय हैं, इस के सम्बन्ध में नीचे संग्रह देते हैं—

वट, अर्क, करंज, नीम, कुटकी, चमेली, कदम्ब, आम्र, बिल्व, उमर, दाड़िम, बेर, चम्पा, कोच वा अपामार्ग, खेर, तगर, पलाश, बबूल, अर्जुन, कुटज, और विविध ओषधियों के चूर्ण में लवण मिलाकर या वैसे ही मञ्जन बनाकर उपयोग करें, जिसके अनेक प्रकार होते हैं ।। १५ ।।

निम्नलिखित व्यक्ति लकड़ी का दतुअन न करें—

हृदय और आंख का रोगी, जिसके मुख में छाले पड़ गये हों, नया बुखार आने पर, बार बार जिसको तृषा लगती हो अथवा वमन होता हो, तालु ओष्ठ जिह्वा गला दांत में जिसको रोग हो, जिसको मूर्च्छा हिक्का श्वास अथवा उन्माद का रोग हो ।। १६ ।।

हृतप्रभ, अजीर्ण रोगी, अधिक परिश्रमी, बहुत पसीना जिसको आता हो, मदिरापान आदि करने से जिसको कर्णशूल रोग हो गया हो, ऐसे व्यक्ति मञ्जन करें ।। १७ ।।

जिह्वा—

वङ्गार्क[1]-तारा[2] कनका[3]द्रकाष्ठं[4], रसज्ञ-निर्लेख-विवेकमाहु: ।
[5]जिह्वामतीक्ष्णां कुटिलां विदध्याद् हरेत्तया दोषचयं मुखस्थम् ।।१८।।

१—अर्कस्ताम्रम् । २—तारा रजतम् । ३—कनकं सुवर्णम् । ४—अत्र समाहारद्वन्द्व:, प्रत्यहं शाखाच्छिन्नं सर्वश्रेष्ठं मन्यन्ते पीयूषपाणयो वैद्या: । मध्यतो द्विधा कृत्वा जिह्वा-निर्लेखनाय च सर्वोत्तमं मन्यन्ते । ५—जिह्वा-शोधनसाधनमपि जिह्वापर्यायैरुच्यते ।

सुगन्धित-पदार्थान् संगृह्णाति—

श्रीसंज्ञमेलां कटुकञ्च जातिं, कक्कोल-पूगे [1]रजनीश-नाभिम् ।
एवंविधं वा मुखशोधनं स्यात्, तथा च ताम्बूलमुशन्ति केचित् ।।१९।।

१—कर्पूर इति ।

[युग्मकम्]

सेवेत नूनं शतमायुरिच्छन्, हृद्यं सुपथ्यं मुखकण्ठशुद्ध्यै ।
आलस्य-[1]विद्रध्युपजिह्विकानां, सतालु-दन्तार्बुद-रोगिणाञ्च ।।२०।।
गलास्य-कण्ठापचि-तालुशोष-श्लेष्मामयेभ्यस्तदतिप्रशस्तम् ।
तस्मान्निषेवेत नर: प्रयत्नादाचार्यवर्यैर्गदितान् प्रयोगान् ।। २१ ।।

१—विद्रधिरेतन्नामको रोग: ।

जिह्वा की सफाई—

तांबा, चांदी, सुवर्ण, अन्य धातु अथवा दतुअन को बीच से चीर कर जिह्वा का लेखन करे। जिह्वा-लेखन के द्वारा रसना को सरल और मल-रहित कर मुख को श्लेष्मादि से शुद्ध करे ।। १८ ।।

मुख शुद्धि के अन्य साधन—

श्रीसंज्ञ=लोंग, इलायची, कटुकी, जावित्री, कक्कोल=शीतलचीनी, सुपारी व कपूर भी मुखशुद्धि के साधन माने गये हैं। कुछ विद्वान् ताम्बूल को भी इसका साधन बतलाते हैं।। १९ ।।

अपने को शतायु जीवित रखनेवाला प्रिय और सुपथ्य उपर्युक्त वस्तुओं को मुख और कण्ठ की शुद्धि के लिये काम में लेवे। ये वस्तुएं आलस्य विद्रधि, उप-जिह्विका, तालु दन्तार्बुद, गला मुख कण्ठ अपचि, तालुशोष, श्लेष्म और आमय आदि रोगों के निवारणार्थ उत्तम कही गई हैं। अत: मनुष्य यत्नपूर्वक आचार्यों द्वारा कथित इन प्रयोगों का सेवन करें ।।२०-२१।।

तांबूलभक्षणेऽनर्हान् संगृह्णाति—

न नेत्ररोगे न च रक्तपित्ते, क्षुते न दाहे न विषे न शोषे ।
मदात्यये नापि च मोह-मूर्च्छा-श्वासेषु ताम्बूलमुदाहरन्ति ॥२२॥

गण्डूष-धारणम्—

[युग्मकम्]

हनोर्बलाप्त्यै वदनोपचित्यै, खाद्ये रसाप्त्यै रुचिसम्प्रवृत्त्यै ।
कण्ठास्यशोषं त्वधरस्य भेदं, हर्षं सशूलं च रदस्य हर्तुम् ॥ २३ ॥
रौक्ष्यं विहन्तुं रदमूलपुष्ट्यै, तैलस्य गण्डूषविधिः प्रदिष्टः ।
नरः स्वसौख्यं यदि चेष्टते चेत्, कुर्यादजस्रं मुनिभिः प्रदिष्टम् ॥२४॥

[युग्मकम्]

खालित्य-पालित्य-विरूक्षभेदान्, निरासितुं मूर्ध्नि बलस्य चाप्त्यै ।
शिरःप्ररूढान् भ्रमरैरधृष्यान्, विधातुमक्ष्णोश्च कलां सुपुष्टाम् ॥२५॥
नरो निषेवेत सुरूपमिच्छुर्निद्रां प्रपित्सुश्च [1]शिरस्य-तैलम् ।
ब्राह्म्यादि-नानाविधकौषधैश्च, निर्मापितं वैद्यवरैरनुष्णम् ॥ २६ ॥

१—शिरसे हितं शिरस्यम् ।

अधोलिखित व्यक्ति पान न खावें—

नेत्ररोग, रक्त-पित्त, क्षुत, दाह, विष, शोष, उन्माद, मोह-मूर्च्छा और श्वास के रोगवालों को ताम्बूल सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥

कुल्ला करना—

ठोडी और मुख की पुष्टि के लिये, खाद्य में रसवृद्धि के लिये, भोजन में रुचि बढ़ाने के लिये, कण्ठ और मुख की सूजन, ओठों का फटना, दांतों की पीढ़ियों में शूल चलना, इन को दूर करने के लिये; तथा दांतों की रूक्षता नष्ट करने और उनकी जड़ें मजबूत करने के लिये तैल का गण्डूष=कुल्ली करना कहा गया है। अतः मनुष्य यदि अपने सौख्य की कामता करता हो, तो उसको मुनियों द्वारा प्रदिष्ट यह कर्म नित्य अपनाना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

गंजापन, केशों का पकजाना, तथा रूखापन को दूर करने के लिये, बल की प्राप्ति के लिये, वालों को काला बनाये रखने के लिये, नेत्र की ज्योति को चिरस्थायिनी बनाने के हेतु, तथा सुखपूर्वक निद्राप्राप्ति के लिये, एवं किसी प्रकार के कीटादि वालों में न पड़ ज़ांय तदर्थं ब्राह्मी आदि त्रिविध शास्त्रोक्त औषधियों के संयोग से वैद्यों द्वारा बनाया गया ठण्डा तैल अपने सिर में लगाये ॥ २५-२६ ॥

अभ्यंगानां परस्परं सम्बन्धं निरूपयति—

मूर्ध्नोऽभ्यङ्गात् कर्णयोः शीतमाहुः, कर्णाभ्यङ्गात् पादयोरेवमेव ।
पादाभ्यङ्गो नेत्ररोगांश्च हन्ति, नेत्राभ्यङ्गो दन्तरोगान् प्रमार्ष्टि ॥२७॥

कर्ण-तर्पणम् —

कर्णरोगा न वातोत्था, मन्या-हन्वोर्न सङ्ग्रहः ।
बाधिर्योच्चश्रव-क्ष्वेडा, न स्युस्तैलाक्तकर्णिनः ॥ २८ ॥

पादाभ्यङ्गः—

पादाभ्यङ्गस्तु सुस्थैर्य-निद्रा-दृष्टि-प्रसादकृत् ।
पादसुप्ति-भ्रम-स्तम्भ-सङ्कोच-स्फुटनादिहृत् ॥ २९ ॥

शरीराभ्यङ्गः—

उत्साह्यभ्यङ्गशीलः स्यात्, मुक्तो वात-जरा श्रमैः ।
स्थिरः प्रियास्यो धीमांश्च, सुत्वक् चाप्ताभिसम्मतः ॥ ३० ॥

अभ्यङ्गों का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हैं—

सिरमें तैल मालिश करने से कानों में, और कानों में तैल डालने से पैरों में ठण्ढक पहुंचती है। पांवों पर तैल मलने से नेत्र के रोग शान्त होते हैं, तथा नेत्रों में तैल लगाने से दन्तरोग मिट जाते हैं ॥ २७ ॥

कानों में तैल डालना—

कानों में उत्पन्न होने वाले वायुजन्य रोग, मन्यास्तम्भ और हनुस्तम्भ के रोग, बधिरत्व, ऊंचा सुनने पर पीड़ा होना आदि रोग, जो कानों में तैल डालता है, उसको नहीं होते ॥ २८ ॥

पैरों में तैल लगाना—

पैरों में तैलमर्दन करने से पांव का सो जाना, रक्त में शून्यता आजाना, झनझनाना, संकोच होना, फूटना आदि रोग दूर होते हैं। तथा स्थिरता, निद्राप्राप्ति एवं नेत्रज्योति की वृद्धि आदि प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

शरीर पर तैल की मालिश—

शरीर विज्ञान के आचार्यों का कथन है कि शरीर में तैलमर्दन करने से मनुष्य उत्साही होता है। वायुजन्य, जराजन्य एवं श्रमजन्य रोगों से मुक्त होता है। और स्थिर, प्रसन्न-मुख सुन्दर एवं बुद्धिमान् होता है ॥ ३० ॥

तैलाभ्यङ्गानर्हाः—

तैलाभ्यङ्गं त्यजेन्नूनं, हितमिच्छन् निजात्मनः ।
कृत-संशोधनोऽजीर्णी, निरूढोऽथ नवज्वरी ॥ ३१ ॥

स्नानम्—

सूर्योदयात् प्राक् ¹सकलायुरीहैः, स्नानं विधेयं वपुषः प्रमृज्यै ।
मनःप्रसत्त्यै ज्वलनस्य दीप्त्यै, नेत्र्यं हितं वारि हिमं न तप्तम् ॥३२॥

१—नीरुजं पूर्णमायुरीहमानैः ।

उक्तञ्च—प्रातःस्नानमलं च पापहरणं दुःस्वप्न-विध्वंसन,
शौचस्यायतनं मलापहरणं संवर्धनं तेजसाम् ।
रूपद्योतकरं शरीर-सुखदं कामाग्निसन्दीपनं,
स्त्रीणां मन्मथगाहनं श्रमहरं स्नाने दशैते गुणाः ॥

नासया तैलमाकृष्य, ततश्चामलकं जलम् ।
नासाकृष्टं मुखाद् मुञ्चन्, शतं जीवत्यनामयः ॥ ३३ ॥

अधोलिखित व्यक्ति तैल न लगायें—

जिसने कायाकल्प अथवा विरेचन द्वारा शरीरशोधन किया हो, जो अजीर्ण रोग से आक्रान्त हो, जिसने निरूह वस्ति कार्य किया हो, अथवा नवीन ज्वर से पीड़ित हो, ऐसे व्यक्तियों को तैलमर्दन नहीं करना चाहिये ॥ ३१ ॥

स्नान—

नीरोग पूर्णायु प्राप्ति के इच्छुकों को सूर्योदय से पूर्व ठण्ढे जल से अपने शरीर की शुद्धि के लिये, मन की प्रसन्नता और जठराग्नि की प्रदीप्ति के लिये शुद्ध जल से स्नान करना चाहिये। शीतल जल आंखों को हितकर है, उष्ण जल नहीं।

[प्रातःस्नान के निम्नलिखित दस गुण आचार्यों ने बतलाये हैं—१—पापनाश, २—दुःस्वप्न-नाश, ३—पवित्रता-प्राप्ति, ४—मल-निवारण, ५—तेजोवर्धन, ६—रूपवृद्धि, ७—शारीरिक सुखदान, ८—काम-सन्दीपन, ९—स्त्रियों में प्रीतिवर्धन, १०—श्रमहरण] ॥ ३२ ॥

पहले नासिका से तैल खींच कर छोड़ दे, फिर आंवले का जल नासिका से खींच कर मुख के मार्ग से छोड़े, अथवा नासिका के मार्ग से ही छोड़ दे। इस प्रकार पुनः-पुनः करने से शिरोरोग नहीं होता। और कर्त्ता नीरोग रहता

स्नानेऽनर्हान् संगृह्णाति—

नार्हं ज्वरे विरेके च, नेत्र-कर्णानिलार्तिषु ।
आध्मान-पीनसाजीर्ण-भुक्तवत्स्ववगाहनम् ॥ ३४ ॥

अनुलेपनम्—

अनुलेपस्तृषा-मूर्छा-दुर्गन्ध-श्रम-दाहजित् ।
सौभाग्य-तेजस्त्वग्वर्ण-कान्त्योजो-बलवर्धनः ॥ ३५ ॥

किञ्च तत्रापि यत्नेन, ध्यानं देयं मनीषिभिः ।
स्नानानर्हस्य मर्त्यस्य, त्वनुलेपोऽपि नो हितः ॥ ३६ ॥

वस्त्रम्—

रुच्यं हृद्यं तथायुष्यं, वस्त्रं सच्छिल्पि-कल्पितम् ।
स्नात्वा वसेत् पारिषदं, पुष्प-सत्त्व-सुवासितम् ॥ ३७ ॥

यद्वस्त्रं धारितं रात्रौ, तत् प्रक्षालनमन्तरा ।
नाच्छादयन् पुनः सद्यो, जयमायुश्च विन्दति ॥ ३८ ॥

हुआ शतायु होता है । यह प्रयोग अनुभूत है ॥ ३३ ॥

निम्नलिखित व्यक्ति स्नान न करें—

ज्वर आने पर, विरेचन लेने पर, आंख वा कान में पीड़ा रहने पर, उदर में वायु बढ़जाने पर, पीनस रोग में, वा अजीर्ण होजाने पर, तथा भोजन करने के पश्चात् स्नान करना उचित नहीं है ॥ १४ ॥

अनुलेपन—

अनुलेप=चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों का विलेपन प्यास, मूर्छा, दुर्गन्ध, श्रम-दाह को मिटानेवाला है । तथा सौभाग्य, तेज, त्वचा का वर्ण, कान्ति, ओज एवं बल को बढ़ानेवाला हैं ॥ ३५ ॥

साथ ही मनीषियों को यह भी ध्यान में रखना चाहिते कि जिस व्यक्ति के लिये स्नान का निषेध है, वह अनुलेपन भी न करे ॥ ३६ ॥

वस्त्र—

स्नान करने के पश्चात् पुष्पों के सत्त्व=इत्र आदि से सुवासित, योग्य कारीगर के द्वारा बनाया हुआ, रुचिकर, प्रिय, चिरकाल तक चलनेवाला और सभा में उचित प्रतीत होनेवाला वस्त्र धारण करे ॥ ३७ ॥

जो वस्त्र रात्रि में पहना हुआ हो, उसको धोये बिना न पहननेवाला

स्रगादिधारणम्—

वासःस्रगादिरत्नानामायुरारोग्य-वर्धनम् ।
रक्षोघ्नमर्थ्यमोजस्यं, धारणं प्रोच्यते परम् ।। ३९ ।।

पादयोर्मलमार्गाणां च प्रक्षालनम्—

रुच्यं मेध्यं तथायुष्यं, पाद-रोग-निषूदनम् ।
पादयोर्मलमार्गाणां, पावनं यद्धि भूरिशः ।। ४० ।।

केशप्रसाधनम्—

वृष्यं पुष्टिदमायुष्यं, शुचि-रूप-प्रसादनम् ।
केश-श्मश्रु-नखादीनां, कल्पनं सम्प्रसाधनम् ।। ४१ ।।

पादत्रम्—

भयघ्नं वृष्यमायुष्यं, पादयोर्व्यसनापहम् ।
नेत्र्यं बल्यं तथा शुच्यं, हृद्योपानत्प्रधारणम् ।। ४२ ।।

सभ्य पुरुष जय और आयु को प्राप्त होता है ।। ३८ ।।

माला आदि का धारण करना—

वस्त्र और पुष्प अथवा रत्नादि की माला आयु, आरोग्य, रक्षण, सामयिक उपयोगिता, ओज और परस्पर प्रेम को बढाती है ।। ३९ ।।

पैर और मलमार्गों का प्रक्षालन—

हस्त, पाद और मलमार्गों का पुनः-पुनः प्रक्षालन रुचिकर, बुद्धिवर्धक, आयुष्यवर्धक तथा पादरोगहारी होता है ।। ४० ।।

केशों का संवारना—

केश, दाढी, मूंछ एवं नखादि को समयानुसार काट-छांट कर उनको संवारना और सजाना=शुद्ध रखना भी पुष्टि और आयुष्यदायक है ।। ४१ ।।

जूता पहनना—

अनुकूल उपानत्=जूते=पदत्राण धारण करना भी नेत्रज्योतिवर्धक, बलदायक, पांवों को शुद्ध रखनेवाला, कांटे आदि का भयनाशक, वृष्य एवं आयुष्यवर्धक है ।। ४२ ।।

छत्रम्—

घर्म-वात-रजोऽम्बुभ्यस्तूत्तमाङ्गभवाद् रुजः ।
त्रात्वा कान्ति रुचिं शर्मच्छत्रं नृभ्यः प्रयच्छति ॥ ४३ ॥

दण्डधारणम्—

रुच्यं प्रशस्तं सुदृढं च पाणौ, दण्डं ध्रियेतात्मबलाप्तिकामः ।
जागर्त्यजस्रं रिपु[1]-दर्प-दान्त्यै, देहं च रक्षत्यभितः प्रयुक्तः ॥ ४४ ॥

१—रिपुशब्देनात्र प्रहर्तृमात्रं ग्राह्यं, तेन पुरुष-व्याघ्र-ग्रामसिंह-सरीसृप-गृध्रश्येनादयो मांसाद ईल (चीलपक्षिविशेषः) प्रभृतयो मांसान्नादाश्च गृह्यन्ते ।

व्यायामः—

व्यायच्छ नित्यं परिहृत्य विघ्नान्, व्यायामकारी लभते न रोगान् ।
अन्नं कुदन्नं समयच्युतं वा, भुक्तं च देहाङ्गमुपैति तस्य ॥ ४५ ॥
[1]कान्तं वपुस्तस्य भवेन्नृलोके, त्रस्यन्ति तस्माद्रिपवश्च तस्य ।
यत् कर्तुमीष्टे स तदाशु कृत्वा, लब्ध्वा जयं हर्षमुपैति भूयः ॥ ४६ ॥

१—कान्तं कमनीयं, सर्वमनःप्रियं वा ।

छत्र धारण करना—

छत्रधारण करना गर्मी वायु धूल और जल के कारण सिर में उत्पन्न होनेवाले रोगों से बचाकर कान्ति रुचि और प्रसन्नता प्रदान करता है ॥४३॥

दण्ड धारण करना—

आत्मिक बल को चाहनेवाला व्यक्ति सुन्दर, प्रशस्त और मजबूत डण्डा=लकड़ी अपने हाथ में धारण करे । यह डण्डा अपने हाथ में धारण किया जानें पर सदा शत्रु=प्रहार करनेवाले के दर्प को दमन करने के लिये जागरित रहता है । तथा सब ओर से शरीर की रक्षा करता है ॥ ४४ ॥

व्यायाम करना—

हे मित्र ! प्रतिदिन निर्विघ्नरूप से व्यायाम कर । क्योंकि व्यायाम करनेवाला कभी रोगी नहीं बनता । तथा कुत्सित अन्न अथवा असमय में खाया हुआ अन्न भी सुपक्व बनकर शरीर के अनुरूप सहायक बनता है ॥४५॥

जो व्यक्ति नित्य व्यायाम करता है, उसका शरीर सुन्दर सुडौल बन जाता है । उससे उसके शत्रु डरते हैं । तथा वह जो करना चाहता है, वही शीघ्र करके पुनः-पुनः जय और हर्ष को प्राप्त होता है ॥४६ ॥

दोषाः समास्तस्य भवन्ति जन्तोः, स्वास्थ्यं त्रिदोषस्य समानभावः ।
किङ्कर्म किं वाऽप्यपकर्म बुद्ध्वा, धृत्या हितं कर्म करोति नान्यत् ।।४७

व्यायामवन्तं सततं समेतः, शौर्यं च वीर्यं च समिद्धगात्रम् ।
साध्यस्य सिद्ध्यै बलमाहुरग्रच[1], बुधास्तु देहात्म-मनोऽर्थजातम् ।।४८

१-अग्रच=प्रधानम् । बलं चतुर्विधं देहात्ममनोऽर्थजातं, तत्र व्यायामेन शारीरं बलं वर्धते ।

समिद्धगात्रो विनिहन्ति शत्रून्, विद्यातपोभ्यां बलमेति देही ।
बलिष्ठ-गात्रोऽवति हृद्गुहास्थं[1], विद्यातपःपूत-मनश्च देहम् ।। ४९ ।।

१-आत्म-मनसोः स्थानं हृदयम् ।

जरागृहीतोऽपि मनःप्रसादात्, श्रियं विचिन्वन् क्रमतेऽभयः सः ।
व्यायाममेकं सकलैरुपायैः, सेवेत विद्वान् शतमायुरिच्छन् ।। ५० ।।

स्वस्थं मनः स्वस्थ-शरीरयोगात्, सम-त्रिदोषश्च मनःप्रसादात् ।
मौद्गल्य-रामौ[1] रवितः पुरस्ताद्व्यायच्छतो[2]ऽद्याप्युपखाङ्गवर्षौ[3] ।।५१

१-श्री नाथूरामो मौद्गल्यः, श्री तिलकरामो ब्रह्मचारी, आभ्यामायुराम्नायो कविनाऽऽप्तः । मौद्गल्य-आयुर्वेद-विद्यालय-लवपुरतः

उस मनुष्य के शरीर में वात पित्त और कफ ये त्रिदोष समान हो जाते हैं। जो तीनों उपर्युक्त दोष हैं, वे समानभाववाले होते हैं, उसका ही नाम 'स्वास्थ्य' है। उत्तम स्वास्थ्यवाला व्यक्ति 'क्या कर्तव्य है, और क्या अकर्त्तव्य है' उसको विवेकपूर्वक पहचानकर धीरता से उचित कर्म करता है, अन्य नहीं ।। ४७ ।।

हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले व्यायामशील मनुष्य को सदा शौर्य और वीर्य दोनों प्राप्त होते हैं। तथा साध्य की सिद्धि के लिये विद्वानों ने यह आत्मा मन और अर्थ का बल ही आवश्यक माना है ।। ४८ ।।

सुदृढ शरीरवाला शत्रुओं का नाश कर देता है। आत्मा विद्या और तप से बलवान् बनता है। जिस का शरीर बलिष्ठ होता है, वह हृदयरूपी गुहा में स्थित, विद्या और तप से पवित्र, मन की रक्षा करता है। और पवित्र मन शरीर की रक्षा करने में सहायक होता है ।। ४९ ।।

व्यायाम करनेवाला बुढापा आने पर भी प्रसन्नचित्त होने के कारण लक्ष्मी प्राप्त करता हुआ निर्भय विचरण करता है । इसलिये शतायु बनने की अभिलाषावाला विद्वान् मनुष्य सभी उपायों से एकमात्र व्यायाम करे ।।५०।।

स्वस्थ मन, स्वस्थ शरीर और सम त्रिदोष के होने से ही प्रसन्नचित्त

'आयुर्वेदाचार्य'-पदं समुत्तीर्णम्, विक्रमाब्दे १९९५। राम आयुर्वेद-विद्यालय-अमृतसरतः 'आयुर्वेदानूचानः' च पदं समुत्तीर्णम्, विक्रमाब्दे २००२। एतयोर्नामकीर्त्तनमानृण्याय।

२—अत्र परस्मैपदं वि-विशिष्टोपसर्गमभिलक्ष्य। ३—ख=० शून्यम्, अंगानि ६ षट्, अंकानां वामतो गतिरिति नियमात् उपखांगवर्षौ—उपषष्टि इति यावत्।

यथाकामं चतुर्वर्गं, जीवन्नाप्नोति संयमात्।
रोगास्तस्यापहर्तारो, व्यायामोऽर्थ्यो रुजापहः॥ ५२॥

उक्तञ्च सुश्रुते—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं, स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च, व्यायामादेव जायते॥
श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा, रक्तपित्तं प्रतामकः।
अतिव्यायामतः कासो, ज्वरश्छर्दिश्च जायते॥



श्री नाथूराम मौदगल्य और श्री तिलकराम ब्रह्मचारी सूर्य के समक्ष ६० वर्ष के निकट आनेपर भी व्यायाम करते हैं। [इन्हीं गुरुओं से कवि ने 'आयुराम्नाय' का अध्ययन किया है। और वि० सं० १९९५ में मौद्गल्य आयुर्वेद विद्यालय, लाहौर से 'आयुर्वेदाचार्य' पद, एवं वि० सं० २००२ में राम आयुर्वेद विद्यालय, अमृतसर से 'आयुर्वेदानूचान' पद उत्तीर्ण किया] ॥ ५१॥

संयमपूर्वक जीवित रहता हुआ मनुष्य इच्छानुकूल चतुर्वर्ग को प्राप्त करता है। रोग उस चतुर्वर्ग के नाशक हैं। अतः सर्व-रोग-नाशक व्यायाम का सेवन करना चाहिए॥

[व्यायाम के गुण-दोष बतलाते हुए सुश्रुतकार ने कहा है—

शरीर में स्फूर्ति, कार्य करने का सामर्थ्य, स्थिरता, दुःख-सहिष्णुता, दोषक्षय, अग्निवृद्धि ये व्यायाम से होते हैं। तथा थकावट, बेचैनी, क्षय, तृष्णा, रक्तपित्त, प्रतामक नामक श्वासरोग, कास, ज्वर और सर्दी ये अति व्यायाम करने से होते हैं] ॥ ५२॥



पञ्चमाध्यायस्य 'ऋतुचर्याभिधः' तृतीयः पादः

हेमन्ते—

प्रातर्भोजनमम्ल-मिष्ट-लवणानभ्यङ्ग-घर्म-श्रमान्,
गोधूमेक्षव-शालि-माष-लशुनं पिष्टं नवान्नं तिलान् ।
कस्तूरी-वरकुङ्कुमागरुयुतामुष्णाम्बु शौचेऽनलं,
स्निग्धं स्त्रीषु मितो गुरूष्णवसनं सेवेत हेमन्तके ।। १ ।।

वर्जयेदन्न-पानं तद्वातलं लघु यद् भवेत् ।
प्राग्वातं प्रमिताहारमुदमन्थं च हैमने ।। २ ।।

शिशिरे—

हिमोक्त-पथ्यं शिशिरेऽपि पथ्यं, विशेषतो रौक्ष्यमिहास्त्यपथ्यम् ।
निवातमुष्णं गृहमन्तरङ्गं, नृभिः प्रयत्नेन निषेवणीयम् ।। ३ ।।

वसन्ते—

वान्ति नस्यमथामयां च मधुना व्यायाममुद्वर्तनं,
ना सेवेत मधौ कफघ्न-कवलं शाकानि पत्रैर्विना ।

हेमन्तचर्या—

हेमन्त में रात्रि के बड़ी होने के कारण प्रातः कुछ खाना चाहिये । खट्टे मीठे, लवणरस, तैल मलना, धूप तापना, व्यायाम करना, गेहूं, गन्ने, चीनी से बनी मिठाई, चावल, उर्द, लशुन, पीठी, नये अन्न, तिल, कस्तूरी, शतावरी, केसर, अगर, सुखोष्ण जल से स्नान, अग्नि, घृत-तैलादि युक्त पदार्थ, भारी तथा गरम वस्त्रों का सेवन करे । तथा स्त्री-प्रसंग में मितव्यवहारी बने । एवं हल्के, वायु को बढ़ानेवाले अन्नपेय, पूर्व की वायु, मित आहार, अधिक स्नान वर्जित रक्खे ।। १-२ ।।

शिशिरचर्या—

जो वस्तुएं हेमन्त में पथ्य हैं, वे शिशिर में भी पथ्य कही गई हैं । विशेष करके रूखी वस्तु का सेवन शिशिर में अपथ्य है । इस ऋतु में वायु-रहित गृह के अन्तरङ्ग भाग का मनुष्यों को प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये ।। ३ ।।

वसन्तचर्या—

मनुष्य वसन्त ऋतु में वमन, नस्य, शहद मिली हरड़, व्यायाम, उद्वर्तन, कफनाशक भोजन, पत्ररहित शाक, गेहूं, चने, चावल, अरहर, मूंग,

गोधूमांश्चणकान् सुशालि-तुवरीं मुद्गान् यवान् धूम्रकान्,
लेपं चन्दन-कुङ्कुमागरुयुतं रूक्षं कटूष्णं लघु ॥ ४ ॥

ग्रीष्मे—

स्वादु-स्निग्ध-हिमं लघु द्रवमयं लेह्यं रसालां सितां,
सक्तु-क्षीर-शतावरीं[1] गुरुवचो[2] वातं तु लूकां[3] विना।
शीतांशुं शयनं दिने, मलयजं शीतं पयः[4]पानकं[5],
सेवेतोष्ण-दिने, त्यजेच्च कटुकं क्षाराम्ल-घर्म-श्रमान् ॥ ५ ॥

१—शतावरीग्रहणं जीवनीयानामुपलक्षणमात्रम्। २—गुरूणां वचांसि तापहराणि प्रसिद्धानि। ३—'लू' इति प्राकृता भाषन्ते। उष्ण-झञ्झा इति यावत्। ४—शीतं पयः—शीतलं गोरसः, कौम्भं जलं, शीतं, पयः, पृथक् च। ५—पानकम् तु तद्वद् विशेषरूपेण हृद्यौषधप्रयोगसंघटितम्। अत्र शीतं पयः पानकम् एकार्थयोजनयापि योक्तव्यम्, पृथक् पृथक् चापि।

संक्षेपतः—

यद् यद् हृद्यं भवेत् तत् तत्, सेव्यं यत्नेन धीमता।
सूर्यो निहन्ति सोमांशं, हृदि सोमो व्यवस्थितः ॥ ६ ॥

जौ और उड़द का भोजन करे। तथा चन्दन कुङ्कुम अगरु से युक्त विलेपन करे। जो रूक्ष, कटु उष्ण और हलका हो, उसका सेवन करे ॥ ४ ॥

ग्रीष्मचर्या—

ग्रीष्मकाल में स्वादु, स्निग्ध, ठण्ढा, हल्का, सरल, चाटने योग्य, रसीला, मधुर, सत्तू, दूधवाला पदार्थ सेवन करे। आयुष्यवर्धक शतावरी, भव-ताप-हारी गुरुवचन, जिस में लू न चलती हो ऐसी वायु, चन्द्र की शीतल किरणें, दिनमें शयन, चन्दन, मिट्टी के घड़े का शीतल जल अथवा शीतल दूध उपयोग में लावे। कड़ुआ, खारा, खट्टा भोज्य, धूप और परिश्रम इनका त्याग करे ॥ ५ ॥

संक्षेप में यही कहना है कि जो-जो अपनी रुचि के अनुकूल हो, वह यत्नपूर्वक बुद्धिमान् को सेवन करना चाहिये। सूर्य सोम के अंश को नष्ट कर देता है, और वह सोम हृदय में विराजमान है ॥ ६ ॥

सोमार्थं प्रसंगतो विस्पष्टयति—

आपः सोमः शशी सोमो, मनः सोमोऽपि तद्वशात् ।
'धात्वोजोऽपि स्मृतः सोमो, हृद्यहार्योऽष्टबिन्दुकः ॥ ७ ॥

१–रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परमं तेजस्तत् सत्वौजस्तदेव बलमित्युच्यते स्वशास्त्र-सिद्धान्तात् ।

ओजः स्वरूपम्—

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं, रक्तमीषत् सपीतकम् ।
ओजः शरीरे संख्यातं, तन्नाशान्ना विनश्यति ॥
सुश्रुतसूत्रस्थाने १७ । ७४ ॥

ओजोगुणाः—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं, शुक्लं शीतं स्थिरं परम् ।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च, प्राणायतनमुत्तमम् ॥
सुश्रुतसूत्रस्थाने १५ । २१ ॥

तन्त्रान्तरे च—

प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रिताः ।
श्लेष्मणः पराभिध ओजसस्तु क्षीयते वर्धते च न तु परमौजः ॥

प्रसङ्गप्राप्त सोम के अर्थ को कवि स्पष्ट करता है—

जल, चन्द्र, मन ये सोम हैं। इन तीनों के साहचर्य से धातु को भी 'सोम' कहा गया है। और वह सोम अष्ट बिन्दु परिणामवाला है, जो हृदय में रहता है ॥

[रस से आदि लेकर शुक्रपर्यन्त जो धातु हैं, उनका जो सार=तेज है, वही 'ओज' कहलाता है। और उसे ही अपने शास्त्र के सिद्धान्त से 'बल' कहते हैं।

सुश्रुत के सूत्रस्थान में 'ओज का स्वरूप' यह बतलाया है कि—जो हृदय में शुद्ध रूप में रहता है, जो कुछ लाल एवं पीले रूप में व्याप्त रहता है, तथा जिसके नष्ट हो जाने पर प्राणी नष्ट हो जाता है, वह ओज है ॥

ओज सोमात्मक, चिकना, श्वेत, शीतल, स्थिर और सर=सर्वत्र फैलनेवाला, विविक्त=सब रसादि से पृथक् पदार्थ, कोमल तथा प्रशस्त है, और प्राणों का आधार है ॥

प्राणाश्रयी ओज के हृदयाश्रित आठ बिन्दु हैं। श्लेष्मापर नामक ओज की तो क्षय-वृद्धि होती है, किन्तु इस ओज की नहीं ॥

श्लेष्मपर्याय ओजो, यथा—

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा, विकृतो मल उच्यते ।
स चैवौजः स्मृतः काये, स च पाप्मोपदिश्यते ॥
चरकसूत्रस्थान ग्र० १७ । ११७ ॥

संक्षेपतः सोमार्थं विस्पष्टयति—

जीवनीयं भवेद् यद् यत्, तत्सर्वं सोम उच्यते ।
एतावानेव सोमार्थो, लोके वेदे व्यवस्थितः ॥ ८ ॥

प्रसंगप्राप्तं लोकं वेदं च व्याचष्टे—

अनन्तकर्त्तुः कर्माऽपि, नालमन्ताय कर्हिचित् ।
जगद्वेदस्य व्याख्यानं[1], वेदो विश्व-प्रकाशकः ॥ ९ ॥

१—जगद्वेदस्य व्याख्यानम्—

वयं पश्यामो जगद् वेदश्च सनातनात् कालादागच्छतः । तौ हि जीवमुपकुरुतः । तत्र वेदस्य जगद् व्याख्यानम्, वेदश्च जगतो रहस्यं प्रकाशयति । तद्ध्यायुर्वेदविदो भाषन्ते—'लोकसम्मितः पुरुषः' (चरक शारीरे) । तद्यथा पुरुषस्य शिरो द्युस्थानीयम्, यथा द्यवि

प्रकृतिस्थ अर्थात् ठीक स्वभाव में स्थित हुआ कफ शरीर में बल और ओज कहा जाता है । और वही कफ विकृत होने से मल=दोष और पाप कहा जाता है] ॥ ७ ॥

और जो-जो जीवनदायी है, वह सब 'सोम' कहा जाता है । यही अर्थ लोक में और वेद में सोम का व्यवस्थित है ॥ ८ ॥

लोक और वेद का स्पष्टीकरण प्रसङ्गवश बतलाते हैं—

अनन्त विश्व के कर्त्ता परमात्मा के कर्म भी अनन्त हैं । जगद् वेद का व्याख्यान है, और वेद विश्व को प्रकाशित करने वाले हैं ॥

[जगद् वेद का व्याख्यान—हम देखते हैं कि जगत् और वेद प्राचीन काल से चले आते हैं । वे दोनों जीव के उपकारक हैं । उन दोनों में वेद का जगत् व्याख्यान है, और वेद जगत् के रहस्य को प्रकाशित करता है ।

जैसे कि आयुर्वेदज्ञ कहते हैं—'पुरुष लोक से सम्मित है' । जैसे पुरुष का शिर द्युस्थानीय है, जिस प्रकार से द्युलोक में सूर्य आदि ज्योतिर्मय पदार्थों का भ्रमण दिखाई पड़ता है, वैसे ही द्यु के कारण शिर में स्थित ज्ञान-प्रधान इन्द्रियों का नाम 'ज्योति' भी है ।

सूर्य्यादीनां ज्योतिषां भ्रमणं दृश्यते, तद्वद् द्युवशात् शिरः स्थान-प्रधानानामिन्द्रियाणां ज्योतिरपि नाम। तद्यथा—मनसो विशेषणत्वे 'ज्योतिषां ज्योतिः' इति यजुषि (अ० ३४। मं० १२) उक्तत्वात्। खे सद्भावादिन्द्रियाणि खान्यपि। भवति चेदं समानं लोकेन।

मध्यमश्च भागः शरीरस्याऽन्तरिक्षस्थानीयस्तत्र प्रत्यक्षतो मध्यं भागमवलम्ब्यालम्बमानौ हस्तौ दृश्येते। अधोभागश्च शरीरस्य पृथिवीस्थानीयः, अत एव पादौ पादा वा पृथिवीमालम्ब्य चलनक्रियां कुरुतः कुर्वन्ति वा। दृश्यते च पुनरेकस्मिन्नेकस्मिन्नपि शरीर-विभागे त्रित्वम्। तद्यथा ऊर्ध्वांगे—भ्रुवोरूर्ध्वम् ललाटम् द्यौःस्था-नीयम्। भ्रूत ऊर्ध्वोष्ठं यावत् मध्यमो भागः अन्तरिक्षस्थानीयः, ऊर्ध्वोष्ठादारभ्य कण्ठास्थि यावदधोभागः पृथिवीस्थानीयः।

अमुमेवार्थं वेद आह—

'अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन्मादयस्व'॥
यजुः अ० ७। म० ५॥

तथा चापरमुदाहरणम्—

'नक्षत्राणि रूपम्' (यजुः ३१।२२), 'चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः' (अथर्व २।२४।१०) स एव च मनसो देवता, ब्रह्मणो मनस उत्पद्य-मानत्वात् 'चन्द्रमा मनसो जातः' (यजुः ३१।२२)। अत एव च पुरुषः

जैसे मन को यजुर्वेद में 'ज्योतियों का ज्योति' ऐसा कहा गया है। आकाश में विद्यमान रहने से इन्द्रियों को ख=आकाश भी कहते हैं, अर्थात् संस्कृत में आकाशवाची 'ख' शब्द से इन्द्रियों का भी ग्रहण होता है। और यह लोक के साथ बिल्कुल मिलता है।

जैसे लोक में मध्यम भाग अन्तरिक्षस्थानीय है, वैसे ही प्रत्यक्षरूप से मध्यम भाग को आश्रित करके पुरुष के हाथ लटकते हुए देखे जाते हैं। जैसे लोक में नीचे का भाग पृथिवीस्थानीय है। इसीलिये प्राणियों के पैर पृथिवी का सहारा लेकर गमन-क्रिया करते हैं। और फिर एक-एक में भी त्रित्व दिखाई देता है। इसी अर्थ को वेद ने कहा है—'अन्तस्ते द्यावापृथिवी' इत्यादि।

नक्षत्र रूप-स्वरूपवाले हैं, और चन्द्रमा नक्षत्रों का राजा है। तथा वही चन्द्रमा मन का देवता है। इसीलिये पुरुष कार्य को आरम्भ करता हुआ प्रथम उसको रूप से पहिचानता है। और पुनः उसको मूर्तरूप में परिवर्तित

कार्यमारभमाणः प्रथमं तद् रूपतोऽध्यवस्यति, ततस्तन्मूर्त्तरूपेण वितनुते । लोकेऽपि च स्त्री चन्द्रस्थानीया रूपतां पशूनां अर्थात् शिशूनां प्रसवित्र्याः सद्भावात् । वक्ति च वेदः–'वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः' (अथर्व० १४।२।२५) पश्यतिमात्रत्वात् पशवः, नानारूपा नक्षत्राणां बहुत्वात् रूपत्त्वाच्च समान भवति नक्षत्रेण चन्द्रमसा च । यथा—यस्मिन्वर्षे चन्द्रमसो मासो वर्धते, तस्मिन्वर्षे स्त्रियोऽपि रजसो मासो वर्धते । अतो भवति च नूनं समानं वेदोक्तं लोकेन ।

तथा च स्पष्टमुपदिशति वेदः–यो वै पक्षिणामुत्पतनं विपतनञ्च वेद स समुद्रियं नावं वायुयानं च वेद, अथवा जल-स्थल-नभश्चरं नावं वेद । समुद्रशब्दोऽत्रान्तरिक्षपर्यायः, अत एव वायुयानं विमानशब्देनाऽपि च व्यवह्रियते । यथा च मन्त्रः—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् ।
वेद नावः समुद्रियः ॥ ऋ० १।२५।७॥

उपमाश्चापि लौकिक्यः–'सुषारथिरश्वानिव' (यजुः ३४।६); 'गावो न यवसेष्वा'; 'मर्य इव स्व ओक्ये' (ऋ० १।९१।१३);

करता है । लोक में भी स्त्री चन्द्रस्थानीया है, क्योंकि वह रूपवाले शिशुओं को उत्पन्न करती है । इसीलिये वेद कहता है—'इस स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होते हुए नाना रूपवाले शिशु चिरञ्जीव हों' ।

स्वार्थ देखना मात्र प्रयोजनवाले होने से शिशु 'पशु' पद वाच्य हैं । नानारूपत्व नक्षत्रों के नाना होने से तथा रूपवाला होने से नक्षत्र और चन्द्रमा के तुल्य हैं । जिस वर्ष में चन्द्रमा के मास की वृद्धि हो जाती है, उस वर्ष में स्त्री का रजोमास भी बढ़ जाता है । अतः निश्चय ही वेदोक्त वचन लोकसम्मत होते हैं ।

वेद कैसे स्पष्ट शब्दों में उपदेश करता है—'जो पक्षियों के उत्पतन= ऊपर को उड़ना, विपतन=नीचे को गिरना को जानता है, वह अन्तरिक्ष नाव तथा वायुयान आदि को भी जानता है' । समुद्र शब्द यहां अन्तरिक्ष का पर्यायवाची है । इसीलिये वायुयान विमान शब्द से भी व्यवहृत होता है । वेद कहता है—'वेदा यो वीनाम्०' इत्यादि ।

वैदिक उपमायें भी लौकिक हैं—'सुसारथी जैसे प्रग्रह से घोड़ों को चलाता है'; 'सूर्यचन्द्र की भांति'; 'मनुष्य जैसे अपने घर में आता है' ।

'सूर्याचन्द्रमसाविव' (ऋ० ५।५१।१५)। यथाऽसङ्ख्यात-विकल्पनै-विकल्पतामुपगतमिदं जगत् प्रेक्षावतामपि बुद्धिं विस्मापयति, न च तस्यानन्तज्ञानवतो भगवतः कृतस्यानन्त-विज्ञानानां मूलभूतस्य जगतः पारमुपगच्छति प्राज्ञः, अनेनैव प्रकारेण वेदज्ञानमपि लोके प्रेक्षावतां बुद्धिं प्रकाशयति।

गुरुर्वा परम्परा-प्राप्तं ज्ञानमुपदिश्य बृहत्तमं जगत्स्वल्पकेन कालेन छात्रं विज्ञापयति। येन च भवन्ति स्म पुरा—'पराऽपरज्ञाः, विदितवेदितव्याः, अधिगतयाथातथ्याश्च ऋषयः'। ये खलु कोष-सहायेन शब्दान्तरैरेव वेदशब्दान् पिषन्ति ते नूनमनर्थयन्ति वेदान्।

किञ्चिदात्मविषये प्रसङ्गप्राप्तमुच्यते—

मया हि बाल्ये सस्वरं वेदा अधीताः, तत्रापि च सामवेदः कौथुमीयशाखायाः–ग्रामेगेयगान–आरण्यगान–ऊहगान–ऊह्यगान-भेद-पुरस्सरं पठितः। वाराणसिवास्तव्येभ्यः कुलपरम्परातः सामवेद-विद्भ्यः श्रीशङ्कररामत्रिपाठिभ्यो गुर्जरब्राह्मणवंशोद्भवेभ्यः साम-

जिस प्रकार असंख्य विकल्पनों से विकल्पता को प्राप्त हुआ यह जगत् बुद्धिमानों की बुद्धि को भी चकित कर देता है, और उस अनन्त ज्ञानवान् भगवान् के लिये अनन्त विज्ञानों के मूलभूत इस जगत् का कोई भी विद्वान् पार नहीं पा सकता। इसी प्रकार वेदज्ञान भी लोक में बुद्धिमानों की बुद्धि को प्रकाशित करता है।

अथवा गुरु परम्परागत ज्ञान का उपदेश करके बृहत्तम जगत् को बहुत थोड़े काल में छात्र को बतला देता है। जिससे प्राचीन काल में ऋषि लोग परापर के ज्ञाता, विदितवेदितव्य और अधिगतयाथातथ्य होते थे। और जो केवल कोषों की सहायता से अथवा शब्दान्तरों से ही वेदों को पीसते हैं, वे निश्चय ही वेदों का अनर्थ करते हैं।

कवि प्रसङ्गप्राप्त कुछ अपने विषय में कहता है—

'मैंने बाल्यकाल में सस्वर वेद पढ़े। इतना ही नहीं, अपितु सामवेद की कौथुमीय शाखा के मन्त्र ग्रामेगेयगान, अरण्यगान, ऊहगान, ऊह्यगान भेदज्ञानपूर्वक पढ़ा। वाराणसीनिवासी, कुल परम्परा से सामवेद के ज्ञाता श्री शङ्करराम त्रिपाठी जी गुर्जरब्राह्मणवंशोद्भव से सामवेद का ज्ञान प्राप्त किया। इनका नामकीर्तन कृतज्ञता के लिये है, तथा ज्ञान-परम्परा-ज्ञापन के

ज्ञानं मया लब्धम् । एतेषां नामकीर्त्तनमानृण्याय ज्ञानपरम्परा-ज्ञापनाय च । सामवेदविदां समाजात् 'सामस्वरभास्करः' इति च पदं लब्धं भाद्रपद कृष्ण एकादश्यां मंगलवारे विक्रमाब्दे १९९१, वाराणस्याम् सामगान-प्रसङ्गवशात् सप्ततन्त्र्यप्यभ्यस्ता, वादितञ्चैतत् पुरस्तादुपस्थाप्यमान काव्यं यथाभिमतवारं तद्वशान्नास्मिन्कायेऽति-क्लिष्टपदानां समुच्चयो दुःसन्धीनाञ्च । अतश्चेदं वक्तुमर्ह्यते—'जगद्वेदस्य व्याख्यानं वेदो विश्वप्रकाशकः' इति दिङ्मात्रमुक्तम् ।

लोकज्ञश्चेन्न वेदज्ञो, वेदज्ञश्चेन्न लोकवित् ।
एक-पक्ष-खगस्येव, वाक्यं तस्यावसीदति ॥ १० ॥

[युग्मकम्]

वर्षा—

स्नानं स्वच्छपटं स्रजं परिवहेद् गोधूमशाली जमेत्,
जह्यान्ना सरिताजलं च दिवस-स्वापं मरुत्पूर्वजम् ।
शाकं पत्रमयं श्रमं प्रकुपिता वाचो हिमं नागरं¹,
वर्षर्तौ विकृतं मनोऽवसदनावश्यायमीदृक् च यत् ॥ ११ ॥

१–ग्राम्यधर्मः, मैथुनम् ।

लिये है । तत्तद् विषय के ज्ञाता विद्वत्समाज से 'सामस्वरभास्कर' १९९१ विक्रमीय भाद्रपद कृष्णा ११ मङ्गलवार को यह पद प्राप्त किया । सामगान के प्रसंगवश सप्ततन्त्री=सितार का अभ्यास किया । आपके समक्ष उपस्थित यह काव्य जितनी बार चाहा सितार पर बजाया । इस कारण इस काव्य में क्लिष्ट पदों एवं दुःसन्धियों का समावेश नहीं है । यह उदाहरण-मात्र कहा है ।] ॥ ९ ॥

जो मनुष्य लौकिक ज्ञानवाला हो, किन्तु वेदज्ञ न हो, अथवा वेदज्ञ हो और लौकिक ज्ञान से शून्य हो, उसका वाक्य एक पंखवाले पक्षी के समान अग्राह्य है=निरर्थक है ॥ १० ॥

वर्षाचर्या—

वर्षा ऋतु में मनुष्य स्नान करे । स्वच्छ वस्त्र और पुष्पमाला धारण करे । गेहूं और चावल का भोजन करे । नदी का जल, दिन में शयन, पूर्व दिशा की वायु, पत्तेवाली शाक=भाजी, श्रम, क्रोधपूर्ण वचन, बर्फ, मैथुन, बासी पदार्थ, मन को दुःखित करनेवाले, तथा ओस, ठण्डक बढ़ानेवाली वस्तु, जो विकार करनेवाली हो, उसका सेवन न करे । वर्षा ऋतु में पृथ्वी के भाप

भू-बाष्पादथ निःस्वनाज्जलमुचामम्लेऽन्नपाके जले,
क्षीणे चाग्निबले भवन्ति कुपिता वातादयो दूषकाः ।
व्यक्ताम्लं, लवणं, मरुत्-प्रशमनं, तैलान्वितं चाशनम्,
सेव्यं दीपन-पाचनं लघु च यत्, कौपं जल स्वश्च्युतम् ॥ १२ ॥

[युग्मकम्]

शरद्—

सर्पिः स्वादु कषाय-तिक्तक-रसा यच्छीतलं यल्लघु,
क्षीरं स्वच्छ-सितेक्षवः पटुरसः स्वल्पो मृदुः क्लेदहः ।
गोधूमा यव-मुद्ग-शालि-सहिता [1]नादेयमंशूदकं,
चन्द्रश्चन्दनमिन्दुरादिरजनी माल्यं पटं निर्मलम् ॥ १३ ॥

१—नद्या जलम् ।

विश्रान्तिः सुहृदां गणेषु सरसा वाचः सरः क्रीडनं,
पित्तानां च विरेचनं बलवतो युक्तं शिरा-मोक्षणम् ।
एतान्यत्र घनावसान-समये पथ्यानि, मुञ्चेद दधि—
व्यायामाम्ल-कटूष्ण तीक्ष्ण-दिवस-स्वप्नं हिमञ्चातपम् ॥ १४ ॥

से, और बादलों की घड़गड़ाहट से, अन्न और जल के अरुचिकर हो जाने से वातपित्तादि दूषित होकर कुपित हो जाते हैं। इसलिये कुछ खट्टा, खारा, वायुनाशक, तैलयुक्त, अग्निवर्धक, पाचक और हलका भोजन सेवन करना चाहिये । एवं आकाश से गिरा हुआ, और कुए का पानी पीना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

शरद् चर्या—

घृत, स्वादु, मधुर, कषाय, तिक्त रस, जो शीतल तथा हल्का हो, दूध, मिश्री, खाण्ड, गन्ने, सेंधानमक, क्लेदहर वस्तुएं, गेहूं, जौ, मूंग, चावल, गंगादि नदियों का जल, अंशूदक-हंसोदक, चन्द्रकिरणें, चन्दन, चांदनीरात, मालाएं, स्वच्छवस्त्र, विश्राम, मित्रों के साथ मनोरञ्जन, तालाव में स्नान-क्रीड़ा करना, रेचन लेना, यदि रक्त वहुत दूषित हो तो सिरा व्यधन करना, ये शरद् ऋतु में पथ्य हैं। दधि, व्यायाम, खट्टा, लालमिरची, गरम पदार्थ, तीखे शराब जैसे पदार्थ, दिन में सोना, वर्फ का सेवन, और धूप का सेवन वर्जित है ॥ १३-१४ ॥

विशेषः—

ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः ।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः, सेवनीयः परः क्रमः ॥ १५ ॥

त्रयः स्तम्भाः—

पूर्णमायुष्यमन्विच्छन्, त्रीन् स्तम्भाननुपालयेत् ।
ब्रह्मचर्यमथाहारं, स्वप्नं चापि यथोचितम् ॥ १६ ॥

सुकृतेषु सदा स्वास्थ्यं, विकृतेषु रुजां गणः ।
परं प्रयत्नमातिष्ठेत्, स्तम्भानामनुपालने ॥ १७ ॥

समीकरणम्—

प्रशान्त-वेगान् समुदीरयेन्न, प्रवृद्ध-वेगांस्तु विधारयेन्न ।
नरः प्रयत्नेन जयेच्च रोगान्, न चालसो व्याधिचिकित्सिते स्यात् ॥

विशेष कथन—

प्रत्येक ऋतु के आदि और अन्त के सात-सात=१५ दिन 'ऋतुसन्धि' कहाते हैं। उस ऋतुसन्धि में पूर्व ऋतु की चर्या छोड़ देनी चाहिये, और आनेवाली ऋतु की चर्या सेवन करनी चाहिये। यह सामान्य नियम है ॥ १५ ॥

तीन स्तम्भ—

जो मनुष्य पूर्ण आयु का भोग करना चाहता हो, उसे चाहिये कि शरीर के तीन स्तम्भ—ब्रह्मचर्य, आहार और निद्रा का उचित मात्रा में अनुपालन करे ॥ १६ ॥

यदि पूर्वोक्त तीन स्तम्भ सुकृत हैं, तो सदा स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। यदि वे तीन स्तम्भ विकृत हैं, तो नाना प्रकार के रोग शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि तीन स्तम्भों के अनुपालन का परम प्रयत्न करे ॥ १७ ॥

समीकरण—

साधारण रूप में स्वस्थ रहने के लिये मनुष्य को चाहिये कि प्रशान्त वेगों को उत्पन्न न करे, और उत्पन्न वेगों को न रोके। यदि रोग उत्पन्न हो जाय, तो मनुष्य को चाहिये कि आरम्भ में ही रोग को शान्त करने का यत्न करे। व्याधि की चिकित्सा में आलसी न बने ॥ १८ ॥

नूनं प्रयत्नान्निज-देह-रक्षा, कार्यैव कार्याधिकभीरकेण ।
रोगाः सदा छिद्रमभीप्समाना, वैडालदीक्षाः पुरतो लसन्ति ॥१६॥

धनं बलं व्याधिममित्रशक्तिं, नक्तं दिनं सूक्ष्म-दृशाऽवपश्यन् ।
करोति कृत्यं नहि यात्यहर्षं, पूर्णायुरर्थांश्चिनुते नरः सः ॥ २० ॥

मनोवाक्कायसम्भूतं, कृत्यं कुर्याद् यशस्करम् ।
काले हितं मितं ब्रूयात्, सत्यं हृद्यमसंशयम् ॥ २१ ॥

पश्येदात्म-समं जन्तून्, यथार्हं तेषु वर्त्तयेत् ।
अहृद्यमात्मने यत् स्यात्, परार्थं न तदाचरेत् ॥ २२ ॥

शीलं भोज्यं तथा चर्यां, शीलयेत् स्वास्थ्यदां पुमान् ।
जयेत् खान्यप्रमत्तः सन्, सक्तः खेषु विरुज्यते ॥ २३ ॥

जिस मनुष्य को बहुत अधिक कार्य करना पड़ता है, उस को अपने शरीर की रक्षा के निमित्त पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये । क्योंकि रोग तो सदा ही मनुष्य के प्रमाद या मिथ्याचार की प्रतीक्षा में ही ताक लगाये बैठे रहते हैं । जैसे बिल्ली दूध की पिपासा के हेतु उस पदार्थ के रक्षक की उपेक्षा की प्रतीक्षा में रहती है, वैसे ही रोग भी ॥ १६ ॥

जो मनुष्य धन, बल, शत्रुओं=विरोधियों की शक्ति को खूब बारीकी से दिनरात देखभाल करता हुआ कार्य करता है, वह कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता । तथा पूर्णायु जीवित रहकर प्राप्तव्य अर्थों को प्राप्त करता हुआ सुख से जीता है ॥ २० ॥

मनुष्य को चाहिये कि मन वचन से यशस्कर कार्य करे। एवं समय पर हित, परिमित, सत्य, प्रिय और संशयरहित वाक्य बोले ॥ २१ ॥

सब मनुष्यों=प्राणियों को अपनी आत्मा के समान सुखःदुख का अनुभव करनेवाला समझे । इसलिये जो-जो अपने प्रति अप्रिय समझे, उस व्यवहार का दूसरों के प्रति प्रयोग न करे ॥ २२ ॥

मनुष्य को चाहिये कि उस प्रकार के शील-स्वभाव, आहार-विहार तथा आचरण का अभ्यास करे, जो स्वास्थ्यप्रद हो । इन्द्रियों का सावधानी से निग्रह करे । क्योंकि इन्द्रियों के वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकार के रोगों को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

हितमेवानुरोद्धव्यं, प्रसमीक्ष्य मनीषिभिः ।
यदवद्यं भवेद्यत्र, हेयं तत् तदुदीरितम् ॥ २४ ॥

उपसंहरति—

'ज्योतिषां ज्ञानमाश्रित्य, सर्वं तत्रोपपत्तिमत् ।
वक्ष्यते तत् पृथग् ज्ञानं, दोषाश्रित्येदमस्ति नः ॥ २५ ॥

१—अत्रेदमवधेयम्—

बहुधा सत्पुरुषेभ्यो वृद्धेभ्यश्च श्रुतं, किञ्च महाभाष्ये पस्पशाह्निकस्य 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्रभाष्येऽपि पठितं, यत् 'एवं हि श्रूयते—यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परावरज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्यास्ते तत्रभवन्तो यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते' इत्यादि । ततः परं मम मनसि बहुतरात् कालात् प्रश्नोऽयं जागर्ति स्म यत्—कालस्तु मनुष्यजीवने परिमितः, ज्ञेयं वेदितव्यञ्चानन्तम् । तस्मात् ते ऋषयः कया ज्ञानपद्धत्या विदितवेदितव्या उताधिगतयाथातथ्या वा भवन्ति स्म ? एष च मे दृढतरो विश्वास आसीद्, यन्नूनं नाम काचन ज्ञानपद्धतिर्भविष्यति यया ते स्वल्पकालेन विदितवेदितव्या भवन्ति स्म । प्रमाणञ्चात्र–यद् यद् आर्षं विधानं विद्यते, तद् तद् यथा परीक्षाभिः

मनुष्यों को चाहिये कि पूर्ण तर्क-वितर्क करके जो हित हो उसी का सेवन करें । जहां जो दोष हो, उसके उस दोष को छोड़ें । अर्थात् गुणार्जन में प्रयत्नशील रहें, और दोषों का अनुकरण न करें ॥ २४ ॥

अन्त में कवि उपसंहार करता हुआ कहता है कि—

मैंने यह थोड़ा सा वात-पित्त कफ को ध्यान में रखकर लिखा है । [कवि ने वात-पित्त-कफ का आश्रय लेकर नाड़ी परीक्षा पर एक प्रौढग्रन्थ 'नाड़ीतत्त्वदर्शन' लिखा है ।] कवि एक प्रौढ प्रबन्ध ज्योतिष के सिद्धान्त को आधार बना कर लिखना चाहता है । जिस के विषय में वह उस वक्ष्यमाण ग्रन्थ का संकेत करता है ।

[कवि ने बहुत तप से वैद्यक और ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त किया है, और आर्ष ग्रन्थों में पढ़ा तथा सत्पुरुषों से सुना है कि—'ते हि ऋषयः खलु विदितवेदितव्याः, अधिगतयाथातथ्याः' आदि विशेषणों से युक्त किये जाते रहे । सो यह जिज्ञासा कवि के मन में चिरकाल से काम करती रही कि वह

परीक्ष्यते तथातथा सुवर्णमिव सत्यदीप्त्या देदीप्यमानं प्रकाशतेतराम्। सा नाम विद्याऽऽसीदस्ति च ज्योतिषां विद्या । यया पद्धत्या वेदे सृष्ट्युत्पत्तिवर्णने प्रकाशितम् । तामेव विवक्षुणा मया 'ज्योतिषां ज्ञानमाश्रित्य सर्वं तत्रोपपत्तिमत्, वक्ष्यते' इति सङ्केतितम् ।

विद्या चैषा 'सुधाकरद्विवेद'-शिष्याच्छ्रीपूर्णचन्द्रत्रिपाठिनो ज्योतिषाचार्यादधिगता । वैदिकञ्च विज्ञानं शिलाङ्गछावनीपर्वतस्थ-योगिराजादालब्धज्ञानात् क्षत्रियवंशोद्भव-धवन-गोत्रीय-श्रीहरमल्ल-महोदयादधिगतम् । एतत्कृतज्ञता प्रकाशनमानृण्याय ज्ञानपरम्परा-ज्ञापनाय च ।

अत्रेदं अस्मत् पद्यम्—

ज्योतिषां भ्रमतां भेषु, रूपमष्टोत्तरं शतम् ।
वेद्मि वच्मि मनोभावान्, ततोऽस्म्यष्टोत्तरं शतम् ॥

इति तस्मादेव यत्रतत्र '१०८ श्री' पदसंयोजनं विधीयते ।



पञ्चमाध्यायस्य 'स्वातन्त्र्यीयः' चतुर्थः पादः

स्वातन्त्र्य-सूत्रम्—

मानवो दासतां याति, समुत्पाद्य प्रयोजनम् ।
नियच्छेत् सुतरामर्थं, यदीहेत स्वतन्त्रताम् ॥ १ ॥

१—अर्थम्=द्रव्यं प्रयोजनं वा ।

कौनसी पद्धति थी कि जिससे वे ऋषि विदितवेदितव्य बनते थे ? पुनः भाग्यवश इस मार्ग के उपदेशक मिले, जिन्होंने कविको ज्योतिष मत से इस विश्व का अन्योन्यानुस्यूतत्व=एक दूसरे का एक दूसरे में निबन्धन बताया । कविने उस ज्ञान द्वारा ज्योतिष के सारभूत १०८ के विज्ञान को जाना । अतः उस वक्ष्माण ग्रन्थ के प्रति 'सोपपत्तिमत्' पद का निर्देश किया है । अर्थात् इस "सत्याग्रह-नीति काव्य" में यत्रतत्र कवि के नाम से पहले '१०८ श्री' इस पद का संयोजन किया है] ॥ २५ ॥



स्वातन्त्र्य-सूत्र—

मानव स्वयं ही प्रयोजन उत्पन्न करके दासता को प्राप्त करता है । यदि वह स्वातन्त्र्य चाहता हो, तो उसे चाहिये कि वह अपने द्वारा उत्पन्न

महत्त्व-प्राप्त्यै सूत्रम्—

महत्त्व-सूत्रमालम्ब्य, तरन्ति लघवो जनाः ।
तस्मान्महत्त्वमातिष्ठेत्, संयमात् सत्यभाषणात् ॥२॥

सेनानीः केन हेतुना वञ्चितो भवतीति ज्ञापयितुं सूत्रम्—

अजित्वा त्वन्तरङ्गान् ये, बहिरङ्गानुपासते ।
अन्तरङ्गैर्निजैर्मूढा, वञ्च्यन्ते पिक-काकवत्[1] ॥ ३ ॥

१—पिकः कृष्णः काकोऽपि कृष्णः, उभावपि च पक्षिणौ । अन्तरंगश्च पिकः काकं प्रति, तथापि काकः पिकेन वञ्च्यते न चान्यैः पक्षिविशेषैरिति भावः । तस्मादन्तरंगानेव पर्यालोचयेन्न तु बहिरंगान् । गौणत्वाद् बहिरंगानाम् । गदन्ति च वैयाकरणाः 'अन्तरंग-बहिरंगयोरन्तरंगे कार्यसम्प्रत्ययः' ।

अर्थिभ्य आश्रयाधिक्यं न प्रयच्छेत्—

वृक्षच्छायां यथाऽऽसाद्य, याता संश्रयमिच्छति ।
तथाऽर्थी चाश्रयं प्राप्य, स्वार्थ-सिद्धिं समीहते[1] ॥ ४ ॥

१—आश्रयप्रदातारेमवाभिभावयितुमीहत इति निर्गलितोऽर्थः ।

किये गये प्रयोजन पर नियन्त्रण रखे ॥ १ ॥

महत्त्व-प्राप्ति का सूत्र—

निम्न कोटि के मनुष्य भी महत्त्व के सूत्र का आलम्बन लेकर अपनी कठिनाइयों से पार हो जाते हैं। इसलिये संयम और सत्यभाषण से मनुष्य महत्त्व प्राप्त करे। क्योंकि संयम का अभ्यास और सत्यभाषण ही साधारण मनुष्य को महान् बनानेवाले संक्षिप्त साधन हैं ॥ २ ॥

नीति-वचन—

जो अपने अन्तरङ्गों को विना जीते बहिरङ्गों की उपासना करते हैं, वे मूढ़जन अपने ही व्यक्तियों से ठगे जाते हैं। जैसे कौआ पिक=कोकिला से ठगा जाता है। क्योंकि वे दोनों ही काले होने से अन्तरङ्ग हैं ॥ ३ ॥

जैसे वृक्ष की छाया को देखकर पथिक आश्रय चाहता है, वैसे ही स्वार्थी=याचक आश्रय पाकर स्वार्थ साधना चाहता है। अतः आश्रय देते समय सावधान रहे ॥ ४ ॥

पथिकाय जलादिकं प्रयच्छेत्—

पथिकायामृतं[1] दद्याद्, विश्रमायाश्रयं तथा ।
लब्ध-तेजः प्रदातारं, स्वपुण्यैरभिवर्धते[2] ॥ ५ ॥

१—अमृतं जलं, अथवा तत्सर्वममृतमत्राभिप्रेतं यद् यस्य जीवनायालं स्यात् । २—अन्तर्भावितण्यर्थः प्रयोगः, अत एव सकर्मकः ।

अवश्यपाल्यानभिदधाति—

स्वपित्रोः[1] पालनं लोके, पालनं पोषकस्य च[2] ।
पालनं ज्ञानदातुश्च[3], दुःखं सोढ्वाऽपि युज्यते ॥ ६ ॥

१—मातुः पितुश्च । २—वृत्तिप्रदातुः । ३—ज्ञानदातुः गुरोरिति ।

सुखप्रदानं स्वरूपतो वर्णयति—

वृद्धानामथ रुग्णानां, पूज्यानां सुहृदां तथा ।
आपत्तिमात्मसात् कृत्वा, सम्पदस्तेषु चार्पयेत् ॥ ७ ॥
एकः सुखी व्यथी चान्यो, द्वयोः कालः समस्त्विह ।
सुखदुःख-विपर्यासः, सुखदानमिहोच्यते ॥ ८ ॥

घर आये हुए पथिक को पीने के लिये पानी और विश्राम करने के लिये स्थान देवे । क्योंकि वही पथिक लब्धतेज हो जाने पर अपने पुण्यों से आश्रयदाता को अभिवर्धित करता है, अर्थात् आशीर्वाद देता है ॥५॥

निम्नलिखितों का पालन अवश्य करे—

अपने माता-पिता, पोषक और ज्ञानदाता गुरु का लोक में दुःख सहन करके भी पालन करना चाहिये ॥ ६ ॥

'उन्हें सुख कैसे पहुंचाया जाय' यह स्पष्ट करते हुए कवि कहता है कि—वूढ़े रोगी, पूज्यजन और मित्रों की विपत्ति को अपने ऊपर झेलकर उन्हें सम्पत्ति-सुख अर्पित करे ॥ ७ ॥

एक सुखी है और दूसरा दुःखी, किन्तु समय दोनों का समान है । यहां सुख-दुःख का विपर्यास=अदला-वदली सुखदान कहलाता है । अर्थात् किसी को सुख देने का अर्थ उसके दुःख को स्वयं सहन करना, तब ही दूसरा सुखी हो सकता है । जैसे किसी ने शीतकाल में पानी मांगा, उसको जो कुएं से पानी लाकर देता है, वह उसके बदले में शीत सहन करता है,

इतो विपरीतो वञ्चकस्तं लक्षणतो वर्णयति—

सुखं यस्त्वात्मनो हातुं, मर्त्यो नेच्छति वाक्पटुः ।
वाचाल इन्द्रियारामो, नियतं वञ्चको हि सः ॥ ६ ॥

शूनो निबन्धनं वर्णयति—

समदो वृषभः सत्य ! नध्रेण[1] नृवशं व्रजेत् ।
स्त्रिया वा सत्यज्ञानेन, युवा तद्वन्नियम्यते ॥ १० ॥

१–नध्रं=पशूनां नासा-रज्जू ।

भर्त्सनातिशयं निषेधयति—

श्वानोऽपि धिक्कृताः सन्तस्त्यक्त्वा यान्ति स्वपालकम् ।
किं पुनर्मानुषाः सत्य ! तस्मान्नात्याशु भर्त्सयेत् ॥ ११ ॥

जीवन् मृतः कः—

सर्वेषु देहेषु विराजतेऽयं, सच्चिन्मयः प्राणकलाभिरामः ।
तस्मिन्स्थिते कं मृतमाहुरत्र ? विद्यार्थिनं, चित्रमतः परं किम्[1] ॥१२॥

१–स्वयं मया सहैतत् वृत्तम् ।

और अपना आराम उसको देता है। अन्यथा जलार्थी स्वयं कुएं पर जाता ।। ८ ।।

जो वाकपटु केवल वाणी से ही 'हां-हां, अभी जाता हूं, थोड़ी देर रुकिये' इत्यादि कहकर अपने सुख का त्याग नहीं करना चाहता, वह वाचाल है। इन्द्रियों में रमण करनेवाला और स्वार्थी है। अतः वह निश्चय ही वञ्चक है, समय को टाल रहा है ।। ६ ।।

हे सत्यदेव ! जैसे मदमत्त बैल नासारज्जु=नथनों के द्वारा मनुष्य के वश में हो जाता है। वैसे ही तरुण युवक अथवा उद्धत मनुष्य स्त्री अथवा सत्य-ज्ञान से वश में किया जाता है ।। १० ।।

दुत्कारने पर कुत्ते भी अपने पालक को छोड़कर चले जाते हैं, तो हे सत्यदेव ! फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या ? अतः किसी की भी अत्यधिक भर्त्सना न करे ।। ११ ।।

जीवित होता हुआ भी मुर्दा कौन है ?

सत् और चित्, प्राण कला में अभिरमण करनेवाला वह आत्मा सब देहों में विराजमान है। उस आत्मा के शरीर में रहते हुए भी संसार में

कविरात्मनोऽध्ययनकाले भोजनं पचन् तत्पात्राण्युन्मृदन्नुत्क्रान्तः सन् पद्यं प्रणयति—

विद्यायाः पठनं भवेन्न कठिनं विद्येप्सुकेभ्यः क्वचित्,
त्यक्त्वा सद्मसुखं निशोत्थमथवा, तप्त्वा तपो दुस्तपम् ।
सन्तोष्याथ गुरून् यथार्हमनसा,[1] स्मृत्वाऽप्यवाच्यं[2] पदम्,
सम्पाद्यान्नमहर्निशं, यदि भवेन् नो पात्रमृष्टिर्जना: ॥ १३ ॥

१-यथा गुरुजना वाञ्छन्ति तथाविधेन मनसेति भावः ।

२-काठिन्येन ये मुखाग्रमुपतिष्ठन्ति, तथा—'टिड्ढाणञ्द्वयसज्' इत्याद्युपलक्षणम् । ३-पात्राणां मार्जनम् । यद्धि स्वयं भोजन-पाचनं स्वयं च तेषामुन्मर्दनम् । तद्धि महते क्लेशाय कल्पते ।

अति सर्वत्र वर्जयेत्—

निपुणोऽपि यथा काकः, पिकेन परिवञ्च्यते ।
तथा कर्मातिकुर्वन्ना, कर्मणा तेन वञ्च्यते ॥ १४ ॥

विद्यार्थी को मृत कहते हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है ? अर्थात् विद्यार्थी का कोई मूल्य ही नहीं समझा जाता। कवि इस मनोवृत्ति पर खेद प्रकट करता है। क्योंकि स्वयं उसके साथ भी ऐसा दुर्व्यवहार होता रहा है ॥ १२ ॥

कवि अपने पठन के समय भोजन बनाने से और पात्र मांजने से ऊब-कर कहता है—

हे मनुष्यो ! घर के सुख को छोड़कर और रात्रि के सब शयनसुख को भूलकर कष्टसाध्य तप करते हुए गुरुजनों को उनकी इच्छानुसार प्रसन्न रखना, तथा कठिन 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' जैसे बेसुरे सूत्रों को रटकर, दोनों समय अपने हाथों से भोजन बनाकर विद्या-भिलाषियों के लिये विद्याध्ययन कभी कठिन प्रतीत न हो। यदि भोजन-पाकोत्तर उसके बर्तनों के माँजने का कष्ट न हो। अर्थात् पात्र-प्रमार्जन सब से अधिक मनःक्षोभक होता है। परन्तु अर्थकृच्छ्रता से करना पड़ता है, जिससे ऊबकर छात्र विद्याध्ययन छोड़ जाते हैं ॥ १३ ॥

सर्वत्र अति करना छोड़ देवे—

कौआ चतुर होने पर भी जैसे पिक के द्वारा वञ्चना को प्राप्त होता है, वैसे ही मनुष्य जिस कर्म की अति कर देता है, वह अतिक्रियमाण कर्म ही उस अतिकर्त्ता को क्षीण कर देता है ॥ १४ ॥

अतिस्नेहोऽपि दोषावहः—

अतिस्नेहयुता भूमिनूनं संशय-जन्मदा ।
तस्मान्न रागिभिर्भाव्यं, संशीतेर्भय-भीरुभिः ॥ १५ ॥

दुःखान्मुक्तेरुपायं वक्ति—

महान्तमप्यर्थमनर्थयुक्तं, जहाति यो दूरत एव विद्वान् ।
दीप्त यशः शान्तिमथाभ्युपैति, विमुक्त-दुःखो रमतेऽमृते[1]स्वे ॥ १६ ॥

१—अमृतं=मनः । 'ज्योतिरमृतं प्रजासु' इति यजुषो (३६।३) लिङ्गात् । आत्मा चामृतः, अत्रोभयोर्ग्रहणमभीष्टम् ।

[युग्मकम्]

नरानात्मानं प्रति नमयितुं नमस्कारयितुं वा सूत्रं द्वाभ्यां पद्याभ्याम्—

लोके नरं सत्य-पथेऽभ्युपेतं, नमन्ति लोका अभितः समिद्धाः ।
यस्यास्ति वाञ्छा प्रणतौ जनानां, यत्नाच्चरेन्मार्गमकिल्विषं सः ॥१७

अति स्नेह भी हानिकर है—

अत्यन्त स्नेह (जिसमें वा जिसके प्रति है, वह) निश्चय ही संशय को उत्पन्न करनेवाला होता है । अतः जो संशय से भयभीत हैं, उनको चाहिये कि वे किसी वस्तु=पुत्र, मित्र, भृत्य, शिष्य, पशु वा पक्षी पर भी अत्यन्त अनुराग न करें ॥ १५ ॥

दुःख से मुक्ति का उपाय—

जो विद्वान् अनर्थपूर्ण बड़े-से-बड़े अर्थ को दूर से ही त्याग देता है, वह उज्ज्वल यश और शान्ति को प्राप्त करता है । तथा दुःख से छुटकारा पाकर अपने अमृतत्व में रमण करता है । अर्थात् अपने मन में प्रसन्न=मस्त रहता है ॥ १६ ॥

दो पद्यों द्वारा कवि बतलाता है कि जनता किसके सामने झुकती है—

सत्यमार्ग पर चलते हुए मनुष्य को संसार में चारों ओर से पुरुष एकत्र होकर नमस्कार करते हैं । इसलिये जो मनुष्य यह चाहता है कि मुझे सभी नमन करें, सो वह निष्पाप सत्यपथ का यत्नपूर्वक अनुसरण करे ।

सूपाय उक्तो धनमन्तरैव, मर्त्य-प्रतिष्ठाऽस्ति यमेषु बद्धा ।
कौपीन-वासेऽथ दिगम्बरे वा, प्रह्वीभवन्त्याप्त-जने न भूपे¹ ॥ १८ ॥

१–'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' इत्युक्तत्वात् ।

भक्त-शूर-वीर-धीरान् निरूपयति—

यः प्रीणयेत् सुचरितैर्धरणीं स भक्तो,
यः संस्कृतिं वितनुयात् सरणौ स शूरः ।
भाषां च यो व्यवहरेन्निजकां स वीरो,
भूषां निजां परिवसेत् सततं स धीरः ॥ १९ ॥

येनैवान्न-प्रदानेन, धरा पुष्णाति सज्जनम् ।
तेनैव दुर्जनं चापि, दुर्जनं तु विषायते ॥ २० ॥

प्रेम्णा वर्तितव्यमिति विवदिषुः प्रेमशब्दं लक्षणतो विवृणोति—

राग-द्वेष-विनिर्मुक्ता, सत्य-स्नेह-समन्विता ।
या भक्तिः पुंसि देवे वा, वेदे प्रेम तदीरितम् ॥ २१ ॥

सत्यमार्ग=अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अवलम्बन बिना किसी व्यय के मनुष्य को प्रतिष्ठित बनाना है । सत्यमार्गावलम्बी आप्तजनों के प्रति संसार झुकता है । चाहे वे कौपीनकारी हों अथवा नग्न । तथा जिस श्रद्धा से जनता उनको नमन करती है, उतना राजा वा नेता को भी नहीं करती ॥ १७-१८ ॥

कवि भक्त-शूर-वीर-धीर का निरूपण करता है—

जो सच्चरित्रों के द्वारा पृथ्वी को आनन्दित करता है, वह भक्त है । जो संस्कृति को उत्तरोत्तर समुन्नत बनावे, वह शूर है । जो अपनी भाषा में व्यवहार करे, वह वीर है । और जो सदा स्वदेश की ही भूषा को धारण करे, वह धीर है ॥ १९ ॥

पृथ्वी जिस अन्न-प्रदान से सज्जन का पालन करती है, उसी से दुर्जन का भी पोषण करती है । किन्तु सज्जन उससे अमृतोपम बनता है, और दुर्जन विष के समान बनता है ॥ २० ॥

प्रेम का लक्षण—

राग द्वेष से रहित, और सत्य स्नेह से युक्त जो प्रीति देवता में अथवा पुरुष में हो, वेद में उसे प्रेम शब्द से कहा गया है ॥ २१ ॥

क्रोधजिदेव पण्डितो भवति—

क्रोधाविष्टः स्वकं क्रोधं, जहाति यत्र सङ्गतः ।
अप्सु क्षिप्तो यथा वह्निस्तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ २२ ॥

क्रोधजित्सु दोषं दर्शयति—

एकः क्रोधजितां दोषो, द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्रोधजेतारमशक्तं मन्वते जनाः ॥२३॥

सत्याग्रहस्य विरामसन्ध्यनन्तरं कारातो बहिरागत्य सामान्येन पुरुषान् प्रति—

आशीर्वचोभिः सुमनःप्रतानैर्हृद्यैश्च खाद्यै रुचिरैः फलैश्च ।
सत्कारजातं विविधं समीक्ष्य, नरानुपेतान् बहुशो नमामि ॥२४॥

गुरुं प्रति—

कार्यं न तादृग् गहनं न तादृक्, कृतं मया सोढमथापि पूज्य !
सत्योपदेशैर्धृतिमानभूवं, धृतिर्हि सा ते भवते नमोऽस्तु ॥२५॥

क्रोधजित् ही 'पण्डित' होता है—

क्रोधी मनुष्य जिसको प्राप्त करके क्रोधमुक्त हो जाता है, जैसे कि आग पानी में पड़कर शान्त हो जाती है, उस संयमी मनुष्य को बुद्धिमान् 'पण्डित' शब्द से सम्बोधित करते हैं ॥ २२ ॥

क्रोध को जीतने में गुण तो अनन्त हैं, परन्तु इस क्रोध को जीतनेवाले मनुष्य में केवल एक ही दोष है दूसरा नहीं, कि इसको मनुष्य अशक्त असमर्थ अर्थात् नपुंसक मानते हैं ॥ २३ ॥

सत्याग्रह समाप्त होने के पश्चात् कारागार से बाहर आकर जनता एवं आत्मीय जनों को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है—

आशीर्वचन कहते हुए, पुष्पमालाओं से स्वागत करते हुए, उत्तम खाद्य-सामग्री समर्पित करते हुए, तथा उत्तमोत्तम फलों के द्वारा किये गये सत्कार को देखकर उपस्थित नागरिकों को मैं नमस्कार करता हूं ॥२४॥

गुरु के प्रति—

यह सत्याग्रह का कर्म साधारण नहीं था, और न साधारण दुःख-सहन से सफल ही होने वाला था। साथ ही मैंने इस कार्य में न तो कोई महान् बलि दी है, और न महान् कष्ट ही सहन किया है। अतः (कवि प्रथम अध्याय

मातृभ्यः—

प्रह्वीभवाम्येव सदा सुमातृर्याभिः प्रणुन्नो धृतिमानभूवम् ।
मत्कर्मचित्रं न हि किञ्चिदस्ति, मन्ये बलं वः प्रथमं बलेषु ॥२६॥

सत्याग्रहिमातुः स्तुतिं चिकीर्षुरात्मनो जननीमेव सर्वासां प्रतीकेन स्तौति—

संसोढुमापत् पदमत्र नुन्नः सत्याग्रहित्वं च मया ययाऽप्तम् ।
मान्यां सुधन्यां स्वगुणैर्वदान्यां, तां द्रौपदीं मातरमानमामि ॥२७॥

सत्याग्रहिणः स्तुतिः—

सत्याग्रहिन्! त्वां प्रणतोऽस्मि भूयः सत्ये स्थितोऽस्यात्ममनःक्रियाभिः
प्रियायसे येन नृणां समाजे, सत्यव्रतं ते स्पृहयन्ति लोकाः ॥२८॥

अथेदानीं प्रसंग-प्राप्तं विरामसन्धिं निरूपयति—

के क्षुत्क्षामीय पाद में वर्णित दुर्वृत्त को नगण्य समझता हुआ कहता है कि) इसमें मेरी बहादुरी नहीं है, केवल मैंने कर्त्तव्य का पालन किया है। वह भी हे गुरुदेव ! आपके सत्य उपदेश से इसमें धैर्यशील बना रहा। यह आपकी ही कृपा का फल है ॥ २५ ॥

माताओं के प्रति—

मैं सदा उन माताओं के समक्ष अवनत होता हूं, कि जिनके द्वारा प्रेरित होकर इस सत्याग्रह में मैं (एवं मेरे साथी) धृतिमान् बने। इस कार्य में आश्चर्यकारी कुछ नहीं है। और मैं तो यही मानता हूं कि उसमें प्रथम बल आपका ही है ॥ २६ ॥

अब सत्याग्रही कवि अपनी माता को ही सब सत्याग्रहियों की माता मानकर स्तुति करता है—

यहां आपत्ति-स्थान को सहन करने में प्रवृत्त होकर जो मैंने सत्याग्रही पद प्राप्त किया, उसकी सर्वादिम प्रेरणादात्री मान्य धन्य और अपने गुणों से अग्रगण्य ऐसी 'द्रौपदी' माता को मैं प्रणाम करता हूं ॥ २७ ॥

सत्याग्रही की स्तुति—

हे सत्याग्रही ! तू आत्मा मन और क्रिया से सत्य में स्थित है। जिसके द्वारा मानव-समाज में तू प्रिय बन रहा है तथा संसार तेरे सत्यव्रत की प्रशंसा कर रहा है ॥२८॥

गतं स्वालब्धि-संयुक्तं सन्धिरूप-समापनम् ।
अङ्गनन्दाङ्कचन्द्रेऽब्दे १९९६ श्रावणस्य जिनांशके[1] ।।२९।।

१–चतुर्विंशतितमे सूर्यप्रवेशाह्नि ।

आत्मनः प्रत्यक्षानुभूतिं प्रदर्शयन् स्वयं कृतस्य सत्याग्रहस्य कालं, काव्यं रचनास्थानं कारावासस्याष्टादशमासावधिञ्च विज्ञापयति—

यात्वा पादतलात् स्थलात् पुसदतो[1], तीर्त्वा च पेनां[2] नदीं,
तर्काङ्काङ्कु[3] (१९९६) वत्सरे, गवि[4], गुणाक्ष्यंशे[5], कृतः स्वाग्रहः ।
कारावास-विधिस्तु[6] कर्म-सहितो[7] वस्विन्दुमासैर्मितो,[7]
लब्ध्वैतन्निजभावभावितपदैः काव्यं कृतं सूरयः ! ।।३०।।

१–'पुसद' इति ग्राम नाम, यतो यानसाधनमन्तरैव पद्भ्यां भाग्यनगरस्य सीमोपरि गन्तव्यं भवति स्म। २–पेनगङ्गेति नाम्ना प्रसिद्धा नदी। ३–विक्रमाब्दे १९९६ । ४–ज्येष्ठे मासि । ५–तस्मिन्नहनि त्रयोविंशतितमः सूर्यप्रवेशाह आसीत् । ६–कियाकलापकरणपुरःसरं कारावासदण्डविधानमासीत् । ७–अष्टादशमासपर्यन्तम् ।

कवेर्जन्मकालः—

नन्दतर्काङ्क-चन्द्रेऽब्दे भाद्रे भौमेऽग्नि-भूदिने ।
वसाविष्टे, धनिष्ठायां, गुणपादेऽङ्ग-लग्नगे ।।३१।।

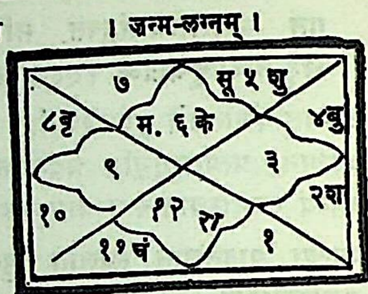
इस (हैदराबाद के) सत्याग्रह की विराम-सन्धि सं० १९९६ वि० श्रावण मास के २४ वें दिन की गई। और वह सत्याग्रह जिस उद्देश्य से चलाया था, उस मांग की पूर्त्ति होने पर सन्धि हो जाने से समाप्त हुआ ।।२९।।

कवि काव्य निर्माण के स्थान समय आदि का वर्णन करता है—

हे विद्वजनो ! जब हैदराबाद राज्य में सत्याग्रह आरम्भ हुआ, तब उसमें सम्मिलित होने के लिये लाहोर से पुसद तक रेल व मोटर से गये, तदनन्तर 'पुसद' गांव से पैदल चलकर पेनगङ्गा नामक नदी पार कर विक्रम सं० १९९६ ज्येष्ठमास के २३ प्रविष्ट के दिन सत्याग्रह किया। तब से १८ अठारह मास तक वहां के दण्ड-विधान के अनुसार क्रिया-कलाप सहित कारावास मिला। उसी समय में अपने भावों से भावित पदों से यह काव्य बनाया है ।।३०।।

कवि का जन्म काल---

वि० सं० १९६९ के भाद्रपद मास में १३वें प्रविष्ट के दिन मङ्गलवार



विक्रमसंवत् १९६९ । भाद्रपदमासि प्रवेशाहः १३ । मंगलवासरे सूर्योदयादिष्ट-घटीः—अष्टौ ८ धनिष्ठानक्षत्रस्य तृतीये चरणे ।। कन्यालग्ने जन्म ।।



प्रसङ्गप्राप्तं काव्यसमाप्तौ श्रीमन्तं सरस्वत्या इवापरं कीर्त्यैक-वरिष्ठं गुरुवरं केदारनाथशर्माणं सारस्वतं नमन् श्लोकयत्यानृण्य-लाभाय ज्ञान-परम्पराज्ञापनाय च—

सन्तीह नाना कविकर्मदक्षाः, केदारनाथोऽस्ति मयाऽत्र वन्द्यः ।
यस्योपदेशैरुतशर्व-दृष्टया, काव्याङ्कनं पूर्तिमगान्ममेदम् ।।३२।।

१—वाराणसीयः श्रीकेदारनाथ-शर्मा-सारस्वतः, श्रीपद्मनाभ शास्त्रिणः पुत्रः, यस्योपदेशैः काव्यकर्मणि दक्षोऽभूवम् । २—शर्वः शिवः, तस्य विघ्नापहारिण्या सौम्यदृष्ट्या ।

कविः काव्यमेतत् समाप्तिमीहमान उपसंहरति—

[1]यच्छुद्धमत्यन्तमपापविद्धं, तदेव सत्यं[2] स हि धर्म उक्तः ।
राजा सभा वा मनुजोऽथ कश्चिद्,[3]यमानुपेक्ष्यैन्द्रियलाभलिप्सुः ।३३

रक्षा पूर्णिमाके दिन इष्टघटी ८ पल० धनिष्ठा नक्षत्र के तृतीयचरण में कन्या-लग्न के समय कवि का जन्म हुआ ।।३१।।

कवि काव्य की समाप्ति पर प्रसंग प्राप्त अपने गुरु श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत का, जिनके उपदेशों से इस काव्य को शुद्ध रूप में पूर्ण करने में समर्थ हुआ, कीर्त्तन करता है—

वर्तमान समय में अनेक विद्वान् कवि-कर्म में दक्ष हैं । परन्तु मेरे द्वारा तो कवि-वृन्दों में वरिष्ठ पं० श्री केदारनाथजी शर्मा सारस्वत ही वन्द्य हैं । क्योंकि इनके उपदेशों और भगवान् शङ्कर की विघ्नापहारिणी कृपादृष्टि से ही मेरा यह काव्याङ्कन (मुद्रापण-क्रिया सहित) समाप्त हुआ । यह कृतज्ञता प्रकाशन आनृण्यलाभ तथा ज्ञानपरम्परा जीवित रखने के लिये है ।।३२।।

कवि इस 'सत्याग्रह-नीति-काव्य' का उपसंहार करता है—

जो अत्यन्त शुद्ध अर्थात् जिसमें मन-वचन-कर्मजन्य छल-छिद्ररूप पाप

यदेहते न्याय्यपथान् विलुम्पन्, साऽनर्थमूलाऽस्ति नरस्य वृत्तिः ।
तां सत्यधर्माग्रह एव मूलादुच्छिद्य धर्म्यं सुखमातनोति ॥३४॥

१–यत्र मनसा वाचा कर्मणा पापलेशोऽपि नास्ति । २–यत्तु त्रिषु कालेषु दोषरहितं स्यात्, न तु तदात्वेऽत्यन्तशुद्धाभास्यपि सत्यं सत्यभावाय कल्पते । ३–अहिंसा, सत्यम्, अस्तेयः, ब्रह्मचर्यम्, अपरिग्रहः, एतान् यमान् स्व-शास्त्रव्याख्या-लक्षणान् तिरस्कृत्य यः पुरुषः राजा वा, सभा वा, इन्द्रियार्थैरिन्द्रियोद्भवं सुखं परिलब्धुमिच्छति, सः, सा वा सभा न्याय्यान् विलुम्पन् तान् वोपेक्षमाणो न्यायोपेतं सत्यपथं हित्वा स्वैरते, सा या प्रवृत्तिः—राज्ञः, किं वा परिषदः, किं वा मनुष्यस्य स्यात् सा अनर्थमूला अनिष्टार्थमूला प्रवृत्तिरस्तीत्यध्यवसेयम्, सा प्रवृत्तिः सर्वेषां दुःखानां प्रज्ञापराधानां च जननी सती परस्परं मनुष्यान् राष्ट्राणि, परिषदश्च विमनीकृत्य क्लेशाय कल्पते । तां सत्याग्रहः, अथवा सत्यपर्यायो धर्माग्रहो मूलादुच्छिद्य निर्मलं सर्वप्राणि-सुखावहं न्याय्यं पन्थानमातनोति ।

न हो, जो तीनों काल भूत वर्त्तमान और भविष्यत में भी निर्दोष ही प्रमाणित हो, उसको सत्य समझना चाहिये । इसी सत्य को धर्म शब्द से भी व्यवहृत किया है । जब राजा, सभा वा व्यक्ति इन्द्रियों के अर्थों को प्राप्त करके उन इन्द्रियार्थों में सुखाप्ति की इच्छा से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच यमरूपी महाव्रतों को छोड़कर स्वेच्छाचार करता है, तब वह समस्त राष्ट्र, समाज अथवा पारिवारिक वर्ग को सुख पहुंचानेवाले नियमों का उल्लंघन करता है । तब वह प्रवृत्ति चाहे राष्ट्र की हो, चाहे किसी वर्ग की हो, चाहे किसी मनुष्य की व्यक्तिगत हो, वह अनर्थमूलक अर्थात् सब दुःख, सब प्रज्ञापराध, परस्पर कलह और विद्वेष की जननी होती है । उस अनर्थकारिणी प्रवृत्ति को सत्याग्रह साधन जड़ से उखाड़कर धर्मानुसारी विश्वकल्याणकारी सुख को फैलाता है ॥

सारार्थ यह है कि—

सुख समृद्धि चाहनेवाला राष्ट्र वा समाज वा परिवार किसी के स्वत्व (=अधिकार) को अपनी मौज बहार लेने के लिये न छीने, हड़प्प न जाय । यहां तक कि पशुओं का पोषण, उनके लिये पुष्ट आहार, उनके चरने के लिये गोचर भूमि, तथा जनता-जनार्दन के हितार्थ उनका उपयोग कर उनको विश्व में जीने का संरक्षण दिया जाना चाहिये । ऐसा होने पर सब वर्ग सुखी रहते

शर्वरीणामनेकानि, व्यतियाय विनिद्रया ।
तमो भुक्त्वाऽक्षयं ज्योतिः, लिखितं काव्यमुत्तमम् ॥३५॥

कवेः कर्म कविर्वेत्ति, वाचका दोषमेव हि ।
मर्त्यः स्खलनधर्माऽस्ति, तस्माच्छिद्रं प्रपूर्यताम् ॥३६॥

शब्दजालमपाकृत्य, साधु-शब्द-विभूषितम् ।
कृतं काव्यं प्रसादाय, नहि क्लेशाय चेतसः ॥३७॥

नात्युक्तं कवि-धर्मेण, नावनीतमधर्मतः ।
यथाभावानुगैः पद्यैः, कृतं स्वान्तःप्रकाशनम् ॥३८॥

आत्मनाम पितुर्नाम, मातुर्नाम गुरोस्तथा ।
कदा कुत्र कथं चैतत्, कृतं श्लोकेषु वर्णितम् ॥३९॥

हैं, इसका नाम है 'सत्यपथानुवर्तन वा सत्याग्रह' । जब असत्य प्रवृत्तिवाले को असत्य अधर्म प्रजादुःखकारी मार्ग से हटाने के लिये तद्भिन्नों के द्वारा सत्यधर्म का आग्रह किया जाता है, तब वह आग्रह एक प्रकार से सत्याग्रह युद्ध के रूप में परिणत हो जाता है । परन्तु सत्याग्रही स्वयं उसी सकल लोक-कल्याणकारी मार्ग का अनुसरण करता है, जिसे महापुरुष यमों के नाम से व्यवहृत करते हैं ॥३३-३४॥

विना निद्रा के अनेक रात्रियां बीत गई । उसके अन्धकार को खाकर ही अक्षय ज्योतिःस्वरूप यह उत्तम काव्य लिखा गया है ॥३५॥

कवि के स्वमतपुष्ट सरस कर्म की कठिनाइयां व उसकी उपादेयता को कवि ही जानता है । वाचक तो दोष को ही देखते हैं । और मनुष्य स्वभाव से ही त्रुटियां करनेवाला होता है । अतः [हे विज्ञजनो ! मेरे इस काव्य में] जो छिद्र हों उनको पूर्ण करो ॥३६॥

शब्दों के [दुरूहता रूप] जाल को दूर करके सरल शब्दों से विभूषित इस काव्य का निर्माण स्वान्तःसुखाय=चित्त की प्रसन्नता के लिये किया है । क्लेश के लिये नहीं ॥३७॥

इस काव्य में कविधर्म को लक्ष्य में रखकर न तो अत्युक्ति की गई है, और न हीनता ही आने दी है । मैंने तो अपने जैसे भाव उठे, उनके अनुसार अपने विचारों को पद्यों के रूप में प्रस्तुत किया है, पाण्डित्य-ख्यापन नहीं ॥३८

इसमें अपना नाम, पिता का नाम, माता का नाम और गुरु का नाम

'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्त' इति फणिपतिनोच्यमानत्वात् स्वोपज्ञं नीतिशास्त्रं समाप्नुवन् पूर्णत्वात् सत्यरूपात्मकस्य ब्रह्मणः पूर्णत्वं स्तौति—

आपगानां गतिर्नित्यं, निर्झराणां स्रुतिस्तथा।
वडवाग्नेस्तृषा नित्यं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ॥४०॥

प्रसवः प्राणिनां नित्यं, मृतिर्वैषां सदा भवेत्।
दिनं नित्यं निशा नित्यं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ॥४१॥

पञ्च-भूतमयं विश्वं, षट्कं नैवात्र दृश्यते।
पूर्णत्वात् पञ्चसङ्ख्यायाः, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ॥४२॥

यद्गुणं यद्विधं यच्च, यथा धात्रा विनिर्मितम्।
तथा पूर्णं न मर्त्येन, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ॥४३॥

स्थित्युत्पत्ति-लया नित्यं, दृश्ये वस्तुनि जाग्रति।
स्थित्युत्पत्ति-लयैर्भिन्नं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ॥४४॥

कब कहां और कैसे इसका निर्माण हुआ, यह समय-समय पर श्लोकों में वर्णित किया है ॥३९॥

अन्त में मङ्गल करते हुए कवि सत्यरूपात्मक ब्रह्म की पूर्णता को व्यक्त करता है—

जैसे नदियों की गति सतत है, निर्झरों का स्रवण नित्य है, और वडवानल की तृषा नित्य है, वैसे ही पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न होता है ॥४०॥

प्राणियों का जन्म और मरण नित्य चलता है। दिन नित्य है, निशा नित्य है। और पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न होता है ॥४१॥

यह विश्व पञ्चभूत=पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से युक्त है। यहां इनके अतिरिक्त कोई छठा भूत नहीं दिखाई देता। इस पांच की संख्या का नाम 'पूर्ण' है। अतः पांच के पूर्ण होने से [कहना पड़ता है कि] पूर्ण से पूण उत्पन्न होता है ॥४२॥

जिस गुणवाला, जिस प्रकार का, जो जैसा विधाता ने निर्माण कर दिया, वैसा पूण मनुष्य नहीं बना सकता। अतः पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न होता है ॥४३॥

नान्त धातुरनन्तस्य, नित्यं ज्ञानमयो हि सः।
धमयत्यखिलं विश्व, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।।४५।।
पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ।।४६।।

इति श्री १०८ पण्डितसत्यदेववासिष्ठभिषक्केसरि-
विरचितं स्वोपज्ञानन्ताभिधवृत्ति-विराजितं
सत्याग्रहनीतिकाव्यं समाप्तम् ।।

स्थिति, उत्पत्ति और लय ये सदा दृश्य वस्तु में रहते हैं। किन्तु यह पूर्ण स्थिति, उत्पत्ति और लय से भिन्न है। इसलिये पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न होता है ।।४४।।

अनन्त विधाता का अन्त नहीं है, वह नित्य ज्ञानमय है। और वह अखिल विश्व में प्राण सञ्चार करता है। अतः पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न होता है ।।४५।।

वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न होता है। पूर्ण को ही पूर्ण लेकर पूर्ण अवशिष्ट रहता है ।।४६।।

यह मन्दसौर-निवासी श्री पं० रुद्रदेव-त्रिपाठी द्वारा
प्रस्तुत 'सत्याग्रह-नीतिकाव्य' का
राष्ट्रभाषानुवाद समाप्त हुआ ।।



कवेः सारगर्भाणि गीति-पद्यानि

नोच्चैरुत्पत रे !

[सत्यदेवो वासिष्ठः, देवसदनम्, भिवानी (हिसार)]

वियति तु नोच्चैरुत्पत पक्षिन् ! वियति तु नोच्चैरुत्पत रे !
उत्पत वृक्षाद् उत्पत स्थानाद् उत्पत वृन्ताद् उत्पत रे ! ॥१॥
कुसुमं घ्रात्वा, सुफलं लात्वा, सन्दश्याऽन्यफलं वृन्तात् ।
लुब्ध्वा मुग्ध्वा निज-चापल्याद् अपरं वृक्षं नोत्पत रे ! ॥२॥
मधुरं भुक्त्वा तुबरं त्यक्त्वा पक्वाऽपक्वं क्षिप्त्वाऽधः ।
नाऽन्तं यास्यसि विश्वे विपिने, श्रान्तं-श्रान्तं नोत्पत रे ! ॥३॥
षड्रस-महिमा षड्रस-माया नानारूपमुपेतेयम्
मोहं मोहं निजमायातो मोहयति त्वां सततं रे ! ॥४॥
शब्दं स्पर्शं रूपं गन्धं हर्षं तर्षं च प्रापम् ।
स्वल्पे वयसि तु कियदानन्त्यस्याऽन्तं यास्यसि पक्षिन् रे! ॥५॥
भ्रामं भ्रामं माया नटिनी नित्यं नृत्यति स्वैरैषा । नटी
गाय महेशं, त्यज त्वं मोहं, पश्याऽनिन्द्यं स्वं रूपम् ॥६॥
कुत आयानं क्व नु वा यानं, क्वाऽन्तं पश्यन्नुत्पतसि ?
दर्शं दर्शं नर्त्तनमस्या व्यर्थं मा नय कालं रे ! ॥७॥
सत्येनोतं प्रोतं विश्वं तं त्वं पश्य निरातंकः ।
विपुलेऽपारे विश्वे पक्षिन् ! वासिष्ठं भज निःशंकः ॥८॥
वियति तु नोच्चैरुत्पत पक्षिन् ! वियति तु नोच्चैरुत्पत रे !

——०——

सत्याग्रह-नीति-काव्ये सम्मतयः

अयि विद्वन्मणयो महाभागाः !

सम्प्रति प्रस्तूयमानं 'सत्याग्रह-नीतिकाव्यं' श्रीमता १०८ पण्डितसत्यदेववासिष्ठेन साङ्गोपवेद-वेदचतुष्टयेन आयुर्वेदाचार्येण दक्षिण-भाग्यनगरे (दक्षिण हैदर आबाद) सन् १९३९ मध्ये आर्य-समाजस्य तत्त्वावधाने विभूयमाने सत्याग्रहे श्रीमतां तपोमूर्ति-पण्डित-प्रवर-ब्रह्मदत्तजिज्ञासु-महोदयानां प्रेरणया विरजानन्दाश्रम-शाहदरा-लाहोरतः ([illegible] कारावासे यथाऽवस्थितं वर्णनमधिकृत्य यथाकथमपि सङ्कलितमदः काव्यं बहि-रागत्य पुनः पुनर्मार्जन-वह्निध्मातं सुवर्णमिव शुद्धमत्युक्ति-शून्यमात्म-वेदनीयं-पदैर्ग्रथितं नानाछन्दोविभूषितं प्रसादगुणबहुलं सुकवेर्मुखात् श्रावं श्रावं स्वविहङ्गमदृष्ट्याऽवलोक्य भूयो भूयो मे मनः प्रसीदति । तद्यथा [illegible] सत्य[illegible] [illegible]धीन-जातिवर्णानां निर्व[illegible] ।

काव्यमदः सुतरां प्रशंसार्हमस्ति । अस्यां दिशि न केनापि लेखनी प्रगृहीता । सत्याग्रहमधिकृत्य प्रथममेव [illegible] सत्यदेवो वासिष्ठ आदि-कविरस्य पथः । हैदराबाद-प्रदेशेष्वार्याणां सत्याग्रहं संपठ्य भारत-भावि-सन्तति-स्वकीयपूज्य-पूर्वज-गौरवात् स्वं मस्तकमुन्नमयिष्यतीति मे दृढनिश्चयः । वस्तुतोऽनुपमोऽदृष्टपूर्वोऽयं प्रयासः प्रसादयिष्यति पठतां सहृदयानां मानसमिति मे विचारः ।

'गीत्या हि सर्वा वशमीति लोके' सुकवेर्वासिष्ठस्य सूक्तिरियं सम्यक् चरितार्था भवत्यस्मिन् काव्ये । इदं सत्याग्रहस्येतिहासकाव्य परन्तु नीतिमधिकृत्य[illegible] काव्यम्, तत्र स्वभावादेव [illegible] विषयाणां वर्णनमुपतिष्ठते [illegible] सत्याग्रहमधिकृत्य कृते विशेष-तोऽस्य बुद्धिवैचित्र्यं कवित्वं च प्रकटमत[illegible] ।

वाचकाः ! यद्यायं सत्यदेवः सुकविस्तत्रायं सप्तलाङ्विदपि । तेनास्य मुखादेव च एकवं काव्यं तन्त्रीयोगात् श्रावं-श्रावं भूयो भूयोऽपि मधुघृतमिव मे मनः प्राह्लादिष्ट । तथा चात्र श्लोकाः—

विहगा दृष्टिमाश्रित्य मध्याद्यन्तान्तरालतः ।
श्रुतं काव्यं कवेरास्यात् हृन्मे हृष्यति सर्वतः ॥१॥
सात्यदेवमदः काव्यं, स्वयं तेनैव झङ्कृतम् ।
श्रुतं शब्दार्थ-सायुज्यं, व्यञ्जयद् हर्षदं हृदाम् ॥२॥

प्राप्त प्राप्त भावान् कविरसाक्षाद् ध्वनति वाक्योपयत्ः ।
न तान् भावान् श्रमं साक्षाद् गाहदोऽसि प्रकाशितुम् ॥३॥
अत्युक्ति-शून्यैरितिवृत्तपूर्वैः, सत्यैः पदै राजति सत्यदेवम् ।
पठन्तु काव्यं, चिरमत्र जीयात्, श्रमं प्रशंसामि समीक्ष्य चाहम् ॥४॥
परः शतेभ्यो नहि नीति काव्यं, स्वभावमासाद्य कृतं नवीनम् ।
कृतं त्वनेनात्म-पदाप्त-सिद्धैः, पदैः प्रशंसाम्यहमस्य काव्यम् ॥५॥
स्वयं सत्याग्रहं कृत्वा, यात्वा भाग्यस्य[2] बन्धने ।
तत्रैवैतत् कृतं काव्यं बहिः संशोधितं मुहुः ॥६॥

१—अन्तर्भावितणिजर्थोऽत्र, प्रकाशयितुमिति यावत् २—भाग्य-नगरस्येति भावः, हैदराबाद इति नाम्नः प्रसिद्धं स्पष्टम् ।

तपोवनम्, देहरादून, यू० पी०
८-२-५२

हस्ताक्षराणि
आनन्द स्वामी सरस्वती

——०——

— द्वित्राः शब्दाः —

अथेदं श्री सत्यदेव-वासिष्ठ-महोदय-प्रणीतं सत्याग्रहनीतिकाव्यम् अधिकृत्य किंचिदुच्यते । नूतनमिदं युगम् स्वतन्त्रं च, अतोऽत्रापि काव्ये साहित्यिकप्रसिद्धः सुगादि-शब्द-प्रयोगः शृंगार-रसोपयोगश्च नादृतः । इतिहास-ग्रन्थोऽपि नायं, यतो हि हैदराबादीय-सत्याग्रहस्य आमूलचूडं वृत्तं नात्र समुपन्यस्तम् । इदं तु सत्याग्रह-नीति काव्यम् । अत्र सत्याग्रहस्य नीतिर्वर्णिता, तादृशाः सिद्धान्ता वर्णिताः । प्रसगतो निजामराज्यस्य अत्याचारास्तत्र सत्याग्रहिणामवस्थाऽपि च समुपन्यबध्यन्त । स्वास्थ्यनियमा अपि प्रकरणतो दर्शिताः । तत्र मधुरा, प्रांजला एतेन नवशैल्या समुपनिबद्धेन काव्येन स्वस्य हितं, नव-प्रकारक-काव्यनिर्माणप्रवृत्तिश्च कवीनां जायेत । संस्कृत-संसारोऽस्मै दोषान् विहाय गुणान् गृह्णन् एतदीयं प्रचारं विधाय स्वकीयगुणग्राहकतां प्रकाशयेत् ।

इत्याशासानः—

दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वतः,

ज्येष्ठ कृष्णैकादशी
वि० सं० २००९

विद्यावागीशः, विद्याभूषणः, विद्यानिधिः,
प्रिन्सिपल-संस्कृत-हिन्दी-महाविद्यालय
—रामदल, दरीबा, देहली,

यत्किंचिदस्मिन् काव्ये वर्णितं तत्तथ्यमेवास्ति, अत्युक्ति-शून्यं च स्वयमेवानुभूतत्वात् । सत्याग्रहिण आदर्शोऽपि सम्यक् प्रदर्शितः ।

रामदेवो भिक्षुः

स्थानम्—हैदरआबाद सेण्ट्रलजेल, वार्ड नम्बर ५,
कारागारस्थ, बन्धी ५८३१ १५-८-१९३९ ई०

—०—

तथ्योक्तिरियं सुभावादिसमन्विता च श्रीकविवर-सत्यदेवस्येत्यलमति विस्तरेण ।

स्थानम्—हैदरआबाद,
सेण्ट्रल जेल,
१६-८-१९३९ ई०

रामेश्वरानन्दः
कारागारस्थः बन्धी नं. ५५०२, वा. नं. ५

—०—

स्वरैस्तालैर्वाद्यै रुचिर-रस-संगीत-कलिता,
थ-था-थै-थैं-धिङ्-धिङ्-सकलविध-सत्ताल-ललिता ।
स्वरैरश्वैः पूर्णा स-र-ग-म-प-धानीति वलिता,
कवे ! सा ते साक्षाद् भवतु सफला सत्य-कविता ॥

५-९-१९४८ ई० —यमुनादासः

—०—

सत्येन सत्याग्रहनीतिकाव्यं, देवेन बुद्धेर्विभवेन बद्धम् ।
प्रसादरम्यं हितकृत्सुवृत्तं, प्रीणाति भव्यं सुमनो मनोऽलम् ॥
वचांसि मेऽमूनि कवेः प्रशस्तेः, साहित्यसेवा-प्रणयोत्सुकस्य ।
व्रजन्तु सामस्वरभास्करस्य, काव्यान्तरागुम्फनहेतुतां च ॥
प्रशंसनीयः स कवेः प्रयासः, प्रभान्ति यस्मिन् शमबुद्धिभासः ।
सत्याग्रहे नीतिततेर्विकाशः, स्वान्ते सदा स्यादृतधीप्रकाशः ॥

सेयं सम्मतिः शुभाभिलाषिणः कविरत्नस्य मेधाव्रताचार्यस्य,
ब्रह्मर्षिदयानन्द-दिग्विजयकारस्य
दिव्यकुञ्ज, योगाश्रम, कुसूर, पो० येवला (नासिक)

—०—

विद्वत्प्रवरैः १०८ श्रीसत्यदेववासिष्ठमहोदयैर्विरचितं सत्याग्रह-नीतिकाव्यम् अभिनवे संस्कृत-साहित्ये सर्वथाभिनन्दनीयम्, सर्वैरेव संस्कृतानुरागिभिः साहित्यरसिकैः परिशीलनीयञ्च। अत्र हि सरलयैव भाषया नानाछन्दोनिबद्धानि, प्रतिपरिस्थितिवर्णनपराणि, निजानुभूतिप्रकाशकानि, अद्वितीयभावोद्भावीनि तानि तानि स्थलानि सर्वथा नवां काञ्चन वर्णनशैलीं काव्यरीतिञ्च प्रकाशयन्ति। एकत्रैव चाभ्युदयकरीं नीतिं, दार्शनिकं रहस्यं, भारतीयसंस्कृतेः समुज्ज्वलं रूपं, सत्याग्रहाय सर्वेषामेव विदुषां कर्त्तव्यं प्रतिपादयन्ति। इति निवेदयति—

विद्यावाचस्पतिः, विद्याधरः शास्त्री, एम० ए०
प्रधान संस्कृतविभाग, डूंगरकालेज, बीकानेर

——०——

सत्याग्रह-नीतिकाव्य को जहां-तहां से पढ़ गया हूं। संस्कृत-साहित्य में यह एक अनोखी और हृदयाकर्षक रचना है।

स्थाणुदत्त शास्त्री, एम्० ओ० एल०
गवर्नमेन्ट कालेज, रोहतक



श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के

शुद्ध सुन्दर प्रामाणिक प्रकाशन

१. यजुर्वेद भाष्य-विवरण (प्रथम भाग)—इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द प्रणीत यजुर्वेदभाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर ऋषिभक्त वेदमर्मज्ञ स्वर्गीय श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। मूल वेदभाष्य को ऋषि के हस्तलेखों से मिलान करके छापा गया है। विस्तृत भूमिका तथा वेदविषयक विविध टिप्पणियों से युक्त। सुन्दर मुद्रण, सुदृढ़ जिल्द। (अप्राप्य) द्वितीय भाग—पूर्ववत्। मूल्य १६—००

तृतीयभाग—पूर्ववत् (यन्त्रालयस्थ)

२. ऋग्वेद-भाष्य—ऋषि दयानन्द कृत (संस्कृत-हिन्दी) हस्तलेखों तथा विविध प्रमाणों से युक्त, पूर्वमुद्रण में हुई अशुद्धियों को दूर करके विविध टिप्पणियों के सहित शुद्ध संस्करण छापा गया है। प्रथम भाग २०—०० दूसरा भाग—यन्त्रालयस्थ।

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—लेखक महर्षि दयानन्द सरस्वती। पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा संपादित, मोटे टाइप, बड़े आकार में सुन्दर शुद्ध और सटिप्पण संस्करण। मूल्य १२—००

भूमिका पर किये गए आक्षेपों के उत्तर के लिये परिशिष्ट। मू० १-५०

४. माध्यन्दिनपदपाठः—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इसमें यजुर्वेद के मूल प्राचीन पदपाठ का अति शुद्ध पाठ दिया है। प्रारम्भ में ५२ पृष्ठों में पदपाठसम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन तथा ४ परिशिष्टों में पदपाठ मन्त्रपाठ सम्बन्धी कुछ विशिष्ट विषयों पर विचार किया गया है। सुन्दर टाइप, पक्की जिल्द। मूल्य १५—००

५. वैदिक-स्वर-मीमांसा—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। संशोधित परिवर्धित द्वितीय संस्करण। वैदिक-स्वर-विषयक सर्वश्रेष्ठ विवेचनात्मक ग्रन्थ। उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। मूल्य ५—००

६. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इसमें ऋग्वेद की ऋचाओं की शुद्ध संख्या दर्शाई है। और अनेक विद्वानों द्वारा दर्शाई अशुद्ध ऋक्संख्या की आलोचना की गई है। मूल्य १—१०

७. वेद-संज्ञा-मीमांसा—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० ०—७५

८. देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य ०—७१

९. वेद और निरुक्त—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य ०—७५

१०. निरुक्तकार और वेद में इतिहास—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य ०—७५

११. त्वाष्ट्री-सरण्यू आख्यान का वास्तविक स्वरूप—ले० पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य। मूल्य ०—७५

१२. वेद में आर्य दास युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्यमत का खण्डन—ले० पं० रामगोपाल शास्त्री वैद्य। मूल्य ०—७५

१३. संस्कारविधि—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आवृत्त, अजमेर-मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित; महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों से युक्त। मूल्य २—००, सजिल्द २—५०

१४. संस्कार-समुच्चय—लेखक पं० मदनमोहन विद्यासागर। संस्कारविधि की व्याख्या तथा परिशिष्ट में अनेक समयोपयोगी कर्मों का संग्रह। सजिल्द मूल्य १२—००

१५. वैदिक नित्यकर्म विधि—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रातः से शयनपर्यन्त समस्त नैत्यिक कर्म, पञ्चमहायज्ञ, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, और बृहद्यज्ञ के मन्त्रों के विस्तृत सरल शब्दार्थ भावार्थ सहित, प्रार्थना के मन्त्र, पद्य एवं भजनों से युक्त। मू० लागतमात्र १—२५

१६. पंचमहायज्ञविधि—ले० ऋषि दयानन्द सरस्वती। मू० ०—३५

१७. निरुक्त-शास्त्र—पं० भगवद्दत्त कृत नैरुक्त-प्रक्रियानुसारी हिन्दी-भाष्य सहित। मू० १५—००

१८. निरुक्तसमुच्चयः—आचार्य वररुचिकृत नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक मू० ५—००

१९. अष्टाध्यायी सूत्रपाठः—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा परिशोधित संस्करण। मू० १—००, साधारण जिल्द १—१५

सूत्रों के पाठान्तर, सूत्र-सूची आदि सहित विशिष्ट संस्करण ३—५०।

२०. धातुपाठः—अकारादि क्रम से धातुसूची सहित। मू० १—००

२१. संस्कृत-धातुकोष—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। अकारादि क्रम से पाणिनीय अर्थ सहित धातुओं के हिन्दी में विविध अर्थ तथा उपसर्ग योग से प्रयुज्यमान विविध अर्थ सहित। मूल्य ३—००

२२. अष्टाध्यायी-भाष्य (प्रथमावृत्ति)—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति समास अनुवृत्ति, वृत्ति उदाहरण, उदाहरण-सिद्धि सहित संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में। प्रथम भाग—१५—००, द्वितीय भाग—१२—५०, तृतीय भाग—१२—५०।

२३. संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। इस ग्रन्थ के द्वारा बिना रटे संस्कृत भाषा और पाणिनीय व्याकरण का बोध कराया गया है। प्रथम भाग ४—००

द्वितीय भाग—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग के निर्देशों के अनुसार। मू० ५—५०

२४. **महाभाष्य**—महर्षि पतञ्जलि प्रणीत, पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत हिन्दी अनुवाद और व्याख्या सहित। भाग २ (अ० १, पाद २-४ तक) मू० २०—००

२५. **काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्**—चन्नवीर कविकृत कन्नड़ टीका का पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत-रूपान्तर। मू० ६—२५

२६. **लिट् और लुङ् लकार की रूपबोधक सरलविधि**—ले० राजा गोविन्दलाल बंसीलाल। मू० १—५०

२७. **शब्दरूपावली**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ के द्वारा शब्दों के रूप बिना रटे समझ पूर्वक बड़ी सुगमता से स्मरण हो जाते हैं। मू० ०—७५

२८. **सत्यार्थ-प्रकाशः**—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आधृत, अन्य प्रकाशकों द्वारा मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित, नाना टिप्पणियो से युक्त, शुद्ध मुद्रण। मू० ५-००, सजिल्द ६-००।

२९. **अनासक्ति-योग—मोक्ष की पगदण्डी**—ले० पं० जगन्नाथ पथिक। नाम के अनुरूप योगविषयक अत्युत्तम ग्रन्थ। मू० १०—००

३०. **आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्द। दुरंगी छपाई, गुटका आकार। सजिल्द मू० १—००। अंग्रेजी अनुवाद—मू० २-७५; सजिल्द ३-७५।

३१. **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)**—लेखक पं० सत्यदेव वासिष्ठ। विष्णु-सहस्रनाम की आध्यात्मिक व्याख्या संस्कृत तथा हिन्दी में चार भागों में। प्रत्येक भाग मूल्य १२—५०

३२. **आत्मा की जीवन गाथा**—श्री कर्मनारायण कपूर। १—००

३३. **हंसगीता**—महाभारत शान्तिपर्व का एक आध्यात्मिक उत्कृष्ट प्रकरण, मूल श्लोक अनुवाद सहित। मूल्य ०—४०

३४. **वैदिक ईश्वरोपासना**—पातञ्जल योगदर्शन के अत्युपयोगी सूत्रों की ऋषि दयानन्दकृत व्याख्या। मू० ०—३०

३५. **वाल्मीकी-रामायण**—हिन्दी-अनुवाद सहित। अनुवादक तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द झरिया। बालकाण्ड मू० ३—००। अयोध्याकाण्ड मू० ५—००। अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड मू० ६—००। सुन्दर काण्ड मू० ३—५०। युद्धकाण्ड मूल्य ८—००

३६. **विदुरनीति**—युधिष्ठिर मीमांसक कृत पदार्थ तथा विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित। मूल्य ४—५०

३७. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**—ले० युधिष्ठिर मीमांसक। ग्रन्थ में आज तक के प्रमुख वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों का इतिहास दिया गया है। नवीन संस्करण, दो भाग ३५—००

३८. **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि**—ले० डा० कपिलदेव। मू० १०—००

३९. **ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित्र।** मू० ०—५०

[बड़ा सूचीपत्र, बिना मूल्य मंगवावें]

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

श्री पं० सत्यदेव-वासिष्ठकृतौ

अन्यौ महत्त्वपूर्ण-ग्रन्थौ

१—नाडीतत्त्व-दर्शनम्—अयं नाडीतत्त्वदर्शनाख्यो निबन्धः काशीपण्डितसभया सत्कृतः रावणकृतां नाड़ीपरीक्षामधिकृत्य विनिर्मितः, त्रिदोषबीजाङ्कुरः, आयुर्वेदीयविचारधारापरिसिञ्चितः, पञ्चतत्त्वाप्यायितः, वेदादिप्रमाणशाखात्मकः, शतपथादि-ब्राह्मण-ग्रन्थस्कन्धसङ्घटितः, भारतीयदर्शनसिद्धान्तपल्लवितः, सुसमीक्षित-विचाररमणीयकुसुमसौरभसुगन्धितः, शोभनार्थसमूहफलान्वितः, कल्पतरुरिवायुर्वेदाध्ययनार्थिभ्यश्चिकित्सकेभ्यः स्यादिति मत्वा सुप्रसिद्धै विद्वद्भिर्भृशं सम्मानितोऽस्ति। राष्ट्रभाषानुवादेन सहितं द्वितीयं परिवर्धितं संस्करणम्। मूल्य १०—००

२—विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्—सत्यभाष्य-समन्वितम्। विष्णुसहस्रनामस्तोत्रं तत्रभवता वेदव्यासेन कृष्णद्वैपायनेन स्वीये महाभारतेऽनुशासनपर्वण्युपनिबद्धम्। अत्र हि भगवतो विष्णोः परब्रह्मणो वेदे यानि नामान्युट्टङ्कितानि गुणकर्माणि च निर्दिष्टानि तान्यधिकृत्य सहस्रनामान्युपनिबद्धानि। वेदमूलकत्त्वादेतेषां वेदपदानीवेमानि श्लेषेण परब्रह्माभिदधन्ति ब्रह्माण्डस्यास्य विष्णुपर्यायं सूर्यमप्यभिदधति। पौराणिकास्तु वास्तविकं तत्त्वमजानन्तो विष्णोरवताररूपेणाभिमतानां रामादीनां नामानीतिमन्वाना वैदिकं तत्त्वं लोपयन्तोऽन्यथास्य व्याख्यानं कुर्वन्ति। पण्डितप्रवरेण सत्यदेववासिष्ठेन विष्णुसहस्रनाम्नां वास्तविकं तत्त्वं वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणैः स्वीयभाष्ये विस्तरेण व्याख्यातम्। अत एवास्य सत्यभाष्यम्। (श्लेषेण सत्येन=सत्यदेवेनकृतं भाष्यम्) इत्यन्वर्थंनाम व्यधायि। इदं महाभाष्यं हिन्दीभाषानुवादेन सहितं चतुर्षु भागेषु प्रकाशितम्।

मूल्यम्—प्रतिभागम्—१२-५०

प्राप्तिस्थानम्—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सो